प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
दिल्ली

प्रथम संस्करण, १९५३
द्वितीया वृत्ति, १९५४
तृतीय संवर्द्धित संस्करण, १९५४
चतुर्थ आवृत्ति, १९५६
पंचम संवर्द्धित संस्करण, १९६१

मूल्य
पुस्तकालय संस्करण पाँच रुपये
विद्यार्थी सस्करण चार रुपये

मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स,
क्वीन्स रोड, दिल्ली

सूची

भारत की भाषाएँ तथा हिन्दी

इस विश्व मे उपभाषाओं अथवा बोलियों को छोड़कर लगभग दो सहस्र भाषाएँ बोली जाती हैं। जो भाषाएँ इनमे प्रसिद्ध अथवा प्रधान हैं उनके अध्ययन पर विद्वानो की विशेष दृष्टि पड़ी है। पर अब भी कुछ भाषाएँ ऐसी है जिनका नाम-मात्र ही अध्ययन हुआ है। इनमे अमरीका, अफ्रीका तथा प्रशान्त महासागर के दुर्गम प्रदेशों एवं द्वीपो की भाषाएँ मुख्य हैं। यद्यपि इस संसार की सभी वस्तुएँ ससरणशील है, पर भाषाओ मे परिवर्तन विशेष रूप से परिलक्षित होता है। काल के कुचक्र मे पड़कर प्राचीन काल की अनेक भापाएँ अपना अस्तित्व खो बैठी हैं। कुछ का तो केवल 'साहित्य' में हम नाम-मात्र ही पाते है। जो भाषाएँ समृद्ध होती हैं वे अपने प्रहार से साधारण भाषाओ को नष्ट कर देती हैं। अत' आजकल भी 'सस्कृत-भाषाओं' के संपर्क एव वैज्ञानिक अध्ययन के अभाव के कारण अनेक बोलचाल की भाषाएँ विनाश के मार्ग मे अग्रसर हो रही हैं।

भाषाओं की विभिन्नता मे एकता को ढूँढकर ही भाषाविदों ने उनका पारिवारिक वर्गीकरण किया है। जिन भाषाओ में परस्पर सम्बन्ध है, अर्थात् जिनके विकास-क्रम के मूल में एक ऐसी भाषा विद्यमान होती है जिससे ये सब भाषाएँ विकसित होती हैं, उन्हे एक परिवार के अन्तर्गत रखा गया है। इस नियम के अनुसार संस्कृत, अवेस्ता की भाषा, आर्मनीय, प्राचीन फ़ारसी, प्राचीन स्लाविक, प्राचीन ग्रीक, लैटिन, प्राचीन जर्मेनिक आदि भाषाएँ एक विशेप वर्ग के अन्दर आती है और इसकी सज्ञा 'भारतीय' अथवा 'भारत-यूरोपीय' या 'इन्दो-यूरोपीय' है।

कठोर काल के प्रहार से सम्बन्वित भापाओ के लुप्त हो जाने के कारण इस युग में कई प्राचीन तथा आधुनिक भापाओ का वर्गीकरण कठिन-साध्य ही है। इनमे मेसोपोतामिया की प्राचीन भापा 'सुमेरी', ईरान की 'एलामीय', इटली की प्राचीन भापा, फ्रान्स तथा स्पेन की 'वास्क' भाषा एवं अफ्रीका की 'बुशमैन' आदि मुख्य हैं। इनका वर्गीकरण अभी नहीं हो

पाया है। शेष भाषाओं को अध्ययन के पश्चात् भाषा-विज्ञान के आचार्यो ने निम्नलिखित वर्गों मे बाँटा है—

१. भारोपीय अथवा भारत-यूरोपीय, २. आस्ट्रिक या निषादवर्ग, ३. तिब्बती-चीनी या भोट-चीनी, ४. द्रविड, ५. सामी-हामी अथवा सेमेटिक-हेमेटिक वर्ग, ६. फ़िन्नो-उग्रीय वर्ग, ७. बाराट् वर्ग, ८. तुर्क-मंगोल-मञ्चू वर्ग ९. काकेशीय वर्ग, १०. उत्तरी-पूर्वी सीमान्त की भाषाएँ, ११. एस्किमो वर्ग, और १२. अमरीका के आदिवासियो की भाषाएँ।

इनमे से प्रथम चार परिवारो की भाषाएँ मोटे तौर पर भारत में व्यवहृत होती है। अत इन पर आगे विचार किया जाएगा। शेष का नीचे परिचय दिया जाता है।

सामी-हामी अथवा सेमेटिक-हेमेटिक वर्ग—इस वर्ग के अन्तर्गत 'सामी' तथा 'हामी' दो प्रधान शाखाएँ आती हैं। कुछ भाषाविद् इनको स्वतन्त्र परिवार की भाषाएँ मानते है। इस वर्ग का नामकरण सैम तथा हैम नामक पूर्व-पुरुषों के नामो पर हुआ है। सामी भाषा के अन्तर्गत 'असीरीय', 'आक्कदीय' अथवा 'बाबिलोनीय' जैसी प्राचीन भाषाएँ एवं 'कनानीय', 'फिनीशिय','अरामीय' तथा बाइबिल के 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' की मूल भाषा हिब्रू आदि आती हैं। अरबी तथा अबीसीनिया की बोलचाल की भाषाएँ इसी वर्ग के अन्तर्गत है।

'हामी' शाखा के अन्तर्गत प्राचीन मिस्र की भाषा आती है। इसी से उत्पन्न होकर काप्टिक भाषा भी लुप्त हो गई। इसका शब्द-समूह 'ग्रीक' से अत्यधिक प्रभावित है। इसकी उपशाखाओ मे 'बर्बर', 'कुशीय' तथा 'एथियोपीय' आदि भाषाएँ आती है। कुशीय उपशाखा की 'सोमाली' भाषा व्यापारियों के बड़े महत्व की है।

फिन्नो-उग्रीय वर्ग— इस परिवार मे फिनलैंड की फिन्नीय तथा हंगरी की 'हगेरीय' अथया 'मग्यार' आदि भाषाएँ आती हैं। इसके अन्तर्गत फिनलैंड से लेकर उत्तरी रूस तथा श्वेत सागर तक की भाषाएँ है। इन पर जर्मन का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है।

बाराटू वर्ग—'बा-राटू' का अर्थ होता है 'मनुष्यो'। इस वर्ग की भाषाएँ दक्षिण और मध्य अफ्रीका मे नेटाल और पाँच अंश देशान्तर के बीच बोली जाती हैं। इसके अन्तर्गत डेढ सौ विभाषाओ की गणना है जो आपस मे बहुत कम अन्तर रखती हैं। जजीबार की स्वाहिली इस परिवार की सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा है। इसकी शिक्षा स्कूलो मे दी जाती है और इसमे थोड़ा साहित्य भी उपलब्ध है। तुर्की की भाँति इसके लिखने मे अब रोमन लिपि व्यवहृत होने लगी है। सरकार भी 'गडा', 'बेम्बा' एवं 'जुलू' आदि विभाषाओं के प्रचार मे सतत सजग है और इसने बाराटू के ग्रामगीतों आदि के कई सग्रह भी प्रकाशित किये है, जो जन-इतिहास के सम्बन्ध मे अपना अपूर्व महत्त्व रखते हैं।

तुर्क-मंगोल-मञ्चू वर्ग—यह वर्ग तीन विभागो मे विभाजित है—तुर्क-तातार, मगोल एवं मञ्चू। अनेक भाषा-तत्त्वविद् इन्हे तीन स्वतन्त्र परिवार मानते हैं। प्रथम विभाग के अन्तर्गत तुर्की, तातारी, किरगिज एवं उज्बेग आदि भाषाएँ आती हैं। पहले तुर्की भाषाओ मे अरबी-फारसी शब्दो का प्रचुर मात्रा में व्यवहार होता था, पर राष्ट्रीय नेता कमालपाशा के समय से भाषा मे से ये निकाल फेंके गए। अरबी लिपि का स्थान रोमन लिपि ने ग्रहण कर लिया और विदेशी अरबी-फारसी शब्दो का स्थान तुर्की शब्दो ने ले लिया है। तुर्की लोगों का राष्ट्रीय प्रेम बड़ा ही प्रबल है। भाषा के क्षेत्र मे वह अपना सानी नही रखता। सेमेटिक भाषा अरबी, जो तुर्की के लिए एक विदेशी भाषा है, पूर्णरूपेण परित्यक्त है; यहाँ तक कि नमाज भी अरबी मे नही पढी जाती और इसके लिए तुर्की का ही व्यवहार होता है। यही कारण है कि तुर्की देखते-देखते ही आगे बढ़ गया।

मगोल शाखा की भाषाएँ मंगोलिया तथा एशिया से बाहर यूरोप-स्थित रूस तक मे भी बोली जाती हैं। मञ्चू के अन्तर्गत मञ्चूरिया की भाषा, ओखोतस्क तथा जापान तक के भू-प्रदेश के तुगज लोगों की 'तुगज' भाषा इत्यादि आती है। इन भाषाओ मे साहित्य नही मिलता।

काकेशीय वर्ग—इस परिवार का क्षेत्र कृष्ण सागर से लेकर कैस्पियन

सागर के वीच की कॉकेशस पर्वत-शृंखला तक फैला हुआ है। यहाँ की विभाषाओ मे विविधता का उचित समावेश है। प्राचीन काल से आक्रमण-कारियों के डर से भागकर अनेक जातियों ने इस क्षेत्र में शरण ली है। अतः इन वाहरी प्रभावों के कारण इन भाषाओ की पद-रचना में दुरूहता आ गई है। जार्जीय इस वर्ग की प्रमुख भाषा है।

उत्तरी-पूर्वी सीमान्त की भाषाएँ—ये भाषाएँ एशिया के उत्तरी-पूर्वी सीमान्त मे बोली जाती है। 'चुक्ची' इस वर्ग की प्रमुख भाषा है।

एस्किमो वर्ग—इस वर्ग की भाषाएँ ग्रीनलेंड तथा एलूशियन द्वीप-समूह तक के प्रदेश में व्यवहृत होती हैं।

अमरीका के आदिवासियों की भाषाएँ—अमरीका मे आदिवासी अव नाम-मात्र को ही शेष रह गए हैं। अतः उनकी भापा भी अब ध्वसप्राय ही है। इन भाषाओं का स्थान अंग्रेजी, फ्रेंच तथा स्पेनीय भाषा ने ले लिया है। जहाँ ये आदिवासी वच गए हैं वहाँ अपनी ही भाषा का व्यवहार करते हैं। इन भापाओं का आठ वर्गो मे वर्गीकरण किया गया है, जिनमे 'आलगकियन' तथा 'पिमन' आदि मुख्य है।

जहाँ तक भारतवर्ष मे बोली जाने वाली भापाओं का सम्बन्ध है, क्षेत्र-फल की दृष्टि से भारतवर्ष एक राष्ट्र ही नही अपितु महाराष्ट्र अथवा महा-द्वीप है। इसमे विभिन्न जातियो की सस्कृति तथा सभ्यता का सगम हुआ है। इस संगम के परिणामस्वरूप आज का भारतीय समाज है। सस्कृति तथा भापा मे भी पर्याप्त सम्वन्व है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत मे सास्कृतिक समन्वय के साथ-साथ भापा के समन्वय का कार्य भी चलता रहा है, यही कारण है कि सस्कृत मे भी निपाद, द्रविड़ आदि भापाओ एव वोलियो के शव्द जा मिले हैं। आर्य तथा अनार्य सस्कृति के इस सम-न्वय ने ही हमारी जाति को जीवित रखा है और इसी के प्रताप से स्वत-न्त्रता के इस युग मे हम गर्व से अपना सिर ऊँचा करके यह घोषणा कर रहे हैं कि हम एक राष्ट्र है तथा विश्व की कोई भी शक्ति हमे छिन्न-भिन्न नहीं कर सकती।

विशेषतया आज भारत में उपर्युक्त चार भाषा-परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। ये हैं—१. आस्ट्रिक या निषाद, २. द्रविड, ३. तिब्बती-चीनी या भोट-चीनी, और ४. भारोपीय। इनमे भारोपीय अथवा आर्य परिवार की भाषाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये पूर्वी पजाव से लेकर बगाल तथा गुजरात से लेकर नेपाल तक बोली जाती है। राष्ट्रभाषा हिन्दी इसी के अन्तर्गत आती है। इसके सम्बन्ध मे विशेष रूप से विचार वाछनीय है जो आगे किया गया है।

१. सर्वप्रथम यहाँ **आस्ट्रिक या निषाद** परिवार के सम्बन्ध मे विचार किया जाता है। इसके बोलने वालो की संख्या भारत की समस्त जनसंख्या का १ ३ प्रतिशत है। इस परिवार की भाषाओ को निम्नलिखित तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

(क) **कोल या मुण्डा**—सन्थाली भाषा इसी के अन्तर्गत आती है। इसके बोलने वालों की सख्या पच्चीस लाख से अधिक है। आदिकाल से सन्थाल लोग विहार के निवासी है। ये काले रग के तथा कद मे नाटे होते हैं।

सन्थाली से ही सम्बन्धित मुण्डारी, हो भूमिज, खड़िया आदि भाषाएँ विहार के कोल भाषा-भाषियो द्वारा बोली जाती है।

(ख) **खसी**—यह असम राज्य के खसिया पहाड़ की बोली है। इसके बोलने वालो की सख्या दो लाख चौतीस हजार के लगभग है।

(ग) **निकोबारी**—यह निकोवार द्वीप मे बोली जाती है। इसके बोलने वालों की सख्या दस हजार के लगभग है।

निषाद परिवार की ऊपर की बोलियो मे लिखित साहित्य का अभाव है। १९वी शताब्दी के आरम्भ मे यूरोप के ईसाई धर्म-प्रचारको के प्रयत्न से इन भाषाओं आ अध्ययन प्रारम्भ हुआ तथा इनमे बाइबल का अनुवाद हुआ। मिशनरियो ने इन भाषाओ में प्रचलित मौखिक साहित्य का सकलन प्रकाशित करके सर्वप्रथम शिक्षित लोगो का ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया।

सस्कृत से प्रभावित है।

दक्षिण की इन चारो भाषाओं मे एक तमिल ही ऐसी है जो मूल द्रविड भाषा की प्रकृति—उसके धातु तथा शब्द आदि—को सुरक्षित रखे हुए है और सस्कृत के एक शब्द के बिना भी इसमे वाक्य-रचना की जा सकती है। किन्तु तमिल पर भी सस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है। दक्षिण की ये चारों भाषाएँ आवश्यकतानुसार सस्कृत-शब्दो का व्यवहार करती हैं तथा आधुनिक भाव के संस्कृत शब्दो को ये ज्यो-के-त्यो अथवा किंचित् परिवर्तन के साथ ले लेती हैं। उत्तर भारत की आर्य भाषाएँ तथा दक्षिण की चार द्रविड़ भाषाएँ यद्यपि विभिन्न परिवारो की है तथापि संस्कृत के प्रयोग के कारण इनमे पर्याप्त सम्बन्ध-सूत्र है और इसी कारण उत्तर-भारत के हिन्दी, बँगला, गुजराती तथा मराठी भाषा-भाषी साहित्यिक तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम् को बहुत-कुछ समझ सकते है।

३. तिब्बत-चीनी या भोट-चीनी परिवार—इस परिवार के भाषा-भाषी वस्तुतः मगोल जाति के थे। मगोल जाति की आदि निवास-भूमि उत्तर-पश्चिम चीन मे थी। इनकी एक शाखा उत्तरी चीन मे बस गई। इसने ह्वाग हो नदी के तट पर ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व चीनी सभ्यता की नीवँ डाली। ईसा की प्रथम शताब्दी मे, बौद्ध धर्म के माध्यम से जब भारत तथा चीन का सम्पर्क स्थापित हुआ तो पारस्परिक सास्कृतिक सम्बन्ध के कारण चीनी सभ्यता और परिपुष्ट हुई।

भोट-चीनी जाति की दूसरी दै या थाई शाखा स्याम देश मे तथा तीसरी म्रन-मा या ब्यम्मा शाखा बर्मा मे जा बसी। चीन की भाँति ही इन दोनों शाखाओ पर बौद्ध धर्म द्वारा भारतीय सस्कृति तथा सभ्यता का पूर्ण प्रभाव पडा। इस भोट-चीनी जाति की बोद या भोट शाखा ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व तिब्बत मे जा पहुंची तथा इनकी अन्य उपजातियाँ असम, उत्तरी-पूर्वी बगाल तथा नेपाल मे जा बसी। इन प्रान्तो की हिन्दू सभ्यता तथा सस्कृति पर मगोल जाति का विशेष प्रभाव पडा। नेपाल की नेवारी जाति ने बौद्ध धर्म के प्रभाव तथा बगाल और बिहार के साहचर्य से आज

से एक सहस्र वर्ष पूर्व उच्च सभ्यता ग्रहण की। इसी प्रकार मणिपुर की मेइ-तेइ या मणिपुरी जाति भी, पिछले दो-ढाई सौ वर्षो से बगाल के गाड़ीय वैष्णव धर्म के प्रभाव से सुसस्कृत होकर कला तथा साहित्य के क्षेत्र मे अग्रसर हो रही है। इनकी अन्य उपजातियाँ गारो, लुशेई तथा नागा हैं। भारत मे भोट-चीनी भाषा-भाषी चालीस लाख है। इस प्रकार भारत की कुल जनसख्या के ये ८५ प्रतिशत हैं।

(४) **भारोपीय अथवा आर्यभाषा-परिवार**—भारोपीय शब्द वस्तुतः भारत-यूरोपीय का सक्षिप्त रूप है। इस परिवार की भाषाएँ उत्तर-भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान तथा सम्पूर्ण यूरोप मे बोली जाती है। संस्कृत, पालि, अवेस्ता की भाषा, पुरानी फारसी, ग्रीक एव लैटिन आदि भाषाएँ इसी परिवार की थी। आजकल इस कुल मे अग्रेजी, फ्रासीसी, जर्मन, अर्वाचीन फारसी, पश्तो, सिन्धी, पजाबी, हिन्दी, मराठी, गुजराती विहारी, बँगला, उड़िया तथा असमिया आदि भाषाएँ है।

विद्वानो की यह राय है कि इस परिवार की भाषा के बोलने वाले 'विरास' अथवा आर्य लोग, ईसा से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व यूराल पर्वत के दक्षिण, रूस की समतल भूमि मे रहते थे। पर भारोपीय-भाषा-भाषियो के आदिम स्थान के सम्बन्ध में सब विद्वान उपर्युक्त राय से सहमत नही है और इस विषय मे उनमे पर्याप्त मतभेद है। फिर भी भाषाओ के अध्ययन के पश्चात् यह अनुमान लगाया ही गया है कि यह स्थान कही यूरोप मे ही था। इसी स्थान के रहने वाले मूल भारोपीय भाषा के बोलने वाले थे और यही यूरोप तथा भारत की अनेक प्राचीन एव अर्वाचीन आर्य-भाषाओ की जननी थी। इसकी विभिन्न शाखाएं पश्चिम, दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व की ओर फैल गईं। ईसा से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व उत्तरी मेसोपोतामिया मे सर्वप्रथम आर्यों का पता चलता है। काशी नामक इनके एक दल ने ईसा से १७४४ वर्ष पूर्व बाबिलन नगर पर अधिकार करके वहाँ राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। मितान्नी तथा हारारि नाम के इनके दो अन्य दलो ने इधर स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। आगे चलकर इनकी कुछ

निषाद-भाषा-भाषी अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अपने पड़ोस की एक-न-एक आर्य-भाषा—बिहारी, बँगला या उड़िया अवश्य जानते हैं। आर्य-भाषा-भाषियों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है।

२. द्रविड़ परिवार—इस परिवार की भाषाओ के बोलनेवाले आजकल दक्षिण भारत मे निवास करते है। विद्वानो का मत है कि आर्यों के आगमन से पूर्व ये लोग सिन्ध तथा पजाब तक के भू-भाग मे फैले हुए थे तथा मोहन-जोदडो, एव हडप्पा की सभ्यताओं के यही जनक थे। इस समय भारत के लगभग सात करोड दस लाख व्यक्ति विभिन्न द्रविड भाषाओं का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार भारतीय जनसख्या के बीस प्रतिशत व्यक्ति द्रविड़-भाषा-भाषी है। इन भाषाओं मे चार ऐसी भाषाएँ है जिनमें प्राचीन काल से ही लिखित साहित्य उपलब्ध है। ये है—(क) तेलुगु या आन्ध्र (दो करोड साठ लाख), (ख) कन्नड़ (एक करोड़ दस लाख), (ग) तमिल या द्रमिड़ या द्रविड़ (भारत मे दो करोड तथा सिंहल मे बीस लाख), (घ) मलयालम् या केरल—इसके अन्तर्गत लाक्षाद्वीपीय भाषा भी आती है (नब्बे लाख से ऊपर)।

इन साहित्य-सम्पन्न द्रविड़ भाषाओ के अतिरिक्त आदिम उपजातियो मे प्रचलित कतिपय अन्य द्रविड भाषाएँ भी दक्षिण मे प्रचलित है; यथा तुलू (एक लाख बावन हजार), कोडगू या कुर्ग प्रदेश की भाषा (अड़ता-लीस हजार), तोदा (केवल छै सौ), गोंड भाषा (दस लाख छियासी हजार से अधिक, मद्रास प्रदेश तथा हैदराबाद मे), कन्ध या कुई (पाँच लाख छियासी हजार, उडीसा मे), कुड़ख़ू या अरांव (दस लाख अड़तीस हजार, बिहार, उड़ीसा और असम प्रदेश मे) तथा माल्तो (इकहत्तर हजार, राजमहल की पहाडियो मे)। इन समस्त साहित्य-विहीन द्रविड भाषा-भाषियों को अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त एक-न-एक पड़ोस की सस्कृति-सम्पन्न भाषा अवश्य सीखनी पड़ती है।

साहित्य-सम्पन्न द्रविड भाषाओं में तमिल का स्थान ऊँचा है। इसमें ईसा के बाद की दूसरी-तीसरी शताब्दी के काव्य-ग्रन्थ विद्यमान हैं। यह

साहित्य 'चङ्कम-साहित्य' अर्थात् सघ या प्राचीन तमिल साहित्य-संघ द्वारा अनुमोदित साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। इन काव्य-ग्रन्थो से प्राचीन तमिल-संस्कृति का सुन्दर परिचय मिलता है। परवर्ती तमिल मे वैष्णव आलवार भक्तो द्वारा पदों की रचना हुई है, जिनका भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन के इतिहास मे गौरवपूर्ण स्थान है। प्राचीन तमिल को 'चेन् तमिफ़' तथा तेरहवी शताब्दी के बाद की तमिल को 'कोडुन्-दमिफ़' या आधुनिक तमिल कहते है। प्राचीनता, विचित्रता तथा महत्त्व की दृष्टि से तमिल-साहित्य का संस्कृत के बाद ही स्थान है। भाषा की दृष्टि से भी प्राचीन तमिल एक विशेष प्रौढ़ एवं स्वतन्त्र भाषा है। यह सस्कृत के प्रभाव से बहुत-कुछ मुक्त है।

कन्नड़-साहित्य प्राचीनता में प्राय: तमिल के ही समकक्ष है। इसमे ईसा की सातवी शताब्दी के शिलालेख उपलब्ध हैं। प्राचीन कन्नड़ भाषा ('पले-कन्नड़' या 'हले-कन्नड़') ही वस्तुत आधुनिक कन्नड ('पोस्-कन्नड़' या 'होस्-गन्नड़') मे परिवर्तित हो गई है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही कन्नड पर संस्कृत भाषा का प्रभाव पड़ा है।

तेलुगु-साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ नन्नय भट्ट का महाभारत है। इसका रचना-काल १००० ई० है। इसके पूर्व भी अवश्य ही तेलुगु मे साहित्य-रचना हुई होगी। अत्यन्त प्राचीन काल से ही तेलुगु पर सस्कृत का प्रभाव यथेष्ट मात्रा मे दृष्टिगोचर होता है। किन्तु कभी-कभी तेलुगु पण्डितो ने 'अच्च तेलुगु' (ठेठ या संस्कृतविहीन तेलुगु) मे रचना करने का प्रयास किया है। प्राचीन तेलुगु तथा आधुनिक काल मे प्रचलित तेलुगु, इन दोनो का ही आधुनिक साहित्य-रचना मे व्यवहार होता है। इनमे से आधुनिक युग के लिए कौन उपयोगी है, इस सम्बन्ध मे तेलुगु-लेखको मे मतभेद है।

मलयालम् की उत्पत्ति प्राचीन तमिल से ही हुई है। इसे तमिल की छोटी बहन कहा जाता है। पन्द्रहवी शताब्दी मे इसमें स्वतन्त्र साहित्य-रचना का प्रारम्भ हुआ। सापेक्षिक दृष्टि से मलयालम् कन्नड़ से भी अधिक

सस्कृत से प्रभावित है।

दक्षिण की इन चारो भाषाओं में एक तमिल ही ऐसी है जो मूल द्रविड़ भाषा की प्रकृति—उसके धातु तथा शब्द आदि—को सुरक्षित रखे हुए है और सस्कृत के एक शब्द के विना भी इसमे वाक्य-रचना की जा सकती है। किन्तु तमिल पर भी सस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है। दक्षिण की ये चारो भाषाएँ आवश्यकतानुसार सस्कृत-शब्दो का व्यवहार करती हैं तथा आधुनिक भाव के संस्कृत शब्दो को ये ज्यो-के-त्यो अथवा किंचित् परिवर्तन के साथ ले लेती है। उत्तर भारत की आर्य भाषाएँ तथा दक्षिण की चार द्रविड भाषाएँ यद्यपि विभिन्न परिवारो की है तथापि संस्कृत के प्रयोग के कारण इनमे पर्याप्त सम्वन्ध-सूत्र है और इसी कारण उत्तर-भारत के हिन्दी, बँगला, गुजराती तथा मराठी भाषा-भाषी साहित्यिक तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम् को वहुत-कुछ समझ सकते है।

३. तिब्बत-चीनी या भोट-चीनी परिवार—इस परिवार के भाषा-भाषी वस्तुतः मगोल जाति के थे। मगोल जाति की आदि निवास-भूमि उत्तर-पश्चिम चीन मे थी। इनकी एक शाखा उत्तरी चीन मे वस गई। इसने ह्वाग हो नदी के तट पर ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व चीनी सभ्यता की नीवँ डाली। ईसा की प्रथम शताब्दी मे, वौद्ध धर्म के माध्यम से जव भारत तथा चीन का सम्पर्क स्थापित हुआ तो पारस्परिक सास्कृतिक सम्वन्ध के कारण चीनी सभ्यता और परिपुष्ट हुई।

भोट-चीनी जाति की दूसरी दै या थाई शाखा स्याम देश मे तथा तीसरी ब्रन-मा या ब्यम्मा शाखा वर्मा मे जा बसी। चीन की भाँति ही इन दोनो शाखाओ पर वौद्ध धर्म द्वारा भारतीय सस्कृति तथा सभ्यता का पूर्ण प्रभाव पडा। इस भोट-चीनी जाति की वोद या भोट शाखा ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व तिब्बत मे जा पहुंची तथा इनकी अन्य उपजातियाँ असम, उत्तरी-पूर्वी वगाल तथा नेपाल मे जा वसी। इन प्रान्तों की हिन्दू सभ्यता तथा सस्कृति पर मगोल जाति का विशेष प्रभाव पडा। नेपाल की नेवारी जाति ने वौद्ध धर्म के प्रभाव तथा वंगाल और विहार के साहचर्य से आज

से एक सहस्र वर्ष पूर्व उच्च सभ्यता ग्रहण की। इसी प्रकार मणिपुर की मेइ-तेइ या मणिपुरी जाति भी, पिछले दो-ढाई सौ वर्षो से बगाल के गाड़ीय वैष्णव धर्म के प्रभाव से सुसस्कृत होकर कला तथा साहित्य के क्षेत्र में अग्रसर हो रही है। इनकी अन्य उपजातियाँ गारो, लुशेई तथा नागा हैं। भारत मे भोट-चीनी भाषा-भाषी चालीस लाख हैं। इस प्रकार भारत की कुल जनसख्या के ये ८५ प्रतिशत हैं।

(४) **भारोपीय अथवा आर्यभाषा-परिवार**—भारोपीय शब्द वस्तुत: भारत-यूरोपीय का सक्षिप्त रूप है। इस परिवार की भाषाएँ उत्तर-भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान तथा सम्पूर्ण यूरोप मे बोली जाती है। संस्कृत, पालि, अवेस्ता की भाषा, पुरानी फारसी, ग्रीक एव लैटिन आदि भाषाएँ इसी परिवार की थी। आजकल इस कुल मे अग्रेजी, फ्रासीसी, जर्मन, अर्वाचीन फारसी, पश्तो, सिन्धी, पजाबी, हिन्दी, मराठी, गुजराती विहारी, बँगला, उडिया तथा असमिया आदि भाषाएँ हैं।

विद्वानो की यह राय है कि इस परिवार की भाषा के बोलने वाले 'विरास' अथवा आर्य लोग, ईसा से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व यूराल पर्वत के दक्षिण, रूस की समतल भूमि मे रहते थे। पर भारोपीय-भाषा-भाषियो के आदिम स्थान के सम्बन्ध मे सब विद्वान उपर्युक्त राय से सहमत नही है और इस विषय मे उनमे पर्याप्त मतभेद है। फिर भी भाषाओ के अध्ययन के पश्चात् यह अनुमान लगाया ही गया है कि यह स्थान कही यूरोप मे ही था। इसी स्थान के रहने वाले मूल भारोपीय भाषा के बोलने वाले थे और यही यूरोप तथा भारत की अनेक प्राचीन एव अर्वाचीन आर्य-भापाओ की जननी थी। इसकी विभिन्न शाखाएँ पश्चिम, दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व की ओर फैल गईं। ईसा से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व उत्तरी मेसोपोतामिया मे सर्वप्रथम आर्यो का पता चलता है। काशी नामक इनके एक दल ने ईसा से १७४४ वर्ष पूर्व वाविलन नगर पर अधिकार करके वहाँ राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। मितान्नी तथा हाररि नाम के इनके दो अन्य दलो ने इधर स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। आगे चलकर इनकी कुछ

उपजातियों ने पहले ईरान तथा वहाँ से भारत में प्रवेश किया, जिनसे भारत-ईरानी अथवा आर्यवर्ग की भाषा एव भारतीय-आर्य भाषाएँ विकसित हुईं। इनका विस्तृत परिचय आगे दिया जाएगा।

यद्यपि मूल भारोपीय भाषा के नमूने काल-कवलित हो चुके हैं, फिर भी विद्वानो ने इस विषय मे कल्पना का आश्रय लिया है। इस परिवार के अन्तर्गत निम्नाकित दस भाषाएँ आती हैं—

१. केल्तिक, २. इतालिक, ३. जर्मनिक अथवा ट्यूटनिक, ४. ग्रीक, ५. वातोस्लाविक, ६. आल्वनीय, ७. आर्मेनीय, ८. खत्ती अथवा हत्ती या हित्ती, ९. तुखारीय और १०. भारत-ईरानी अथवा आर्य।

इनमे से खत्ती तथा तुखारीय भाषाएँ लुप्त हो चुकी हैं। शेष आठ अद्यावधि विद्यमान हैं। इनके परिचय के पूर्व हमे मूल भारोपीय भाषा की विशेषताओ के सम्वन्ध मे कुछ जान लेना आवश्यक है। भारोपीय की मूल स्वर-ध्वनियाँ अपने पूर्व रूप मे 'ग्रीक' तथा 'लैटिन' भाषाओं मे आर्यवर्ग की अपेक्षा सुरक्षित है; यथा मूलभाषा (काल्पनिक)-एस्ति—स० अस्ति, ग्री० एस्ति, लै० एस्त; गॉथिक इस्त, अग्रे० इज्। कई स्वर-ध्वनियाँ तो उत्तरकालीन भाषाओ मे सुरक्षित न रह सकी और उनमे परिवर्तन होते गए।

मूल भारोपीय भाषा मे तीन प्रकार की कण्ठ-व्यजन-ध्वनियाँ विद्यमान थी। आगे चलकर इनमे परिवर्तन हुए, जिससे इस परिवार की भाषाएँ दो वर्गो मे बँट गई, जिनका नाम 'केराटुम' एव 'शतम्' वर्ग है। जहाँ भारोपीय-पुरः कण्ठ्य-स्पर्श व्यजन-ध्वनि 'क्' का 'ग्रीक', 'लैटिन', 'कैल्तिक', 'हत्ती' तथा 'तुखारीय' शाखाओ मे पश्चात्-कण्ठ्य 'क्' आदि ध्वनियो के साथ एकाकार हो गया है, उस वर्ग को 'केण्टुम्' की सज्ञा प्रदान की गई है। किन्तु जहाँ वह ध्वनि भारत-ईरानी, 'वाल्तोस्लाविक', 'आल्वनीय' एव 'आर्मेनीय' शाखाओ मे 'स्' अथवा 'श' मे परिणत हो गई है वहाँ उस वर्ग को 'सतेम्' अथवा 'शतम्' वर्ग कहते है। भारोपीय भाषा के 'शत' वाचक शब्द का 'लैटिन' एव 'अवेस्तीय' (अवेस्ता की भाषा का) प्रतिरूप ग्रहण

करके ही इन दोनो वर्गों का नामकरण किया गया है। मूल भारोपीय भाषा के काल्पनिक शब्द kmt'om ('शत') शब्द का दोनों वर्गों में निम्नलिखित रूप हो गया है—

('कतम्' अथवा 'केण्टुम' वर्ग) ग्री० 'हेकटोन', लैटिन 'केण्टुम', गॉथिक 'खुन्द', अंग्रेजी 'हुण्ड एव हण्ड्रेड', वेल्श 'कन्त', आयरिश 'केद', तुखारीय 'कत्'।

('सतेम्' अथवा 'शतम्' वर्ग) सं० 'शतम्', अवेस्तीय 'सतेम्', प्राचीन फारसी 'सत्', लिथुआनीय 'शिम्तास्', स्लाविक 'सुतो'। इस वर्ग की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि भारत-ईरानी शाखा ने अन्य भारोपीय ध्वनियों को अधिक पूर्ण रूप में सुरक्षित रखा। भारोपीय का व्याकरण अत्यन्त जटिल था।

शब्द एवं धातु-रूपो के अनेक भेद उपस्थित थे। यह संस्कृत तथा 'ग्रीक' शब्दों एवं धातुओ के अनेक रूपो से स्पष्टतया परिलक्षित होता है। शब्द-रूपो मे तीन लिंग, तीन वचन तथा सम्बन्ध एवं सम्बोधन को लेकर आठ कारक थे। विविधता सर्वनामों के रूपो मे भी थी। धातु-रूपों मे तीन वचन, तीन पुरुष, दो वाच्य (आत्मनेपद तथा परस्मैपद), चार काल (वर्तमान या लट्, असम्पन्न या लङ्, सामान्य या लुङ्, एव सम्पन्न या लिट्) तथा पाँच भाव (निर्देश, अनुज्ञा, सम्भावक, अभिप्राय एव निर्बन्ध) थे। क्रिया के काल का आजकल की भाँति समय से कोई सम्बन्ध न था। इस भाषा के विश्लिष्ट रूप धारण करने पर जब विभिन्न भाषाओं का अस्तित्व हुआ, तब शनैः-शनैः उनका काल समय-गत हो चला।

शब्दो मे समास करना भी भारोपीय भाषा की विशेषताओं मे से है। इस सम्बन्ध मे संस्कृत में समास का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जहाँ एक-एक समस्त पद पाँच-पाँच लाइन या इससे अधिक के भी हो जाते हैं, जिससे भाषा मे एक विशेष प्रकार का लोच उपस्थित हो जाता है। भारोपीय भाषा मे स्वर-प्रक्रिया (accent system) का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी से शब्द एवं धातु-रूपो मे अनेक परिवर्तन हुए। जब भाषाएँ

भारोपीय से अलग होकर अपना अस्तित्व जमाने लगी तो स्वर के साथ-साथ स्वराघात मे भी प्रावल्य आने लगा। स्वर-प्रक्रिया का भारतीय आर्य भाषा मे अत्यधिक महत्त्व है। नीचे भारोपीय परिवार के अन्तर्गत आने वाली उपर्युक्त दस भाषाओ का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

केल्तिक—एक समय मे इस भाषा का पूरे पश्चिमी तथा मध्य यूरोप मे प्रचलन था, किन्तु वाद मे इतालिक तथा जर्मन भाषाओ के प्रसार से इसमे कमी आई और यह लोपप्राय हो चली। इस वर्ग की भाषाओ में आयरलैंड की आयरिश भाषा मुख्य है। सत्रहवी शताब्दी से ही आधुनिक 'आयरिश' का प्रारम्भ होता है। इस वर्ग की दूसरी भाषा 'क्रिमरिक' या 'वेल्श' है, जो सजीव तथा सशक्त है। आज भी लगभग दस लाख मनुष्य इसे बोलते हैं। इसमे ८०० ई० तक के पुराने कागज-पत्र पाए जाते हैं। सर्वोत्कृष्ट साहित्य की रचना भी इसमे हुई है।

इतालिक (इटालिक)—इस भाषा का केल्तिक के साथ घनिष्ठ सम्वन्ध है। पहले ये दोनों भाषाएँ एक ही थी, परन्तु वाद मे स्वतन्त्र रूप से विकसित हुईं। भाषा-विज्ञान के अनेक विद्वान् इन दोनो को अलग न मानकर एक ही समझते है, और इसे केल्तिक-इतालिक नाम देते है। इस शाखा की प्राचीन भाषाएँ अव पूर्णतया लुप्त हो गई है। इनमे सवसे प्रधान एवं उल्लेखनीय भाषा लातिन अथवा लैटिन है। रोम साम्राज्य के विकास के साथ इसकी समृद्धि मे भी वृद्धि हुई। देव-भाषा सस्कृत के समान ही उन्नीसवी शताब्दी के मध्य भाग तक यह यूरोप के पण्डितो तथा धर्म की भापा थी। इसका विस्तार यूरोप के समग्र दक्षिण प्रदेश तक हो गया था और इसने वहाँ की वोलचाल की भाषाओ को दवाकर अपना अस्तित्व स्थापित किया। लैटिन के इसी वोलचाल के रूप से आधुनिक इतालिक अथवा 'रोमान्स' भाषाओ की उत्पत्ति हुई है। इसके अन्तर्गत इटली की इटालीय (इतालीय), फ़्रांस की 'फ्रेंच', पुर्तगाल की 'पुर्तगीज़', स्पेन की 'स्पेनिश' तथा 'रोमनी' आदि भापाएँ आती है।

जर्मनिक अथवा ट्यूटनिक—भारोपीय परिवार की भाषाओ मे इस

वर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अंग्रेज़ी भाषा भी इसी वर्ग के अन्दर आती है। केल्तिक लोगो ने पहली शताब्दी ई० पू० मे 'जर्मन' शब्द का प्रयोग 'पड़ोसी' के अर्थ मे किया था। यह तीन उपशाखाओ मे विभाजित की जा सकती है। ये हैं—

१. पूर्व-जर्मनिक, २. उत्तर-जर्मनिक, और ३. पश्चिम-जर्मनिक।

'पूर्व-जर्मनिक' शाखा आज लुप्त हो चुकी है। अब इसकी प्राचीन भाषा 'गॉथिक' मे वाइविल के कुछ अनूदित अश ही प्राप्य है, और ये ही 'जर्मनिक' शाखा के प्राचीनतम नमूने है।

'उत्तर-जर्मनिक'—भाषाओ का प्रसार डेन्मार्क, नार्वे तथा स्वीडन तक है। नार्वे की 'नार्वेजियन', स्वीडेन की 'स्वीडिश', डेन्मार्क की 'डैनिश' एवं आइसलैण्ड की 'आइसलैण्डिक' आदि भाषाएँ इसी के अन्तर्गत आती हैं। आधुनिक युग मे इन भाषाओ का एक महान् साहित्यिक आन्दोलन चल पड़ा है तथा इसके कई लेखक विश्व के महान् साहित्यकारों मे स्थान प्राप्त कर चुके है।

'पश्चिम-जर्मनिक'—उपशाखा के दो मुख्य वर्ग हैं—१. उच्च-जर्मन, २. निम्न-जर्मन। निम्न-जर्मन के अन्तर्गत ही नेदरलैण्ड की 'डच' तथा 'फ्लेमिश' आदि विभाषाएँ आती है। इनमे सुन्दर साहित्य भी मिलता है। 'निम्न-जर्मन' के ही एक अन्य वर्ग आँग्ल-सैक्सन से 'अंग्रेज़ी' भाषा विकसित हुई है। ब्रिटेन मे पहले 'केल्तिक' शाखा की ही भाषाओं का प्रचलन था; परन्तु जब जर्मन जाति की आँग्ल, सैक्सन तथा जुट्स उपजातियो ने ईसा की छठी शताब्दी मे ब्रिटेन पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया तो केल्तिक के स्थान पर जर्मन शाखा की भाषा 'अंग्रेज़ी' की स्थापना हुई। ७०० ई० तक के अंग्रेजी के नमूने उपलब्ध हैं। साहित्य तथा बोलने वालों की सख्या के विचार से अंग्रेजी आज विश्व की प्रमुख भाषाओ मे गिनी जाती है।

आधुनिक 'जर्मन' भाषा का स्थान उच्च-जर्मन-वर्ग के अन्तर्गत ही है।

ग्रीक—ग्रीक भाषा का प्रचलन प्राचीन युग मे ग्रीस, एशिया माइनर

के प्रदेश साइप्रेस द्वीप तथा एजियन उपसागर के द्वीप-समूहों तक था। 'ऐटिक', आयोनिक एव डोरिक्क आदि इसकी अनेक उपभाषाएँ थी। होमर के विश्व-विख्यात काव्य 'इलियड' तथा 'ओडेसी' इसी 'आयोनिक' भाषा मे लिखे गए थे। होमर के पश्चात् 'ऐटिक' ही गद्य-ग्रन्थो की भाषा हुई। ग्रीक मे हम ईसा-पूर्व छठी शताब्दी तक के शिलालेख पाते हैं। प्राचीन ग्रीक 'एखिनियन' नाम से प्रसिद्ध थी। उस युग में ग्रीक-साहित्य के समकक्ष कोई दूसरा प्रौढ एवं उच्च साहित्य विद्यमान नही था। 'ग्रीक' ने आधुनिक यूरोपीय सस्कृति एव साहित्य को अत्यधिक प्रेरणा प्रदान की है। ईस्वी-पूर्व के युग मे ही कई बोलियो के सम्मिश्रण से 'कोइने' नामक एक स्टैण्डर्ड भाषा का प्रादुर्भाव हुआ जिससे आधुनिक ग्रीक की उत्पत्ति हुई। इतालिक तथा जर्मनिक आदि वर्ग की भाषाओं की तुलना मे ग्रीक का विस्तार आज बहुत कम है।

बाल्तोस्लाविक—इस वर्ग के अन्तर्गत दो उपशाखाएँ आती है। ये हैं—१. बाल्तिक और २. स्लाविक। प्रथम उपशाखा मे ही **'प्राचीन प्रशन'**, लिथुआनिया की भाषा **'लिथुआनीय'** तथा लाटेविया की **'लेटी'** भाषा आती है। 'लिथुआनीय' भाषा ही जीवित भारोपीय भाषाओ मे सबसे प्राचीन है। इसमे हम वैदिक सस्कृत तथा प्राचीन ग्रीक की तरह ही सगीतात्मक स्वराघात पाते हैं। इसमें भारोपीय के प्राचीनतम रूप भी सुरक्षित हैं।

स्लाविक समूह की भाषाएँ दक्षिणी तथा पश्चिमी स्लाविक मे विभक्त है। इसके अन्तर्गत **'सर्बीय'**, **'बुल्गेरीय'**, **'चेक'**, **'स्लावेकीय'** एव **'पोलिश'** आदि भाषाओ की गणना की जाती है। इस वर्ग की भाषाएँ बाल्तिक समूह की अपेक्षा अधिक विस्तृत एव बहुमुखी है।

आल्बनीय—इस भाषा-समूह का क्षेत्र एड्रियाटिक सागर का पूर्वी तट है। यह भारोपीय भाषाओ मे सबसे अधिक विकृत है तथा इसके शब्द-कोष मे 'लैटिन', 'ग्रीक', 'स्लाविक' एव 'तुर्की' आदि भाषाओ के अनेक शब्द आ मिले हैं।

आर्मेनीय—इस भाषा का प्रचलन आर्मेनिया मे ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी से ही है। पहले भाषाविद् इसे ईरानी भाषा की ही एक शाखा समझते थे, पर बाद मे इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हुई। इसमे ईरानी भाषा के हजारो शब्द आ मिले है। यह भारोपीय परिवार के शतम्-वर्ग की भाषा है और काकेशीय एव सामी भाषाओं से भी पूर्ण प्रभावित है।

खत्ती या हत्ती अथवा हित्ती—प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ह्यूगो विकलर ने सन् १९०६-७ मे एशिया माइनर के 'बोगाकुजई' ग्राम मे अनेक पुरालेखों को खोज निकाला। ये पुरालेख हत्ती साम्राज्य के पुराने रेकार्ड अथवा कागज-पत्र है। ये हत्ती-अक्कादीय तथा हत्ती-अक्कादीय सुमेरीय भाषाओं मे लिखित हैं। इन लेखो मे ईसा-पूर्व १९वी से १७वी शताब्दी तक की भाषा एव लिपि के नमूने उपस्थित है। इस भाषा के अनेक शब्द मितन्नी राजसभा की भाषा से आये हैं। भारोपीय भाषा की कई विशिष्ट विशेषताएँ केवल हत्ती मे ही सुरक्षित है। अनेक भाषा-तत्त्वविद् इस मत के अनुयायी है कि भारोपीय तथा हत्ती दोनो का विकास एक ही मूल भाषा से अलग-अलग हुआ है।

तुखारीय—इस भाषा का अन्वेषण भी आधुनिक युग में ही हुआ। मध्य-एशिया के चीनी तुर्किस्तान मे जर्मन, अग्रेज, फ्रेंच एवं रूसी विद्वानों ने अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त किये। इन ग्रन्थों में प्रयुक्त लिपि खरोष्ठी तथा ब्राह्मी थी। यह भारोपीय-परिवार के कतम् (कैण्टुम्) वर्ग की भाषा प्रमाणित हुई है। इस भाषा के बोलने वाले 'तुख़ार' अथवा तोख़ार लोग थे। अतः इसका नाम तुखारीय अथवा तोखारीय पडा। इस भाषा का लोप सातवी सदी के लगभग हुआ।

भारत-ईरानी अथवा आर्य—भारत तथा ईरानी मे इस परिवार की भाषाएँ प्रचलित हैं। ईरान की प्राचीन भाषा (अवेस्ता की भाषा), पुरानी फारसी, आधुनिक फारसी तथा उससे प्रसूत ईरान की अन्य बोलचाल की भाषाएँ एव ऋग्वेद की भाषा तथा पालि, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी, मराठी, बँगला, गुजराती, बिहारी, असमिया एव उड़िया आदि भाषाएँ इसी

परिवार की है। अतः इनके सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचना वाछनीय है।

भारत-ईरानी भाषा अथवा आर्य वर्ग

आर्यों का एक दल भारोपीय परिवार से वियुक्त होकर ईरान में आ वसा। यहीं से इनका भारत ने प्रवेश हुआ। चूँकि ये अपने को आर्य कहकर सम्वोधित करते थे, अत. इस वर्ग की भाषा को भारत-ईरानी अथवा आर्य नाम दिया गया है। इसमे प्राचीन साहित्यिक सामग्री भी मिलती है। इसकी दो उपशाखाएँ है—१. ईरानीय, २. भारतीय। ईरानीय भी दो उपशाखाओं मे विभक्त है, जिनमें 'अवेस्ता की भाषा' तथा 'प्राचीन फ़ारसी' भाषा आती है। पारसी लोग अवेस्ता को उसी सम्मान की दृष्टि से देखते हैं जैसे हिन्दू वेद को। ये जरथुस्त्र के अनुयायी होते है। अवेस्ता की आधारभूत भाषा ईरान के उत्तर एवं उत्तर-पूर्व प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा थी। अवेस्ता की गाथाओ की भाषा अन्य अंशो से प्राचीनतम है। यह ऋग्वेद की भाषा के समान है। जरथुस्त्र के अनुयायी होने के पहले यह प्रतीत होता है कि ईरानीय आर्य भी भारतीय आर्यों के समान यज्ञ-परायण एवं देवोपासक थे। आगे इसके अनुयायी होने पर सम्भवतः इन दो आर्य-वर्गों मे पारस्परिक विद्वेष हो गया। इसकी पुष्टि 'देव' तथा 'असुर' शब्दो से होती है। ईरानीय मे 'देव' शब्द 'अपदेवता' या राक्षस का द्योतक है। इसी तरह सस्कृत मे भी असुर शब्द का अर्थ उलट गया है। 'ऋग्वेद' के प्राचीन मन्त्रो मे 'असुर' शब्द का प्रयोग देवताओ के लिए हुआ है; अवेस्ता मे भी ईश्वर को 'अहुरमज्दा' (असुर-मेधाः) कहा गया है; किन्तु वैदिक साहित्य मे आगे यही 'असुर' शब्द राक्षसो के लिए प्रयुक्त हुआ है। यही इनके धार्मिक कलह का पर्याप्त प्रमाण दृष्टिगोचर होता है। फिर भी कुछ ऐसे देवता हैं जिनकी पूजा दोनो के यहाँ समान रूप से होती है। इस वर्ग मे 'मित्र', 'अर्यमा' तथा 'सोम' आदि देवता आते है। ईरान मे वसने वाले आर्यो की भापा तथा भारत मे प्रविष्ट आर्यो की भापा मे यथेष्ट साम्य है, जो अवेस्ता के पदो से स्पष्ट प्रकट है। ऐसा लगता है कि ये एक-दूसरे की भापा को समझ लेते है।

'ईरानीय' की दूसरी शाखा **प्राचीन फ़ारसी** ईरान के दक्षिण-पश्चिम प्रदेश की भाषा थी। इस क्षेत्र का प्राचीन नाम पारस था। हखामनीशीय वंश की उन्नति के कारण यह ईरान के राज्य-भाषा-पद पर प्रतिष्ठित हुई। इसमें इस वंश के सम्राट् दारयवउश (ईसा-पूर्व ५२१-४८५) एव उनके पुत्र जरक्सीज के शिलालेख प्राप्त हुए है। उन्ही से हम प्राचीन फारसी के सम्वन्ध में सामग्री पाते हैं। ये लेख कीलाक्षरो मे लिखे गए हैं, जो मेसोपोटामिया तथा एशिया-माइनर में प्रचलित थे। इसका भी भारत की वैदिक सस्कृत तथा अवेस्ता की भाषा से अत्यधिक साम्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों भाषाएँ एक ही भाषा की विभाषाएँ थी। प्राचीन ईरानीय से ही 'मध्य-ईरानीय' (पहलवी) तथा अर्वाचीन 'फारसी' आदि विकसित हुई हैं।

भारतीय आर्य-भाषा

भारत में जो आर्य आये, उन्हें यूरोप के आर्यों से पृथक् करने के लिए भारतीय आर्य कहा गया है। भारत मे आने वाले आर्य शारीरिक रचना के कारण एक ही जाति के नही प्रतीत होते। ये दो भिन्न जातियो के मालूम होते हैं। यह लगता है कि अनेक आर्यभाषी दल समय-समय पर विभिन्न समूहो मे भारत में आये। यद्यपि इनके विभिन्न गोत्रो मे प्रचलित भाषा में थोड़ा-वहुत अन्तर विद्यमान था, तथापि उस समय में भी साहित्यिक भाषा का एक सामान्य रूप प्रतिष्ठित हो गया था, जिसके नमूने हमे ऋग्वेद में मिलते हैं। आर्यों की विजय केवल राजनीतिक विजय नही थी, प्रत्युत यह एक सुविकसित भाषा तथा सस्कृति से भी पोपित थी। विजय के साथ-साथ यह भाषा तथा संस्कृति भी प्रसार की ओर अग्रसर हुई। पर यह अनार्य प्रभाव से वञ्चित न रह सकी। अतएव भाषा, संस्कृति तथा धार्मिक विचार, तीनो अनार्य सम्पर्क से पर्याप्त प्रभावित हुए।

आर्यों का भारत मे प्रसार कुछ समय की वस्तु नही थी। इसमे काफी समय लगा। अतएव समय के साथ-साथ भाषा मे भी विकास होता गया। पर इस अटूट शृखला की कड़ियाँ कुछ अंशों मे तात्कालिक साहित्य में

सुरक्षित रह गई है, इसलिए ये भाषा-तत्त्व-विशारदों के लिए पहेली नही है।

विकास- क्रम के विचार से भारतीय आर्य-भाषा के तीन विभाग किये जाते है—

१. प्राचीन भारतीय आर्य-भापा (वैदिक-संस्कृत), २. मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा (अशोक के अभिलेखो की भाषा, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश), ३. आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा (हिन्दी, बँगला, गुजराती, मराठी, पजाबी, सिन्धी आदि)।

प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा—भारत मे प्रवेश करने वाले आर्यो में अपनी एक विशेष यज्ञ-परायण संस्कृति विद्यमान थी। इस प्रवेश के पहले ही वे इन्द्र, मित्र एव वरुण आदि देवताओ की उपासना करते थे। यहाँ बस जाने पर यह विकास निरन्तर होता गया और आर्य-ऋषियो ने यज्ञो के विधि-विधान मे उन्नति एवं विकास को परिलक्षित करके तत्-सम्बन्धी देवताओं की प्रशसा मे सूक्तों की रचना की। इन सूक्तो को विभिन्न ऋषि-परिवारो ने अपनी-अपनी परम्पराओ के अनुसार सुरक्षित रखा। समयानुसार इन सूक्तों का संग्रह किया गया, जो 'ऋग्वेद-सहिता' के रूप में विद्यमान है। यही भारोपीय परिवार का प्रतिनिधि प्राचीनतम साहित्य है, जो अविकसित रूप मे हमे प्राप्त है। वेदो को इसीलिए आदि-साहित्य माना गया है। भारतीय सस्कृति के तो ये अमर रत्न हैं। इन्हीसे प्रभावित होकर अध्यात्म विचारों की अनेक धाराएँ ऋपियों की इस पुण्य-भूमि भारत में प्रवाहित हुई है। वैदिक साहित्य निम्नांकित चार भागों मे विभक्त है—

१. सहिता, २. ब्राह्मण, ३. आरण्यक, एवं ४. उपनिषद्।

संहिता-भाग के अन्तर्गत 'ऋक्संहिता,' 'यजुः सहिता,' 'साम-सहिता', तथा 'अथर्व-संहिता' आदि चार सहिताएँ आती है, जिनमे याज्ञिक कर्मकाण्ड मे व्यवहार मे लाए जाने वाले मन्त्रो का सग्रह किया गया है। इनके क्रम मे विभिन्न यज्ञो के प्रयोग का आश्रय लिया गया है तथा पद्य के साथ-साथ गद्य भी व्यवहार मे लाया गया है। इन सहिताओ में 'ऋक्सहिता' ही प्रधान

है, क्योकि 'यजु सहिता' में केवल यज्ञों के कर्मकाण्ड मे प्रयुक्त मन्त्र संग्रहीत है और 'साम-सहिता' में सोम-यागों के विशिष्ट अवसर पर गाए जाने वाले सूक्तो का गेय पदो के रूप मे संकलन किया गया है। इसके अधिकतर सूक्त ऋग्वेद के ही है। 'अथर्व-सहिता' जनसाधारण मे प्रचलित मन्त्र-तन्त्र तथा जादू-टोने का ही आश्रय लेकर चली है। यद्यपि इसकी सामग्री 'ऋक्सहिता' से कही अधिक प्राचीन प्रतीत होती है, पर वहुत दिनो तक यह वेद के रूप में स्वीकृत नही थी। अतएव भाषा का वह प्राचीन रूप नही रह पाया है जो पहले रहा होगा।

ब्राह्मण-भाग मे कर्मकाण्ड का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रत्येक वेद के अपने अलग-अलग ब्राह्मण हैं। ये ग्रन्थ गद्य मे रचे गए हैं तथा प्राचीनतम गद्य के विशिष्ट नमूने हैं। इनमे 'ऐतरेय', 'ताण्ड्य', 'शतपथ' एवं 'तैत्तिरीय' आदि आते है।

आरण्यक ब्राह्मण-ग्रथो के ही अतिम अश-मात्र हैं। इनका अध्ययन वन मे होता था, जवकि और ब्राह्मण-ग्रन्थ ग्राम में पढे जाते थे। इनका उपयोग वानप्रस्थ लोग करते थे। निश्रेयस् की ओर ले जाने वाले उपासना-मार्ग के ये स्पष्ट द्योतक है।

प्राचीन युग में साधना मे निरन्तर निमग्न रहने वाले भारतीय महर्षियों ने अपने प्रतिभायुक्त चर्म-चक्षुओ से जिन आध्यात्मिक तत्त्वो का साक्षात्कार किया था, वे सव उपनिषद्-ग्रन्थों मे उपस्थित है। इन्ही की अमृतमयी वाणी से ही भारतीय सभ्यता पूर्णरूपेण आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट हुई और यह परम्परा भारतीय साहित्य मे तभी से अव तक निखरती आ रही है और भविष्य मे भी आती जाएगी।

आगे चलकर भाषा का विकास जारी रहा और यह ऋग्वेद के सूक्तो की भापा से अलग होने लगी। अतएव इनके सुरक्षित रूप को रखने के लिए 'सहिता-पाठ' से प्रत्येक पद को सन्धि इत्यादि के नियमो से अलग करके 'पद-पाठ' वनाया गया तथा वेद की विभिन्न शाखा के 'प्रातिशाख्यो' की रचना की गई, जिनमे शाखाओ के अनुसार वर्ण-विचार तथा उच्चारण-

विधि आदि पर विचार किया गया है। अब प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाता है—

इसमें तेरह स्वर-ध्वनियाँ, यथा अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ आदि ही रह गई। इसमे संगीतात्मक स्वराघात भी पूर्ण रूप से था। प्रधान स्वरयुक्त स्वर-ध्वनि की उदात्त, स्वरहीन स्वर-ध्वनि की अनुदात्त, एव उदात्त मे उठकर अनुदात्त स्वर मे ढलने वाली स्वर-ध्वनि की 'स्वरित' संज्ञा है। स्वराघात वैदिक साहित्य मे प्रमुख स्थान रखता है तथा इसके परिवर्तन के साथ-साथ अर्थ मे भी परिवर्तन हो जाता है। संगीतात्मक स्वराघात के कारण ही वेद श्रुति-परम्परा द्वारा सुरक्षित रह सके, क्योकि गेय एव एक विशिष्ट स्वर से पढे जाने वाले पदों को याद रखना अत्यन्त सरल होता है। इसमे स्वर-सन्निवेश भी पाया जाता है। यह 'ऋक्सहिता' मे छन्द की लय को ठीक करने के लिए प्रयोग मे लाया जाता था। इसके अनुसार इन्द्र का उच्चारण 'इद्-अर्' करना पड़ता है। प्रा० भा० आ० मे मूल भाषा की व्यजन-ध्वनियाँ अन्य भाषाओ की अपेक्षा अधिक पूर्णतया सुरक्षित रही। ऐसा लगता है कि आर्य-भाषा मे मूर्धन्य व्यजनो का समावेश भारत मे वसने के पश्चात् ही हुआ। विद्वान् ऐसा अनुमान लगाते हैं कि टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ, ण)की उत्पत्ति द्रविड़ प्रभाव के ही परिणामस्वरूप है। इस टवर्ग के समावेश के कारण व्यजन-ध्वनियो के पाँच वर्ग हो गए। इन पाँच वर्गों के अतिरिक्त य्, व्, र्, ल् आदि चार अर्ध-स्वर-ध्वनियाँ भी वहाँ विद्यमान थी। इस भाषा का अर्ध-स्वर 'र्' भारोपीय 'र्' तथा बहुधा 'ल्' के स्थान मे भी प्रयुक्त हुआ है। इस ध्वनि के कारण भाषा-विज्ञानियों ने अनुमान लगाया है कि प्रा० भा० आ० भाषा का विकास तीन शाखाओ मे हुआ।

मूल भारोपीय के समान इस प्रा० भा० आ० भाषा मे भी शब्द एव धातु-रूपो की विविधता एव अनेकरूपता दृष्टिगोचर होती है। तीन लिंग, तीन वचन एव आठ कारक यहाँ भी विद्यमान हैं। धातुओ को दस गुणों मे बांटा गया है। जहाँ धातुओ के रूपो की इस विविधता से प्रा० भा० आ०

भापा समृद्धि को प्राप्त हुई, वहाँ इसका अध्ययन और कठिन होता गया।

काल-क्रम के साथ-साथ वैदिक भापा का रूप परिवर्तित होता गया। 'र्' के स्थान पर 'ल्' का प्रयोग वढने लगा। पजाव के आगे आर्यों के दल पूर्व की ओर चलायमान हो रहे थे तथा अनार्य जातियों को परास्त करके अपनी संस्कृति एवं भाषा का प्रभुत्व स्थापित कर रहे थे। गंगा-यमुना का अन्तर्वर्ती प्रदेश आर्य-सस्कृति का केन्द्र हो गया था। अनार्य जातियों के सम्पर्क एवं स्थानीय भेद के कारण भापा मे भिन्नता आना आरम्भ हो गया। अब भापा पूर्व की ओर अभिमुख हुई। इसके प्राचीन शब्द लुप्तप्राय होने लगे और भापा मे सरलीकरण की प्रवृत्ति का समावेश हुआ। यह भापा के प्रसार के कारण ही हुआ। अव यह विदेह अथवा उत्तरी विहार, मगध एव वंगाल तक फैल चुकी थी। तव आर्य वोली के तीन विभाग हुए—१. उदीच्य, २. मध्यदेशीय, एवं ३ प्राच्य। अव ऋग्वेद की भापा जन-साधारण से दूर होने के कारण दुर्वोध्य होने लगी। वेद-गान की पुरानी भापा 'छन्दस्' नाम से व्यवहृत होने लगी। इसी समय महर्षि पाणिनि का जन्म हुआ, जिनका नाम भाषा-विज्ञान में सदैव अमर रहेगा। इनका स्थान उत्तर-पश्चिमी पजाव था, जहाँ की वोलियाँ अव भी वेद की पुरानी भाषा के अधिक निकट थीं। अत. पाणिनि ने इस भापा को, जो ईसा से लगभग ६०० ई० पू० उत्तर-पश्चिम तथा मध्यप्रदेश के व्राह्मणों के आश्रमों एवं गुरुकुलो मे एक अर्वाचीनतर रूप मे साहित्य मे प्रतिष्ठापित हो रही थी एवं व्यवहार में लाई जा रही थी, लौकिक भापा के नाम से अभिहित किया और इसी नवीन भापा के रूप को स्थिर करने के लिए अपने प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' की रचना की। इस अपूर्व ग्रन्थ ने नदी की भाँति मर्यादा तोड़कर भागने वाली भापा का रूप अचल-सा कर दिया। उन्होंने एक ऐसा वाँव वाँव दिया जिसे भापा समय के अभाव से अत्यधिक सहायता पाकर भी न तोड़ सकी। यद्यपि यह प्रयत्न वहुत दिनो से हो रहा था, पर महर्षि पाणिनि ही उसमे सफल हो सके। कुछ लोग पाणिनि पर भापा को वाँधने का आरोप लगाते है। पर उस अपूर्व वैयाकरण ने भापा के

साहित्यिक रूप को स्थिरता देने के लिए ही ऐसा किया था, नही तो आज तक यह लौकिक भाषा अपने उसी रूप मे स्थिर न रह पाती और न इसमें इतना विशाल वाड्मय ही तैयार हो जाता। यह महर्षि पाणिनि की कृपा का ही फल है कि भारत के कुछ परिवारो की यह मातृभाषा-सी है, और यहाँ का एक विशिष्ट समुदाय भी विना किसी हिचक के धारा-प्रवाह रूप मे इसे बोलता है। इस लौकिक भाषा ने जन-समूह की बोलियो, कहावतों एव शब्दो को उचित स्थान दिया। आगे चलकर यही 'देवभाषा' के नाम से भी व्यवहृत हुई। चूँकि यह सुसस्कृत पुरुषों की भाषा थी, अतएव आगे चलकर इसका नाम 'सस्कृत' भी पड़ा।

इस तरह हम देखते है कि इस युग मे एक महान् भाषा उत्पन्न हुई, जो तीन सहस्राब्दियो तक की आर्य-भाषा का स्वरूप थी। इसी के द्वारा वह सस्कृति प्रकट हुई जिसका स्थायित्व अब तक है। जन्म से ही इसने अपने अदम्य प्रभाव को सबके सामने उपस्थित किया, और अपने इस विचित्र प्रभाव को देववाणी की भाँति प्रसारित करते हुए यह भारत एवं वृहत्तर भारत की दिग्विजय के लिए चल पडी। इसके प्रभुत्व की स्थापना वड़े वेग से होने लगी और हिन्दू-सभ्यता का वाहन-स्वरूप बनकर यह इन्दोचीन, द्वीपमय-भारत और मध्य-एशिया मे गयी, और तिब्बत, चीन, कोरिया एव जापान आदि मे भी इसका अध्ययन और अध्यापन हुआ। भारत की अनार्य बोलियो से भी इसका सम्पर्क स्थापित हुआ और अनेक अनार्य शब्दो का सस्कृत मे समावेश हुआ। 'पाणिनि' द्वारा नियत मार्ग प्रदान किये जाने पर भी समयानुसार इसमे थोडे-वहुत परिवर्तन होते रहे। प्रारम्भ मे बौद्ध तथा जैन लोग 'सस्कृत' के प्रति एक प्रतिक्रिया के कारण भिन्न दृष्टि रखते थे, पर वाद मे ये भी इसके प्रभाव से वचित न रह सके। 'निय' प्राकृत इत्यादि से पता चलता है कि खोतन इत्यादि प्रदेशो मे आर्य तथा 'सस्कृत' की विशेषताओ को किस प्रकार सुरक्षित रखा गया था। सस्कृत भाषा तथा लिपि का प्रभाव सीलोन, वर्मा इत्यादि देशों में पडा। इस प्रसग मे हम अनेक शब्द वर्मा की भाषा में पाते है। भारतीय

एव 'संस्कृत' प्रभाव 'दक्षिणी स्याम' (द्वारवती), कम्बोडिया (कम्बुज) और अन्नम (चम्पा) आदि देशों मे ईसा पूर्व ही प्रविष्ट हुआ और हिन्द-चीन के इस भाग में संस्कृत भापा ने वही स्थान प्राप्त किया जो इसे भारत मे मिला था। यह दूसरी तथा तीसरी शताब्दी के संस्कृत के उत्कीर्ण लेखो से स्पष्ट व्यक्त होता है। 'ख्मेर' एव 'चम' भाषाएँ सस्कृत एवं पालि के शब्दों से भरी पडी है और 'स्याम' के लोग अव भी अपने शब्द-कोश को वढाने के लिए सस्कृत-सूची का आश्रय लेते है। यहाँ के वड़े लोगो के नाम अधिकतर 'सस्कृत' के ही है। 'मलाया' तथा 'इण्डोनेशिया' की भी यही गति है जहाँ की वहुत सी जगहों एव नगरो इत्यादि के नाम सस्कृत से ही पूर्णतया प्रभावित हैं, यथा द्जोग्यकर्त (अयोव्याकृत), व्रोमो (व्रह्मा)। प्राचीन मलाया, सुमात्रा, जावा तथा बाली द्वीप मे सस्कृत के शिलालेख हम पाते है। वाली मे 'सस्कृत' के कुछ तान्त्रिक मन्त्रो का अव भी विगड़े रूप मे व्यवहार होता है। प्रोफेसर सिल्वाँ लेवी ने इनका सम्पादन भी किया है। 'जावा' मे 'वसन्त-तिलका' एव 'शार्दूल-विक्रीड़ित' आदि 'संस्कृत' के प्रसिद्ध छन्द अपनाये गए हैं। यहाँ सम्यतासूचक सगठनो के नाम अव भी 'संस्कृत' पर ही अवलम्बित है।

पुरानी 'खोतनी' (खोतन प्रदेश की भापा) मे भी संस्कृत भापा के शव्दो का प्रचुर मात्रा मे प्रवेश है, यथा शकर (शर्करा), शामन (श्रमण) इत्यादि। ग्रीक-सभ्यता के आदान-प्रदान के फलस्वरूप अनेक ग्रीक शव्द सस्कृत मे ग्रहण किये गए है तथा सस्कृत के शव्दो को 'ग्रीक' में भी उचित स्थान मिला है। पिछले गुप्तो के समय की लिपि का प्रचार जापान के कुछ तान्त्रिक वौद्ध-सम्प्रदायो मे अव भी है। तिव्वती भाषा भी सस्कृत से प्रभावित हुई, पर इसने सस्कृत के शव्दो को सीधे न अपनाकर उसने अपने यहाँ के उस अर्थ को व्यक्त करने वाले समानार्थक शव्दों की रचना की। चीनी का भी यही हाल रहा। यह इसीलिए हुआ कि उनके कर्ण एक विदेशी ध्वनि को ग्रहण करने योग्य नही थे। वौद्ध-धर्म एवं भारतीय दर्शन के वास्तविक अध्ययन के लिए कई शताब्दियो तक अनेक चीनी विद्यार्थी

भारत के विख्यात विश्वविद्यालय तक्षशिला एवं नालन्दा में आते थे। अत-एव 'काश्यप' शब्द, जो पुरानी चीनी भाषा मे 'काज्यप' था, अब 'कायेप' एव 'काहेप' हो गया है। तिब्बती भाषा मे 'तथागत' को 'जुलै' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है 'उस ओर गया हुआ' और यह मूल शब्द का पूर्णतया अनुवाद है। सातवी तथा आठवी सदी में लिखे गए सस्कृत-चीनी कोश भारत तथा चीन के सांस्कृतिक सम्बन्ध को प्रत्यक्षरूपेण घोषित करते हैं। भारतीय प्रजातन्त्र ने आज उसी मार्ग का अनुसरण करके अपनी प्राचीन परम्परा की रक्षा की है, क्योकि हमारे देश एव चीन की मैत्री आज की नही है। इसका शताब्दियो का इतिहास है और हमारा तथा चीनवासियो का यह कर्तव्य है कि इस सम्बन्ध मे कोई भी त्रुटि न आने पाए।

जापान की भाषा पर चीन की अपेक्षा सस्कृत का यथेष्ट प्रभाव है। चीनी भाषा मे 'धर्म' को 'तामो' कहेगे, पर जापानी मे यह 'दरुमही' ही होगा। जापानी पर भारतीय तथा 'सस्कृत' के प्रभावो का अध्ययन डॉ० जे० तक कुसु द्वारा हुआ है। आधुनिक युग मे भाषा-शास्त्र के अध्ययन के कारण संस्कृत को यूरोप मे भी उचित स्थान प्राप्त हुआ है। यह वहाँ के अधिकाश विश्वविद्यालयो मे अध्ययन का विषय स्वीकार किया गया है। भाषा-तत्त्व-विशारदो के लिए तो 'सस्कृत' का अध्ययन अत्यावश्यक ही है। संस्कृत द्वारा सचालित मस्तिष्क तीन सहस्राब्दियो से सत्य की खोज मे पूर्ण स्वतन्त्र रहा है, साथ-ही-साथ विचारो की सहिष्णुता के उपदेश भी इसके द्वारा हमे प्राप्त हुए हैं। भारतीय सविधान ने पारिभाषिक शब्दो के निर्माण के लिए सस्कृत को जो महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है वह उचित ही है; क्योकि दक्षिण की भाषाओ को समझने वाले भी सस्कृत के शब्दो को सरलता से समझ लेते है तथा उनके साहित्य मे भी ये शब्द बिना किसी हिचकिचाहट के प्रयोग मे आते है। नवीन आर्य भाषाओं की तो सस्कृत जननी ही है। जिस प्रकार लातीनी भाषा ने 'फ्रेंच', 'इटालियन' तथा 'स्पेनिश' आदि भाषाओ मे शब्द-भण्डार की पूर्ति की है, उसी प्रकार 'सस्कृत' का अक्षय भण्डार भी नवीन आर्य-भाषाओ के लिए खुला हुआ है। यद्यपि

कुछ लोग यह कहते है कि 'सस्कृत' को नवीन आर्य-भाषाओ पर लादने से उनका इतिहास धुँधला हो सकता है, पर भाषा केवल अपने इतिहास के लिए ही नही होती। सस्कृत के शब्दों की अधिकता से नवीन आर्य-भाषाएं सस्कृति की एकता के सूत्र मे बँध पाई और इसी से ही उनके आर्य उत्तराधिकार का पता चलता है। सास्कृतिक द्रविड़ भाषाएँ भी इसी तरह भारतीय आर्य-भापा से अविच्छिन्न रूप से मिली थी। मोटे तौर पर हम यह कह सकते है कि नवीन आर्य-भाषाओ के पचास प्रतिशत शब्द 'सस्कृत' से उधार लिये गए है, चाहे वे तत्सम हों अथवा अर्द्ध-तत्सम। यही राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिए भी सत्य है। कुछ लोग इसके लिए रुष्ट भी होते है; पर लोगो की इस विषयक वेदना व्यर्थ-सी है; क्योकि अग्रेजी के भी साठ प्रतिशत शब्द विदेशी हैं, जो 'फ्रेंच' तथा 'लैटिन'से लिये गए है और फारसी के भी अस्सी प्रतिशत शब्द विदेशी है। नवीन आर्य-भाषाओ मे सस्कृत के शब्दो की उपस्थिति भारतीय आर्यो के इतिहास मे एक अविच्छिन्न सस्कृति के विद्यमान होने की स्पष्ट द्योतक है। भारतीय आर्य तथा द्रविड़ भाषाओं मे विद्यमान सस्कृत के शब्द भारत की स्वाभाविक अभिन्नता एव एकता के प्रतीक है। इनको दूर करने की प्रवृत्ति ठीक नही है। एशिया के प्रसिद्ध भापा-वैज्ञानिक डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इस विषय मे तो इतना तक कहते है, "मेरे विचार से इस प्रतीक को रोकने तथा इसके मूल्य को कम करने की कोई भी चेष्टा-मात्र हमारी बहुमूल्य सस्कृति पर कुठाराघात करना होगा।"

जहाँ तक राष्ट्रभाषा हिन्दी का सम्बन्ध है, इसको शब्द एवं धातुएँ, व्याकरण एव भाव-व्यञ्जन-प्रणाली आदि सभी सस्कृत से ही उत्तराधिकार मे मिले है। इसको अपनी नई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इधर-उधर भटकने की कोई आवश्यकता नही है। सस्कृत उसकी सभी आवश्यकताओं को पूर्ण करने की पर्याप्त सामर्थ्य रखती है। इसीलिए राष्ट्रपिता बापू ने कहा था, "सस्कृत हमारी भापा के लिए गगा नदी है; मुझे लगता है कि यह सूख जाए तो भापाएँ निर्माल्य बन जाएँगी।" हिन्दी-साहित्य को भी

प्रारम्भ से ही विषय-वस्तु, उच्चकोटि के विचार, आध्यात्मिक पृष्ठभूमि, सौन्दर्य-बोध एव कलात्मक पक्ष आदि सस्कृत से ही मिले हैं। पुराणो के कथानकों पर ही हिन्दी के अनेक काव्य अवलम्बित है।

वैदिक भाषा की तुलना मे सस्कृत मे सरलीकरण की प्रवृत्ति का समावेश हुआ था। यहाँ स्वराघात लुप्त-सा हो गया और अनेक नवीन धातुओं ने स्थान पाया। व्याकरण के जटिल नियमो मे जकड़ने से संस्कृत का विकास रुक-सा गया, पर लोक-भाषाएँ सर्वदा विकास के पथ पर ही अग्रसर हो रही थी। इनकी कालगत एव स्थानगत विशेषताओ मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। लगभग ईसापूर्व छठी शताब्दी मे भारतीय आर्य-भाषा ने विकास के मध्य काल मे पदार्पण किया।

मध्य-भारतीय आर्य-भाषा—भारतीय आर्य-भाषा ने बुद्ध के जन्म के समय मे (५०० ई० पू०) मध्यकाल मे प्रवेश पा लिया था। परिवर्तन-क्रम के अनुसार मध्यकाल को तीन पर्वो मे बाँटा गया है—(१) प्रथम पर्व, जिसमे ६००-२०० ई० पू० तक के प्रारम्भिक परिवर्तन एव २०० ई० तक का सक्राति-काल आता है। (२) द्वितीय पर्व, २०० ई० से ६०० ई० तक और (३) तृतीय पर्व ६०० ई० से १००० ई० तक अथवा अपभ्रश-काल।

प्रथम पर्व की भाषा के अध्ययन की सामग्री पालि-साहित्य एवं अशोक के अभिलेखों से प्राप्त होती है। अब 'ॠ' तथा 'लृ' जैसी कठिन ध्वनियाँ लुप्त हो गई, और संयुक्त व्यजन-ध्वनियो का समीकरण होने लगा। भाषा का सगीतात्मक स्वराघात लुप्त हो गया और बलात्मक स्वराघात स्थान पाने लगा। शब्द एवं धातु-रूपों मे भी अनेक परिवर्तन हुए। द्विवचन तो लुप्तप्राय हो गया। धातुओ के कालो एवं भावो की सख्या मे भी कमी आई। ये सब परिवर्तन 'प्राच्य-भाषा' (वर्तमान अवध, उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग एव बिहार की भाषा) मे तीव्र गति से हुए।

पालि-भाषा मे बौद्ध-धर्म के थेरवाद अथवा हीनयान सम्प्रदाय का धार्मिक साहित्य ग्रथित है। पालि-त्रिपिटिक की भाषा वास्तव मे मध्य-देश की भाषा है। यह सस्कृत से पर्याप्त प्रभावित है तथा इसमे पैशाची (उत्तर-

पश्चिम सीमान्त की भाषा) के भी कुछ रूप पाए जाते है। पालि मे मध्य आर्य-भाषा की प्रारम्भिक काल की सभी प्रवृत्तियाँ पूर्ण रूप से सक्रिय मिलती है। इसमे वैदिक भाषा के अनेक ऐसे भी रूप सुरक्षित हैं, जो सस्कृत मे स्थान न पा सके थे। पालि ने प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा की विशेषताओं को अन्य जन-भाषाओ की अपेक्षा अधिक सुरक्षित रखा है।

सक्रान्ति-युगीन मध्य-भारतीय आर्य-भाषा के अध्ययन की सामग्री तत्कालीन प्राकृत-अभिलेख तथा मध्य-एशिया में आधुनिक खोजों द्वारा प्राप्त प्राकृत-साहित्य मे उपलब्ध होती है। 'निय' नामक स्थान में इसकी अधिकांश सामग्री हस्तगत हुई है। अत इसे 'निय प्राकृत' के नाम से अभिहित किया गया है। इस युग मे एक नवीन परिवर्तन द्वारा भाषा का स्वरूप वदलना प्रारम्भ हुआ, और यह था स्वर के वीच आने वाले अघोष-स्पर्श-व्यञ्जनो के स्थान पर सघोष-व्यंजनों का प्रयोग।

द्वितीय पर्व में साहित्यिक प्राकृतें आती है। जिस तरह प्राचीन भारतीय आर्य-भापा को साधारणतया संस्कृति के नाम से सम्वोधित किया जाता है, उसी तरह मध्य-भारतीय आर्य-भाषा को 'प्राकृत' की संज्ञा दी जाती है। इसका स्पष्ट कारण यही है कि प्राकृत के वैयाकरण 'पालि' एव अशोक के अभिलेखों आदि की भापा से परिचित न थे। अतः जिन प्राकृतों का साहित्य मे व्यवहार हुआ था वे ही उनके सामने थी। इन्होने संस्कृत-नाटको एव काव्य-ग्रंथो में व्यवहृत 'मागधी', 'शौरसेनी', 'महाराष्ट्री', 'पैशाची' तथा जैन-आगमो की भाषा 'अर्द्ध-मागधी' का ही विवेचन किया और इन्ही के अर्थ मे 'प्राकृत' संज्ञा रूढ़ हो गई। मागधी प्राकृत प्राच्य-भापा थी। शूरसेन (मथुरा) प्रदेश तथा इसके आसपास की लोक-भाषा ही शौरसेनी प्राकृत के नाम से पुकारी जाती थी। महाराष्ट्री प्राकृत वास्तव मे शौरसेनी का ही एक विकसित रूप है। जव यह महाराष्ट्र प्रदेश की स्थानीय भापा से प्रभावित हुई तो वहाँ इसका स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ। यह आदर्श प्राकृत मानी गई है तथा सस्कृत-नाटकों के प्राकृत-पद्य महाराष्ट्री मे ही लिखे गए हैं। काशी-कोशल-प्रदेश की लोक-भापा का

'अर्द्धमागधी' नाम था। इसमें मागधी एवं शौरसेनी दोनों के लक्षण पाये जाते है। 'पैशाची प्राकृत' की कोई भी साहित्यिक रचना प्राप्त नही है। प्राकृत-वयाकरणो ने केवल इसकी प्रमुख विशेपताओ का ही उल्लेख-मात्र किया है।

इस द्वितीय पर्व मे संक्रान्तिकालीन भाषा मे हुए अभिनव परिवर्तनों मे वृद्धि हुई। इस युग मे शब्द एवं धातु-रूपो मे सरलीकरण की प्रवृत्ति प्रगतिशील रही। प्रथम वर्ष मे लुप्त होने से वची हुई शब्द-रूपों की भिन्न-ताएँ भी इस युग मे चल वसी। कारको की संख्या भी कम हो गई और सभी शब्दो के रूप प्रायः अकारान्त शब्द के समान चलने लगे। कारकाव्ययों एवं कृदन्त रूपों का व्यवहार कारक तथा क्रिया के सम्वन्ध को प्रकट करने के लिए होने लगा। इस प्रकार 'रामस्य गृहम्' न कहकर 'रामस्स केरक (कार्यक) घरम्' कहा जाने लगा। परन्तु भाषा के रूप में अव कोई ऐसा युगान्तरकारी परिवर्तन नही हुआ था जिससे सस्कृत सर्वथा दुर्वोध्य हो जाए। शिष्ट समाज मे अव भी इसका प्रचुर प्रयोग था। साधारण जन प्राकृत व्यवहार मे लाते थे, पर वे सस्कृत-वाक्यों का भाव अवश्य समझ जाते थे। संस्कृत-नाटको मे व्यवहृत विविध प्राकृतों से यह स्पष्टतया प्रकट होता है।

मध्य-भारतीय आर्य-भाषा के तृतीय पर्व (६००—१००० ई०) को अपभ्रंश-काल कहा जाता है। भारतीय आर्य-भाषा की प्रत्येक शाखा को आधुनिक युग मे पदार्पण करने के पहले 'अपभ्रश' की स्थिति मे आना पडा है। छठी शताब्दी मे अपभ्रश साहित्यिक रचना का प्रादुर्भाव हुआ और ईसा की आठवी शताब्दी मे यह काव्य-भाषा के रूप स्वीकृत हुई। तात्का-लिक साहित्य मे मध्य-देश की लोक-भापा 'शौरसेनी'-अपभ्रश का वोल-वाला रहा। पूर्वी-अपभ्रश मे सिद्धो ने अपना साहित्य-सृजन किया। प्राकृत वैयाकरण पुरुपोत्तम ने अपभ्रश की तीन शाखाओ का उल्लेख किया है। वे हैं 'नागर' अथवा 'शौरसेनी', 'उपनागर' एव 'व्राचड'। पर इनमे शौर-सेनी-अपभ्रश का ही विशेप महत्त्व है। इसमें एक विराट् साहित्य रचा

गया। इसका प्रचार पजाब से बंगाल तक और नेपाल से महाराष्ट्र तक हुआ। राजपूत राजाओं की सभाओ मे भी यह प्रतिष्ठित हुई और गोरख-पन्थ आदि अनेक हिन्दू-सम्प्रदायो के धार्मिक गुरुओं ने इसे अपनाया। इसी से हिन्दी की उत्पत्ति हुई। राजस्थानी, गुजराती, पजाबी और अवधी के विकास मे भी इसने समुचित योग दिया।

मध्य-भारतीय आर्य-भाषा के इस तृतीय पर्व मे भाषा मे द्वितीय पर्व की अपेक्षा कुछ और परिवर्तन हुए। अब कारक-सम्बन्ध प्रकट करने के लिए 'केरक', 'केर' आदि अनुसर्गो का प्रयोग होने लगा। नपुसक लिंग लुप्त-सा हो गया और पुंलिग की प्रधानता स्थापित हो गई। अनेक धातुओं के अभिनव रूप का अपभ्रश मे प्रचलन हुआ। 'वोल्ल' आदि अनेक देशी धातुओं के रूपो का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग होने लगा। जिस तरह शौरसेनी, प्राकृत का विकास शौरसेनी-अपभ्रंश के रूप मे हुआ था, उसी भाँति मागधी, महाराष्ट्री इत्यादि प्राकृते भी अपभ्रंश की अवस्था मे पहुँची थी। पर इन अपभ्रशों का परिचय पाने के लिए हमे कोई भी साहित्यिक रचना प्राप्त नही है। 'अपभ्रंश' और आधुनिक हिन्दी का सामीप्य निम्नांकित गद्य मे देखा जा सकता है—

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि, महारा कन्त।
लज्जेज तु वअस्सिअहु, जइ भग्गा घर एन्तु॥

(भला हुआ, बहन, जो मेरा कन्त मारा गया, जो भागा (भागकर) घर आता तो वयस्याओ (सखियों) मे मुझे लाज आती।)

अब भारतीय आर्य-भाषा ने नवीन युग मे प्रवेश किया। इसी समय आधुनिक जीवित भाषाओ का जन्म हुआ।

नवीन भारतीय आर्य-भाषा—प्राचीन काल से परिवर्तन एवं ह्रास की क्रिया, जो भाषा के क्षेत्र में चली आ रही थी, इसी युग मे पूरी हुई। भाषा के क्षेत्र मे परिवर्तन की गति आर्यावर्त के पूर्वी भाग मे अधिक रही है। पर उत्तर-पश्चिमी प्रदेश मे यह मन्द-सी ही रही है। अतएव यह परिवर्तन अपने इसी रूप मे आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं मे भी मिलता

है। सिन्धी-पजाबी मे आर्य-भाषा का मध्यकालीन स्वरूप बहुत-कुछ सुरक्षित है, परन्तु प्राच्य भाषाओ, बिहारी-बंगाली मे मध्यकालीन आर्य-भाषा का स्वरूप बहुत बदल गया है। गुजराती प्राचीन व्याकरण को बहुत अपनाये हुए हैं और हिन्दी भी वर्णों के उच्चारण आदि मे संस्कृत से अधिक दूर नही है।

नवीन भारतीय आर्य-भाषा मे स्वरो के मात्रा-काल मे बहुत परिवर्तन हो गया है। न० भा० आ० भा० में अनेक स्वरों का लोप परिलक्षित होता है। स्वरो तथा व्यञ्जनों के उच्चारण मे भी किन्ही आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ मे नवीनता परिलक्षित होती है, यथा बगला के 'अ' स्वर का उच्चारण। ध्वनि-परिवर्तन के साथ-साथ आधुनिक आर्य-भाषाओं मे लिंगविपर्यय भी आया। अब तीन लिगो के स्थान पर पुल्लिग एव स्त्रीलिंग ही शेष रह गए। कई कारको का लोप हो गया तथा उनके अर्थ को द्योतित करने के लिए अनुसर्ग अथवा परसर्गो का प्रयोग होने लगा।

नवीन आर्य-भाषाएँ आज मौखिक एव साहित्यिक इन दोनों रूपो मे प्रचलित है, किन्तु इनके पीछे लगभग तीन सहस्र वर्षो की सस्कृत भाषा की उज्ज्वल परम्परा है। प्राचीन तथा मध्य-युग की भाषाओ का सस्कृत ने समय-समय पर पोषण किया है और आज भी वह आधुनिक आर्य-भाषाओ को अनुप्राणित कर रही है।

भारत मे आर्य-भाषाएँ सबसे अधिक प्रतिष्ठाशाली है। इनके बोलने वालो की सख्या पच्चीस करोड सत्तर लाख के लगभग है और सम्पूर्ण भारत की जनसख्या के तिहत्तर प्रतिशत से भी अधिक है। पारस्परिक सम्पर्क तथा सम्बन्ध पर विचार करके डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भारत की समस्त मौखिक एव साहित्यिक आधुनिक आर्य-भाषाओ को निम्नलिखित भागो अथवा श्रेणियो मे बाँटा है—

(क) उत्तरी-पश्चिमी श्रेणी—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित बोलियों का समावेश है :

१. हिन्दवी या लहंदा या पश्चिमी पंजाबी—बोलने वालो की सख्या

पिच्चासी लाख।

२. सिन्धी (कच्छी समेत)—संख्या चालीस लाख।

(ख) दक्षिणी श्रेणी—३. मराठी—दो करोड़, दस लाख। इसके अन्तर्गत कोंकणी पन्द्रह लाख और हलबी भी है।

(ग) पूर्वी श्रेणी—४. उड़िया—एक करोड, दस लाख।

५. बँगला—पाँच करोड़, पैंतीस लाख (इसमे बँगला के विभिन्न प्रान्तीय रूप भी सम्मिलित हैं।)

६. असमिया—तीस लाख।

७. बिहारी भाषा-समूह—इसके अन्तर्गत (i) मैथिली—एक करोड़, (ii) मगही—पैंसठ लाख, (iii) भोजपुरी (सदानी या नगपुरिया समेत)—दो करोड, पाँच लाख।

(घ) पूर्व-मध्य श्रेणी—८. कोशली या पूर्वी हिन्दी—इसके अन्तर्गत (i) अवधी (ii) बघेली तथा (iii) छत्तीसगढी, इन तीन बोलियो का समावेश है। इन तीनो भाषाओं के बोलने वालो की संख्या दो करोड़,पच्चीस लाख है।

(ङ) मध्य-देशीय श्रेणी—९. हिन्दी गोष्ठी या पश्चिमी हिन्दी—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच बोलियो का समावेश है—(i) जनपदीय हिन्दुस्तानी या खडी बोली। इसी की दो साहित्यिक शैलियो—साधु या नागरी हिन्दी तथा उर्दू—मे उत्तरी भारत मे साहित्य-रचना हो रही है तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद नागरी हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा घोषित की गई है। (ii) बाँगरू या जाटू, (iii) व्रजभाषा, (iv) कन्नौजी, (v) बुन्देली। इन पाँचो बोलियो के बोलने वालो की संख्या चार करोड, दस लाख है।

१०. पंजाबी या पूर्वी पंजाबी (डोगरी सहित)—एक करोड़, पचपन लाख।

११. राजस्थानी-गुजराती—इसके अन्तर्गत (i) गुजराती—एक करोड,दस लाख, (ii) राजस्थानी—अपनी उपभाषाओ सहित एक करोड़,

चालीस लाख। राजस्थानी की उपभाषाएँ है—पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी (मेवाड़ी तथा शेखावटी इसी के अन्तर्गत है)—साठ लाख; पूर्व-मध्य राजस्थानी—जयपुरी तथा उसकी विभिन्न शैलियाँ यथा अजमेरी और हाड़ौती—तीस लाख; उत्तरी-पूर्वी राजस्थानी—इसके अन्तर्गत मेवाड़ी तथा अहिरवाटी बोलियाँ आती है, पन्द्रह लाख; मालवी, तेतालीस लाख; इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य उपभापाएँ तथा (iii) भीली उप-भाषा-समूह, वीस लाख, (iv) दक्षिण-भारत के तमिल देश मे प्रचलित सौराष्ट्री तथा (v) पजाव एवं कश्मीर की गूजरी भी राजस्थानी के ही अन्तर्गत हैं।

(च) उत्तरी या पहाड़ी श्रेणी—१२. पूर्वी पहाड़ी या नेपाली—साठ लाख;

१३. मध्य पहाड़ी (प्रधान भाषा, गढवाली तथा कुमाऊनी), दस लाख, और

१४. पश्चिमी पहाड़ी भापा-समूह—दस लाख।

इनके अतिरिक्त भारत के वाहर की दो और शाखाओं की भारतीय आर्य-भाषाओ का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। ये हैं—

(छ) सिंहली श्रेणी—सिंहली तथा इसके अन्तर्गत मालद्वीप की भापा।

(ज) रोमनी या जिप्सी श्रेणी—पश्चिमी एशिया तथा यूरोप मे प्रचलित जिप्सी भापाएँ। जिप्सी घुमन्तू जातियो मे से है। यह जाति प्राचीन काल मे भारत से ही गयी है।

नीचे आधुनिक भारतीय आर्य-भापाओं का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

१. सिन्धी—यह सिन्धु नदी के दोनों किनारो पर वोली जाती है। अव यह प्रदेश पाकिस्तान मे है। इसकी उत्पत्ति 'व्राचड-अपभ्रंश' से हुई। इसकी अपनी लिपि 'लण्डा' है, किन्तु यह गुरुमुखी एवं फारसी लिपि मे भी लिखी जाती है। सिन्धी मे कई हिन्दू तथा मुसलमान कवियो ने सुन्दर काव्य-

रचना की है। पाकिस्तान के निर्माण के बाद अधिकाश हिन्दू अपना जन्म-स्थान छोड़कर भारत के विभिन्न स्थानो मे बस गए है। इनमें हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि का प्रचार वेग के साथ हो रहा है।

(२) लहँदी—इसको पश्चिमी पजाबी, हिन्दकी, जटकी, मुल्तानी आदि भी कहा जाता है। यह प्रदेश प्राचीन कैकय देश के अन्तर्गत था, और इसी के प्राकृत-अपभ्रश से लहँदी का सम्बन्ध है। आज यह प्रदेश पाकिस्तान के अन्तर्गत है। इसमे सिक्ख-धर्म से सम्बन्धित कतिपय गद्य-कथाएँ पाई जाती है। पहले साहित्य-सृजन के लिए इस प्रदेश मे उर्दू, हिन्दी तथा पूर्वी-पजाबी आदि व्यवहृत होती थी, पर पाकिस्तान के निर्माण के पश्चात् अब उर्दू का ही बोलवाला है। यह भी सिन्धी की भाँति 'लण्डा' लिपि मे लिखी जाती है, जो काश्मीर की शारदा-लिपि की एक उपशाखा है।

(३) पूर्वी पंजाबी—यह हिन्दी के पश्चिमोत्तर प्रदेश में बोली जाती है। पहले लहँदी से इसकी सीमा बिलकुल मिली हुई थी, पर पाकिस्तान बनने से यह पृथक् हो गई है। इसका शुद्ध रूप अमृतसर के पास बोला जाता है। 'टक्क' अपभ्रश से इसकी उत्पत्ति हुई है, किन्तु शौरसेनी अपभ्रश का भी इस पर पर्याप्त प्रभाव है। इसकी कई उपशाखाएँ है जिनमे डोगरी प्रसिद्ध है, जिसका व्यवहार जम्मू तथा काँगड़ा मे होता है।

पूर्वी-पजाबी मे सिक्ख-गुरुओ के पद मिलते है, जो १६वी शताब्दी मे रचे गए थे। अब पजाब प्रदेश की सरकार ने गुरुमुखी-पजाबी तथा नागरी-हिन्दी, दोनो को अपने यहाँ की भाषा स्वीकार कर लिया है। 'लण्डा' लिपि मे सुधार करके ही 'गुरुमुखी' रची गई है। यह कार्य गुरु अंगद द्वारा (१५३८-५२) सम्पन्न हुआ था। सिक्खो मे प्राय गुरुमुखी-पजाबी का ही प्रचलन है, क्योकि उनका धार्मिक ग्रन्थ 'गुरुग्रन्थ साहब' इसी मे है। पहले यहाँ साहित्य-रचना मे उर्दू तथा फारसी लिपि का प्रचुर प्रचार था, किन्तु अब नागरी-हिन्दी का प्रचलन वेग के साथ हो रहा है।

(४) गुजराती—इससे तथा राजस्थानी भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। गूजर जाति की भाषा से यह अत्यधिक प्रभावित है। मध्य-देश की शौरसेनी

ने इसे भी अपने प्रभाव से वचित नही रखा है। श्री टेसीटरी महोदय का कथन है कि इसकी उत्पत्ति पश्चिमी-राजस्थानी से हुई है। गुजराती के प्रसिद्ध कवि नरसी मेहता है। प्रसिद्ध प्राकृत-वैयाकरण हेमचन्द्र भी गुजराती ही थे। आजकल गुजराती कैथी से मिलती-जुलती लिपि मे लिखी जाती है जिसमे शिरोरेखा नही लगती। गुजराती मे मीरा तथा अन्य कृष्ण-भक्तों की कृतियाँ मिलती है। राष्ट्र-पिता गाधीजी ने भी अपनी आत्मकथा आधुनिक गुजराती मे ही लिखी है। राष्ट्रीय जागरण मे गुजरात का विशेष महत्त्व रहा है, अतः इसके साथ-साथ साहित्य-सृजन मे भी काफी वृद्धि हुई है। आधुनिक गुजराती-साहित्य मे सर्वश्री महादेव भाई देसाई, श्रीकन्हैया-लाल माणिक लाल मुशी तथा उनकी पत्नी श्रीमती लीलावती मुंशी आदि का ऊँचा स्थान है।

(५) राजस्थानी—इसका क्षेत्र पजाबी के ठीक दक्षिण मे है। इस पर मध्यदेशीय शौरसेनी की पूरी छाप है। इसकी कई उपशाखाएँ है, जिनमें पश्चिमी-राजस्थानी जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर तथा उदयपुर मे, पूर्वी-मध्य-राजस्थानी जयपुर तथा अजमेर आदि में, उत्तरी-पूर्वी-राज-स्थानी मेवाड मे एव मालवी मालवा प्रदेश के इन्दौर राज्य मे बोली जाती है। इसके अन्तर्गत भीली उपभाषा-समूह, तमिल देश की सौराष्ट्री एवं कश्मीर की गूजरी आदि उपभाषाएँ भी आती है।

(६) पश्चिमी हिन्दी—यह मध्य-देश की भाषा है। यह मेरठ तथा बिजनौर आदि के निकट बोली जाती है। इसी पश्चिमी हिन्दी की खड़ी बोली के रूप से ही वर्तमान साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई है। इसका उपयुक्त नाम नागरी-हिन्दी है। भारत के सविधान मे इसी को राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन किया गया है।

(७) कोसली या पूर्वी हिन्दी—इसके पश्चिम मे पश्चिमी हिन्दी एवं पूरब मे बिहारी का क्षेत्र है। प्राचीन युग में इस प्रदेश में अर्द्ध-मागधी-प्राकृत तथा अर्द्ध-मागधी-अपभ्रश प्रचलित थी। इसके अन्तर्गत तीन बोलियाँ आती हैं– (१) कोसली (अवधी), (२) बघेली तथा (३) छत्तीसगढी।

इनमे कोसली साहित्य-सम्पन्न भाषा है। गोस्वामी तुलसीदासजी तथा अवध के मुसलमान सूफी कवियो—कुतुवन, मंझन, जायसी आदि ने कोसली को ही साहित्य-रचना का माध्यम वनाया था। विहार के मुसलमानों मे जोलहा वोली के रूप मे इसका आज भी प्रचार है।

(८) विहारी—इसका क्षेत्र पूर्वी-हिन्दी तथा वगला के वीच मे है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो मे भी यही व्यवहृत होती है। इसकी उपभाषाओ मे मैथिली, मगही तथा भोजपुरी आती हैं। इसका नामकरण प्रसिद्ध भाषा-तत्त्व-विशारद ग्रियर्सन द्वारा सम्पन्न हुआ है। उत्पत्ति की दृष्टि से इसका सम्वन्ध मागधी-अपभ्रंश से है। मैथिली की अपनी अलग लिपि है, जो वंगला से मिलती है। भोजपुरी एव मगही कैथी लिपि मे लिखी जाती हैं। यद्यपि ये तीनो वोलियाँ आज पृथक् है, फिर भी एक को वोलने वाला दूसरे की वोली को आसानी से समझ लेता है। मैथिली मे प्राचीन साहित्य भी उपलव्ध है। भोजपुरी में कवीर तथा धर्मदास के कतिपय पद पाए जाते है। मगही मे साहित्य का सर्वथा अभाव है।

(९) उड़िया—यह वर्तमान उडीसा की भाषा है। वँगला से इसका घनिष्ठ सम्वन्ध है। सातवी या आठवी शताब्दी मे यह वँगला से अलग हुई थी। इसको पृथक् करने वाले वस्तुत ओड्र अथवा उड्र लोग थे, जो दक्षिण-पश्चिमी वँगला मे सुह्द तथा कलिंग के वीच रहते थे। इसका व्याकरण वँगला से मिलता है, पर लिपि कुछ कठिन है। इसमे तेलुगु तथा मराठी के भी अनेक शव्द पाए जाते है। प्राचीन कृष्ण-सम्वन्धी साहित्य भी इसमे पाया जाता है।

(१०) वंगला—यह भाषा गगा के मुहाने और उसके उत्तर-पश्चिम के मैदानो मे वोली जाती है। पूर्वी वँगला तथा पश्चिमी वँगला इसकी प्रधान उपशाखाएँ है। पूर्वी वँगला का केन्द्र ढाका तथा पश्चिमी वँगला का केन्द्र कलकत्ता है। अग्रेज़ो मे पहले सम्पर्क मे आने से यूरोपीय विचारधारा का सर्वप्रथम प्रभाव वँगला भाषा तथा साहित्य पर ही पडा। कलकत्ता विश्वविद्यालय भारत के प्राचीनतम विश्वविद्यालयों में एक है। अग्रेज़ी-

साहित्य ने बँगला की उन्नति में बहुत योग दिया है। आधुनिक बँगला-साहित्य नव्य-आर्य भाषाओं मे सर्वोत्कृष्ट है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय-जैसे विश्वविख्यात कवि एवं लेखक इसी साहित्य मे उत्पन्न हुए है। बँगला भाषा-भाषियों को अपनी मातृभाषा से विशेष अनुराग होता है, अतः इसमें उच्च विषयक पुस्तकें भी लिखी गई है। इसकी अपनी लिपि है तथा सस्कृत के लगभग ४४ प्रतिशत शब्द इसमे तत्सम रूप मे व्यवहृत होते हैं।

(११) **असमिया**—यह असम प्रदेश (आसाम) की भाषा है। यह भी बगला से सम्बन्धित है, पर उसकी तरह यह साहित्य-समृद्ध भाषा नहीं है। इसकी लिपि बँगला ही है। प्रायः प्रत्येक शिक्षित असमिया शुद्ध बँगला बोल लेता है और बंगला साहित्य का रसास्वादन करता है। इसी से असमिया-साहित्य विकसित नही हुआ। अब इस प्रदेश मे गौहाटी मे नवीन विश्वविद्यालय की भी स्थापना हो गई है। अपने साहित्य के प्रति जागरण की भावना इनमे अब आई है और भविष्य मे उच्च साहित्य की आशा की जाती है।

(१२) **मराठी**—यह महाराष्ट्री-अपभ्रंश से प्रसूत है। भारत के पश्चिमी किनारे के दमण गाँव से दक्षिण की ओर गोमतक तथा उत्तर मे नागपुर तक का प्रदेश महाराष्ट्र कहलाता है। यही मराठी भाषा का क्षेत्र है। इसके अन्तर्गत कोकण की भाषा **कोंकणी** तथा बस्तर की भाषा **हलबी** भी आती हैं। कुछ लोग कोकणी को मराठी से स्वतन्त्र भाषा मानते हैं। हलबी पर भी मागधी का पर्याप्त प्रभाव है। पिछले सात सौ वर्षो से मराठी साहित्य का केन्द्रस्थान बदलता रहा है। कभी यह नागपुर मे था तो कभी यह पैठण की ओर चला गया। फिर यह बम्बई राज्य के मध्य मे आया। आज भी साहित्यिक मराठी का आदर्श पुणे के आसपास की भाषा है। इसकी अपनी लिपि देवनागरी ही है, किन्तु नित्य के व्यवहार मे मोडी लिपि का प्रचलन है। मराठी मे विशाल साहित्य-सृजन हुआ है। यहाँ वालो को भी अपनी मातृभाषा से विशेष प्रेम है। अतः कई उच्च विद्वानों ने अपने

विचार दूसरी किसी भाषा में प्रकट न करके मराठी में ही उपस्थित किये है। अतः इसमे भी काफी उच्च विषयक पुस्तकें लिखी गई है।

इन भाषाओं के अरिरिक्त निम्नलिखित भापाएँ भी भारत मे प्रचलित हैं—

१. दरद-आर्य या पैशाची, २. ईरानी-आर्य भाषा।

इनमे दरद-आर्य भाषा के क्षेत्र भारत और अफगानिस्तान की सीमा के दुर्गम पहाड़ी प्रदेश हैं। कश्मीरी (प्रायः पन्द्रह लाख) की गणना दरद-आर्य भाषा के अन्तर्गत ही की जाती है। यह पहले शारदा लिपि नामक देवनागरी के अनुरूप वर्णमाला मे लिखी जाती थी। कश्मीरी पर संस्कृत का प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। शीणा (अडसठ हजार) एवं खोवर या चितराली, मशगाली, पशै आदि उपभाषाएँ अल्पसख्यक लोगो मे प्रचलित है। तथा दरद-आर्य भाषा की ही बोलियाँ हैं।

ईरान शाखा की आर्य भाषाओ में दो मुख्य भाषाएँ पाकिस्तान में प्रचलित है। इनमे एक है पश्तो या पख्तो, दूसरी बलोची। सीमान्त प्रदेश मे प्रायः पन्द्रह लाख पश्तो भाषा-भाषी रहते है। इनके अतिरिक्त अफगानिस्तान मे अनेक पख्तो-भाषा-भाषी वसे हुए है। बलोची वस्तुतः बलोचिस्तान की भाषा है।

कश्मीर के उत्तर में हुजा के नगर-राज्य मे बुरुशास्की या खाजुना नामक एक भापा प्रचलित है, जिसके वोलने वालों की सख्या छब्बीस हजार है। पड़ोस की भाषाओं से इसका सम्बन्ध-सूत्र नही मिलता। यही कारण है कि अभी तक इसका वर्गीकरण नही हो सका है। कतिपय भाषा-विज्ञानी कोल भाषा से इसका सम्वन्ध जोडते है, किन्तु अन्य विद्वान् इसका काकेश प्रान्त की भाषा से सम्वन्ध वतलाते है।

इन चारो परिवारो मे आस्ट्रिक या निपाद एवं भोट-चीनी भाषाओं का भारत मे विशेष महत्त्व नही है। जो लोग इन परिवारो की भापाएँ वोलते है उन्हे इनके अतिरिक्त एक आर्य भापा अवश्य सीखनी पडती है, किन्तु इससे यह तात्पर्य नही है कि इन भापाओ का सरक्षण न किआ जाए।

वस्तुत. जिन लोगो की ये मातृभापाएँ है उन्हे इस वात के लिए उत्साहित करना चाहिए कि वे इन्हे जीवित रखे।

ठीक यही वात साहित्यविहीन पिछडी हुई द्रविड भापा के सम्वन्ध मे भी है। जो लोग गोडी, ओराँव, कन्ध आदि भाषाओ अथवा वोलियों को वोलते हैं उनके लिए भी तेलुगु, उडिया, हिन्दी, मराठी आदि सुसभ्य द्रविड़ अथवा आर्य-भापाओ मे से किसी एक को सीखना आवश्यक है।

दक्षिण की भापाओ मे तमिल और मलयालम् भापा-भापी एक-दूसरे की भापा को समझ लेते है; किन्तु इस सम्वन्ध मे वस्तु-स्थिति यह है कि इन दक्षिण की भापाओ मे कोई एक ऐसी भापा नही है जिसके माध्यम से सभी द्रविड भापा-भापी अपना काम चला सके। यही पर राष्ट्रभापा हिन्दी की आवश्यकता पडती है। जव ये विभिन्न द्रविड भाषा-भाषी पारस्परिक विचार-विनिमय करना चाहते है अथवा जव वगला, मराठी, पजावी, गुजराती, उडिया, मारवाडी, नेपाली, भोजपुरी अथवा असमिया भाषा-भापी किसी एक स्थान पर मिलते है और वे सस्कृत या अग्रेज़ी नही जानते तो अपने विचार व्यक्त करने के लिए उन्हे हिन्दी का ही सहारा लेना पड़ता है। वास्तव मे भारत-जैसे महाराष्ट्र मे, राष्ट्रभाषा के रूप मे हिन्दी एक वरदान है। यद्यपि आज भी शिक्षित लोग अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप मे अग्रेजी का उपयोग करते है, तथापि भविष्य मे यह स्थिति रहने वाली नही है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वाद आज प्रत्येक भारतवासी इस वात को अनुभव करने लगा है कि अन्तर्प्रान्तीय माध्यम के रूप मे अग्रेजी का उपयोग भारत के स्वाभिमान के प्रतिकूल है। आज से कई वर्ष पूर्व राष्ट्रपिता वापू ने इस वात का भली भाँति अनुभव किया था। इसी के परिणामस्वरूप उन्होने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की सहायता से दक्षिण मे राष्ट्रभापा हिन्दी के प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया था। खादी के उपयोग तथा अस्पृश्यता के निवारण के साथ-साथ राष्ट्रपिता ने प्रत्येक भारतवासी के लिए राष्ट्रभापा का ज्ञान भी अनिवार्य वतलाया था। इस प्रकार वहुत पहले से ही राष्ट्र-भापा के पद पर हिन्दी आसीन हो चुकी थी, किन्तु स्वतन्त्रता के वाद जव

भारत का संविधान स्वीकृत हुआ तो नियमानुकूल हिन्दी को राष्ट्रभापा घोपित किया गया। यह कार्य भारत की प्रतिष्ठा तथा स्वाभिमान के सर्वथा अनुकूल था।

हिन्दी का विकास तथा उसका महत्त्व

भारत के इतिहास मे गगा-यमुना के वीच की भूमि अत्यधिक पवित्र मानी गई है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही हिमालय तथा विन्ध्यपर्वत के वीच की भूमि आर्यावर्त के नाम से प्रख्यात है। इसी के वीच में मध्य देश है जो भारतीय सस्कृति तथा सभ्यता का केन्द्र-बिन्दु है। सस्कृत, पालि तथा शौरसेनी प्राकृत इस मध्यदेश की विभिन्न युगो की भाषाएँ थी। आगे चलकर इस प्रदेश मे शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार हुआ। यह कथ्य (वोलचाल का) शौरसेनी अपभ्रश ही कालान्तर में हिन्दी के रूप मे परिणत हुआ। किसी समय इस शौरसेनी अपभ्रंश के साहित्यिक रूप का महाराष्ट्र, सिन्धु प्रदेश, पश्चिमी पंजाव, कश्मीर, विहार, वगाल तथा नेपाल तक व्यवहार होता था। तुर्कों के आक्रमण के पूर्व राजपूत राजाओं की सभा मे इस साहित्यिक अपभ्रश की अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। इसी को उत्तर काल के राजपूताना के चारण तथा भाट पिंगल भी कहते थे। किन्तु वारह-तेरहवी शताब्दी मे यह अपभ्रश भी वहुत-कुछ प्राचीन हो चला था; क्योकि वोलचाल की भापा तथा इनमे पर्याप्त पार्थक्य हो गया था। तुर्कों की विजय के फलस्वरूप जव पंजाव से वगाल तक राजपूत राज्यों का अन्त हो गया तो इस साहित्यिक अपभ्रंश या पिंगल की मर्यादा का भी ह्रास हुआ।

इसी समय अपभ्रंश की साहित्यिक धारा लोक-भाषाओ मे प्रवाहित होने लगी। उत्तर-पश्चिम भारत मे यह धारा राजस्थानी, गुजराती और मथुरा प्रदेश की व्रजभापा तथा आशिक रूप मे पूर्वी हिन्दी की विभाषा कोसली (अवधी) में आई। तुर्कों के आक्रमण का प्रभाव प्रारम्भ में इन लोकभापाओ पर नही पड़ सका।

सवसे पहले सिन्धु प्रदेश पर अरव वालो ने अधिकार किया था, किन्तु

वाद में वहाँ पर इनके राज्य का अन्त हो गया। इधर पश्चिम-उत्तर
सर्वप्रथम गज़नवी राज्य स्थापित हुआ और धीरे-धीरे उसकी सीमा दिल्ल
तक पहुँच गई। इस प्रकार सर्वप्रथम तुर्कगण दिल्ली की भाषा के सम्पर्क
आये। यह भापा पजाव की भापा से विशेप साम्य रखती थी।

फारसी वोलने वाले इन तुर्कों के राजदरवार मे जव फरसी नह
वोली जाती थी तो उस समय यह दिल्ली की वोली ही वोलचाल मे प्रयुक
होती थी। इसी प्रकार पंजावी से प्रभावित दिल्ली की इस वोली की महत्त
वढ़ चली। यद्यपि पहले इसमे फारसी शव्द जान-वूझकर नही भरे जाते
फिर भी उसमे फारसी का प्रभाव होना स्वाभाविक ही था। प्रारम्भ
इसमे कोई साहित्य नही था। उस समय के लेखकों की साहित्यिक अभि
व्यक्ति का माध्यम डिंगल, व्रजभापा, अवधी अथवा मैथिली थी। किन्
दिल्ली की वोली धीरे-धीरे विकसित होती रही, जैसा कि कवीर की रच
नाओ (१५वी शती) में पडे हुए प्रभाव से स्पप्ट है। साहित्य मे प्रयुक्त
होने के लिए यह वोली धीरे-धीरे अग्रसर हो रही थी। इसके लिए १७वीं
शती मे दक्षिण से प्रेरणा मिली।

१४वी शती से ही उत्तर भारत के मुसलमान विजेता दक्षिण में प्रविष्
होने लगे थे और गोलकुण्डा तथा वीजापुर (१६वी शती) मे उन्होंने
उत्तर भारत से स्वतन्त्र एक साहित्यिक भापा विकसित की, जिसका मूला-
धार उन्होने पंजावी तथा दिल्ली के आसपास की वोली को रखा। इसी
को दखनी या दकनी कहकर अभिहित किया जाता है। मिश्रित होने के
कारण यह रेख़्ता कहलाती है; स्त्रियो की वोली को रेख़्ती भी कहा जाता
है। दक्षिण से लाकर दिल्ली मे इसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय औरगावाद-
निवासी वली को दिया जाता है।

प्रारम्भ से ही दक्षिण की वह वोली फ़ारसी लिपि मे लिखी जाती रही,
प्रारम्भ में इसका शव्द-समूह भारतीय था, वाद मे धीरे-धीरे वह फारसी
से प्रभावित होने लगा। इस प्रकार दकनी ने कथावस्तु तथा विधान दोनो
की दृष्टियो से फारसी साहित्य को अपना आदर्श माना। १७वी शती के

अन्त मे दकनी बोली का प्रभाव दिल्ली की भाषा पर भी पड़ा। दिल्ली की भाषा ब्रजभाषा के साथ-साथ हिन्दवी, हिन्दी या हिन्द्वी कहलाती थी। यह बोली, जब १७वी शती मे मुगल सेनाओ के साथ-साथ दक्षिण मे पहुँची तो वहाँ उसे 'जबाने-उर्दू-ए-मुअल्ला' या 'शाही तम्बू की भाषा' या 'शाही दरबार की भाषा' कहा गया। बाद मे १८वी शती के उत्तरार्द्ध मे यह नाम सक्षिप्त होकर 'जबाने-उर्दू' और फिर बाद मे केवल 'उर्दू' रह गया। उत्तर भारत के मुसलमानो ने दकनी को साहित्यिक भाषा का पूर्ण रूप दे दिया और साहित्य मे प्रयुक्त होने वाली उर्दू १८वी शती मे अस्तित्व में आई। मुगल अभी तक ब्रजभाषा का प्रयोग करते थे, परन्तु बाद मे उन्होने इस दिल्ली की बोली को अपनाया।

उत्तर भारत के हिन्दुओं ने पहले तो इस दिल्ली की बोली को 'यामनी' या 'यावनी' कहकर तिरस्कृत किया, परन्तु फिर मुगल दरबार के उत्तरोत्तर बढते प्रभाव के फलस्वरूप उन्होने उसका प्रयोग करना प्रारम्भ किया। परन्तु जब वे उसमे कुछ साहित्य-रचना करते थे, तो उनका झुकाव स्वभावत. हिन्दी के तद्भव तथा सस्कृत शब्द-समूह की ओर अधिक रहता था। इसे लिखते समय वे नागरी लिपि का प्रयोग करते थे। दिल्ली का जब एक राजघराना लखनऊ मे आकर बस गया तो इस बोली का क्षेत्र और भी विस्तृत हुआ और पूर्व मे कलकत्ता तक इसकी सत्ता प्रतिष्ठित हुई। १७वी शती के अन्त मे दखनी से भिन्नता प्रकट करने के लिए इस दिल्ली की बोली को हिन्दोस्तानी या हिन्दुस्तानी नाम दिया गया, जिसके पर्शियन 'स्तानी' को सस्कृत 'स्थानी' से बदलकर लोगो ने उसे हिन्दुस्थानी बना लिया। १९वी शती के प्रारम्भ मे इस दिल्ली की बोली को खड़ी बोली कहा जाने लगा। ब्रजभाषा के माधुर्य के प्रतिकूल इसकी अपेक्षाकृत कर्णकटुता को देखकर ही इसे यह नाम दिया गया होगा। इस प्रकार उत्तर भारत की ही एक बोली दक्षिण मे जाकर, साहित्यिक रूप ग्रहण कर बाद मे फिर उत्तर भारत मे हिन्दी एवं उर्दू के रूप मे स्थापित हुई। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी का मूलाधार दिल्ली के आसपास मेरठ-बिजनौर की बोली को

ही माना जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्यिक खडी वोली हिन्दी की अपेक्षा खड़ी वोली उर्दू का व्यवहार पहले होने लगा था।

खड़ी बोली की प्रतिष्ठा

१८वी शती मे व्रजभाषा की शक्ति क्षीण हो चुकी थी: साथ ही मुसलमानो के बीच खडी वोली उर्दू जोर पकड़ चुकी थी। १९वी शती के आरम्भ मे अग्रेजी अधिकारियो ने, जिनमे जॉन गिलक्राइस्ट का नाम प्रमुख है, हिन्दुओ के लिए खड़ी वोली गद्य के सम्वन्ध मे कुछ प्रयोग करवाए, जिनके फलस्वरूप फोर्ट विलियम कॉलेज मे लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। प्रारम्भ के इन खड़ी वोली के ग्रन्थो पर व्रजभाषा का प्रभाव रहना स्वाभाविक है। 'प्रेमसागर' मे तो व्रजभाषा के प्रयोग वहुत अधिक पाए जाते है। खड़ी बोली हिन्दी का गद्य-साहित्य मे प्रचार १९वी शती के उत्तरार्द्ध मे हुआ, और इसका श्रेय साहित्य के क्षेत्र मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा धर्म के क्षेत्र मे स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। मुद्रण-कला के साथ-साथ खडी बोली का प्रचार वहुत तेजी से वढ़ा। १९वी शती तक पद्य मे प्राय. व्रजभाषा का प्रयोग होता रहा, किन्तु २०वी शती मे आते-आते खड़ी वोली हिन्दी सम्पूर्ण मध्यदेश की गद्य और पद्य दोनो ही की, एकमात्र साहित्यिक भाषा हो गई। खड़ी वोली पद्य के प्रारम्भ मे कवियो की भाषा मे भी लल्लूलाल आदि प्रथम गद्य-लेखको के समान व्रजभाषा की झलक पर्याप्त है। इस प्रकार गत डेढ-दोसौ वर्ष से साहित्यिक खड़ी वोली हिन्दी मेरठ-विजनौर की जनता की खडी वोली से स्वतन्त्र होकर अपने ढग से विकास को प्राप्त हो रही है। स्वाभाविक वोली के प्रभाव से पृथक् हो जाने के कारण इसके व्याकरण का ढाँचा तथा शब्द-समूह निराला होता है। तो भी अभी तक आधुनिक हिन्दी-व्याकरण का स्वरूप मेरठ-विजनौर की खड़ी वोली से वहुत अधिक भिन्न नही हो पाया। भेद की अपेक्षा साम्य की मात्रा विशेष है।

इस प्रकार सस्कृत से लेकर आधुनिक खड़ी वोली हिन्दी तक के विकास

को इस रूप में समझा जा सकता है—

संस्कृत—पाली—शौरसेनी प्राकृत—शौरसेनी अपभ्रंश या पश्चिमी अपभ्रंश—ब्रजभाषा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा पूर्वी पंजाब की बोली (मेरठ-बिजनौर की खड़ी बोली)—आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी।

इस विकास-क्रम को समझते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि कोई भी एक भाषा दूसरी भाषा से नहीं निकलती है, वस्तुतः यह एक ही बोलचाल की कथ्य भाषा है जो विभिन्न परिस्थितियों के प्रभाव से स्थान-स्थान पर साहित्यिक भाषा को जन्म देती हुई अबाध गति से आगे बढ़ती रही है।

विभिन्न नाम

दखनी या दकनी—दक्षिण में ले जाई गई दिल्ली की बोली, जो बाद में अपने साहित्यिक रूप में दिल्ली में फिर आकर प्रतिष्ठित हो गई।

रेख्ता तथा रेख्ती—उक्त दखनी या दकनी अपने मिश्रित स्वरूप के कारण रेख्ता कहलाती है। स्त्रियों की बोली रेख्ती कही जाती है।

उर्दू—'उर्दू' शब्द तुर्की भाषा का है, जिसका अर्थ है शाही पड़ाव। वस्तुतः उर्दू दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली, पंजाबी से कुछ प्रभावित वह भाषा है जिसका प्रयोग दिल्ली के शासकगण साधारण जनता से बोल-चाल के लिए करते रहे। इस प्रकार उर्दू का जन्म शाही पड़ाव या खेमों में ही हुआ।

हिन्दी, हिन्दवी, हिन्द्वी—ब्रजभाषा और हिन्दुओं द्वारा प्रयुक्त दिल्ली की वह बोली जिसमें फारसी प्रभाव नहीं था तथा जो नागरी लिपि में लिखी जाती थी।

हिन्दुस्तानी, हिन्दोस्तानी या हिन्दुस्थानी—दखनी से भिन्नता प्रति-पादित करने के लिए उत्तर भारत की बोली को दिये गए इन नामों में से प्रथम दो अंग्रेजों के मस्तिष्क की उपज है। हिन्दुस्थानी 'हिन्दुस्तानी' का ही भारतीय प्रतिरूप है।

खड़ी बोली—दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली मेरठ-विजनौर की बोली को, जो व्रजभाषा की अपेक्षा कर्ण-कटु थी, यह नाम दिया गया।

राष्ट्रभाषा हिन्दी

भारतीय संविधान के अनुसार नागरी लिपि मे लिखी हुई हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा घोषित की जा चुकी है। इस सम्बन्ध मे अब और कुछ कहना शायद अप्रासगिक तथा असंगत होगा, पर इसके स्वरूप के सम्बन्ध मे साधारण जनता मे ही नही वरन् विद्वानों मे भी जो भ्रम फैले हुए हैं उनके निवारणार्थ यहाँ दो-एक बातों का उल्लेख आवश्यक है।

व्यावहारिक दृष्टि से किसी भाषा-विशेष के तीन पक्ष होते है—

१. लिपि, २ व्याकरण, और ३. शब्द-समूह।

१. लिपि—राष्ट्रभाषा हिन्दी की लिपि देवनागरी मानी जा चुकी है। नागरी की श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे युक्तियाँ देना आवश्यक है। यहाँ इतना कहना ही अलम् होगा कि चाटुर्ज्या-जैसे भारतीय विद्वानों तथा स्तुर्तवाँ आदि अनेक विदेशी भाषा-विज्ञानियों ने नागरी को सर्वगुण-सम्पन्न एवं सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि कहा है।

२. व्याकरण—राष्ट्रभाषा हिन्दी का व्याकरण मूलतः मेरठ-विजनौर की खड़ी वोली के व्याकरण पर आधारित है। इसके नियमो मे ढिलाई लाना वस्तुतः हिन्दी भाषा के रूप को विकृत करना होगा।

३. शब्द-समूह—व्यावहारिक दृष्टिकोण से कदाचित् शब्द-समूह भाषा-विशेष का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के शब्द-समूह के सम्बन्ध मे दो-एक वातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

(क) राष्ट्रभाषा हिन्दी निश्चित रूप से संस्कृतनिष्ठ होनी चाहिए, क्योंकि वंगला, मराठी आदि अन्य प्रान्तीय भाषाओं और हिन्दी के वीच यह संस्कृत शब्द-समूह ही एक मिलन-शृंखला है। सस्कृतनिष्ठ होने पर ही हिन्दी आर्य-भापा-भापी और द्रविड़-भाषा-भाषी प्रान्तों मे समझी जा सकती है। उच्च सस्कृति के शब्द (culture-words) तो निश्चित रूप से संस्कृत से ही आने चाहिएं।

(ख) परन्तु हिन्दी शब्द-समूह मे सस्कृत का आग्रह नही होना चाहिए। ऐसा होने से भाषा मे कृत्रिमता और दुरूहता आ जाएगी। इसके लिए आवश्यक है कि नित्यप्रति की बोलचाल के तद्भव शब्दों को अधिकाधिक प्रश्रय देना चाहिए। वैज्ञानिक शब्दावली में भी कुछ तद्भव एवं ग्रामीण बोलियों के शब्द आसानी से खप सकते है। इस प्रकार के शब्द हमारी भाषा की वास्तविक सम्पत्ति हैं। इनको हिन्दी मे मिलाने से ही उसका कोष व्यापक एवं सर्वार्थप्रद हो सकेगा। जहाँ पर इस प्रकार के देशी शब्द न मिल सकें वहाँ उनके लिए सस्कृत से शब्द लेने चाहिए, अथवा संस्कृत के आधार पर नये शब्द गढ़ने चाहिए।

(ग) फारसी तथा अंग्रेजी-जैसी विदेशी भाषाओं के वे शब्द जो हमारी भाषा मे बस गए है, हमारी भाषा की प्रकृति के अनुकूल हो गए है, उनको हमे तिरस्कृत न करना चाहिएँ। वस्तुतः विदेशी भाषाओ के अनिवार्य शब्द हिन्दी मे आने चाहिए, परन्तु उन्हे अपनी भाषा मे मिलाने के लिए हमें उनमे उचित ध्वन्यात्मक परिवर्तन करना होगा।

लिपि

हिन्दी देवनागरी लिपि मे लिखी जाती है और लिखी जानी चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नागरी लिपि की वैज्ञानिकता की प्रशंसा देशी और विदेशी सभी विद्वानो ने मुक्त कण्ठ से की है।

प्राचीन भारत में दो लिपियाँ प्रचलित थी—पश्चिमोत्तर भारत मे खरोष्ठी तथा शेष भारत मे ब्राह्मी लिपि। खरोष्ठी लिपि, जो दाईं से बाईं ओर लिखी जाती थी, निश्चित रूप से विदेशी लिपि थी और सेमेटिक से सम्बद्ध थी। ब्राह्मी लिपि भी, जो भारत की राष्ट्रीय लिपि थी, कुछ यूरोपीय विद्वानो के अनुसार सेमेटिक उद्गम थी; किन्तु ओझाजी आदि अधिकांश विद्वानो का मत यह है कि इसका आविष्कार भारतवर्ष मे ही भारतीय प्रतिभा द्वारा हुआ था। आगे चलकर ब्राह्मी लिपि की दो प्रधान शैलियाँ हो गई थी—

१. उत्तर भारत की शैली, जिसके अन्तर्गत मध्यकाल की गुप्त लिपि तथा कुटिल लिपि आती है। अन्तिम से आधुनिक काल में उत्तर भारत की समस्त लिपियाँ, जिनमे देवनागरी भी सम्मिलित है, विकसित हुई।

२. ब्राह्मी की दक्षिण की शैली से दक्षिण की समस्त लिपियाँ विकसित हुई, जैसे ग्रथ लिपि, तमिल लिपि, तेलुगु लिपि इत्यादि।

नवीनतम मतों के अनुसार कुछ विद्वान् ब्राह्मी लिपि का सम्बन्ध मोहन-जोदडो और हडप्पा मे उपलब्ध लेखों की लिपि से जोडते हैं। परन्तु विद्वानो का वहुमत इस पक्ष मे नही है। उनके अनुसार उक्त लिपि का ब्राह्मी से कोई सम्बन्ध नही; वे उसे सुमेरी लिपि से सम्वन्धित वताते हैं।

भारतीय भापाओ को अकित करने के लिए डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इण्डो-रोमन का नाम रोमन लिपि का ही एक सशोधित रूप उपस्थित किया है (यद्यपि इस सुझाव के अस्वीकृत होने पर भी वे देवनागरी को ही अपनाने के पक्ष मे है), पर इसके भारतीय जनता द्वारा स्वीकृत होने की कोई सम्भावना प्रतीत नही होती है। वस्तुत. भारत की राष्ट्र-लिपि देव-नागरी ही है।

परिशिष्ट

हिन्दी के प्रमुख रूपों और बोलियों के उदाहरण

१ ब्रज—मीतरौल एक गाम है। वामें एक दिनाँ फौज ने पड़ाव डार्यौ। फौज के सग तोपखानोऊँ ओ। गाम के मानिख वाकौ तमासौ देखिबे चले आए। फौजवारे ते वोले—जि कहाऐ? फौजीन् नैं कही कैं जि तोप ऐ। गामवारे वोले—जिन्ते कहा होतु ऐ? फौजवारे ने कही—इनन्ते चलाइ कैं लडाई लड़ी जाति ऐ।

२. अवधी—याक घरे माँ कथा कही जात रही। पडित जौन कथा कहत रहे सगरे गाँव का न्योतिन रहे। सुनवैयन माँ याक अहिरी आवत रहै। ऊ कथवा सुनती वेरा रवावा वहुत करै, औ पंडितौ वहिका प्रेमी जान के वहि का नीकी तना वैठावे औ खूब खातिर करै।

३. **ग्रामीण खड़ी बोली**—कोई वादसा था। साव उसके दो राण्याँ थी। एक के तो दो लड़के थे और एक के एक। वो एक रोज अप्नी रान्नी से केने लगा, मेरे समान और कोई वादसा है बी ? तो वड़ी वोल्ले के राजा तुम समान ओर कोन होग्गा, जेस्सा तुम वेस्सा और कोई नई। छोट्टी से पुच्छ्या के तुम बी वतला मुज समान कोई ओर बी राजा है के नई ? कि राजा मुज्से मत वुज्भो।

४ **हिन्दुस्तानी**—सन १८५७ ई० के गदर मे खास करके सिपाही लोग शरीक हुए थे। कही-कही, जैसे अवध मे आम लोग भी शरीक हुए थे। उन्हे डर इस वात का था कि अंग्रेज़ी सरकार उनकी जाति नाश करने की कोशिश कर रही है। उनका मतलव यह कभी न था कि वे अंग्रेज़ो से इस देश को जीत लेवे और अपनी रियासत कायम करें।

५ **साहित्यिक हिन्दी**—कुछ विद्वानो का यह आक्षेप है कि शरत् ने अपनी कृतियो मे उन्ही पुरुप पात्रो को चित्रित किया है जो नारी-हृदय की महत्ता का शिकार हो चुके है; और यह अनुचित है। परन्तु यह धारणा वहुत अधिक समीचीन नही कही जा सकती क्योकि आज के सामाजिक जीवन मे भले ही पुरुष की महत्ता नारी से कही अधिक वढी-चढ़ी हो, फिर भी स्वयं पुरुष के ही निर्माण मे नारी का वहुत वड़ा हाथ है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता।

६ **उर्दू**—हमारे पेट की नामुराद सड़को की भी मरम्मत हो और हमारे टूटे हुए दिलों पर भी इमारते चुनवाओ। हम भी पुराने जमाने की निशानियाँ है। हमको भी जिन्दा आसार कदीम मे लोग समझते है। हमका भी सहारा दो, मिटने से वचाओ। खुदा तुमको सहारा देगा और वचाएगा।



हिन्दी साहित्य

भूमिका

'सहितस्य भावं साहित्यम्' के अनुसार ज्ञानराशि के सञ्चित कोष का नाम 'साहित्य' है। परन्तु यह परिभाषा बहुत ही व्यापक है। प्राचीन शास्त्रो मे इस अर्थ मे 'वाङ्मय' शब्द का प्रयोग किया गया है और 'साहित्य' को 'काव्य' के अनुसूचक रूप मे स्वीकार किया है। वस्तुत साहित्य का जगत् भावना और कल्पना का जगत् है। इस भावना तथा कल्पना को मनुष्य एक-दूसरे को वाणी द्वारा बतलाने की चेष्टा करते हैं। आदिकाल से ही मानव-समाज मे अभिव्यजना-शक्ति चली आई है। इसी शक्ति की प्रेरणा से साहित्य की रचना होती है। अत. आचार्य श्यामसुन्दर-दास के मतानुसार हम कह सकते है—"मनुष्य की इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से ज्ञान और आनन्द के उस भण्डार का सृजन, सचय और सवर्द्धन होता है जिसे हम साहित्य कहते है।" समष्टि रूप में साहित्य मानवता का दर्पण है। अत. मानव-समाज की चित्त-वृत्तियो का ही इसमे प्रमुख स्थान होता है तथा इन्हीका स्पष्ट प्रतिबिम्ब हम साहित्य मे पाते है। समाज परिस्थितियो का दास है। प्रत्येक देश की जनता अपनी तात्कालिक राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो से ही प्रभावित होकर एक ही प्रकार की विचार-धारा से प्रेरित रहती है और इन्ही के द्वारा समाज की चित्त-वृत्तियो मे परिवर्तन होता है। इनसे ही साहित्य-कारो की रुचि, उनकी लेखनी, भावो एवं कल्पनाओ मे भी क्रान्ति उपस्थित होती है। अत जनता की चित्त-वृत्तियो के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता चलता है। उदाहरणार्थ यवन-आक्रमण ने वीररस-पूर्ण कविताओ को जन्म दिया। तत्पश्चात् धार्मिक परिस्थितियाँ कबीर एव जायसी की सुधारवादी भक्तिपूर्ण काव्य-धारा का कारण हुई तथा मुगलकालीन विलासिता से रीतिकाल विकसित हुआ। अत. आदि

से अन्त तक मानव-समाज का इन्ही विचार-धाराओ की परम्परा को परखते हुए उनका साहित्य के साथ सामंजस्य या मेल दिखलाने वाली रचना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाती है।

विश्व के प्रत्येक सभ्य देश का साहित्य स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है। जिस प्रकार हमारी सस्कृति आदिकाल से ही मौलिक रही है उसी भाँति भारतीय साहित्य का भी विकास अन्यान्य कलाओ के साथ स्वतन्त्र तथा मौलिक रूप से हुआ है। हिन्दी-साहित्य पर भी इस मौलिकता की स्पष्ट छाप है और अपने अन्दर स्थिति-समन्वय की भावना की विशेषता के कारण ही संसार के अन्य साहित्यो के समक्ष वह अपनी विजय-वैजयन्ती फहराने मे समर्थ है। हमारे यहाँ साहित्य मे वर्णित सुख-दु ख, हर्ष-शोक, उत्थान एवं पतन इत्यादि के प्रवल घात-प्रतिघातो का अन्त आनन्द मे ही किया गया है। यहाँ साहित्य पर आध्यात्मिक तथा अलौकिक विचारो की गहरी छाप है। अतः साहित्य मे भी हमे आदर्शवादिता के ही दर्शन होते है, वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की ओर विशेष ध्यान गया है। हिन्दी-साहित्य ने शैशवावस्था से ही भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की रक्षा की है। जिस भाँति भारतीय दर्शन का प्रधान ध्येय कैवल्य की प्राप्ति रहा है उसी भाँति हिन्दी-साहित्य मे भी मानव-हृदय के 'सत्यं शिव सुन्दरम्' की अभिव्यंजना तथा भारत के जातीय जीवन की अभिव्यक्ति है। देश की भौगोलिक स्थिति का भी हिन्दी-साहित्य पर विशेप प्रभाव पड़ा है और इसी के कारण प्रकृति के सश्लिष्ट तथा सजीव चित्र मार्मिकता तथा उत्तमता से अकित किये गए है। इस साहित्य मे भारतीय संगीत का भी समावेश है और स्वरो तथा लयों का अद्भुत सामजस्य प्रदर्शित किया गया है।

ऊपर हम कह चुके है कि जनता की चित्त-वृत्ति की सचित राशि को ही साहित्य कहते हैं, अत· जनता की विचार-धारा के अनुसार हिन्दी-साहित्य का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहा है। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य को प्रारम्भ से अव तक पाँच कालो में विभक्त किया जा सकता है—

१. अपभ्रश या 'पुरानी हिन्दी'-काल	सम्वत्	७०० से १०५० तक
२. वीरगाथा-काल	,,	१०५० से १४०० तक
३. भक्तिकाल	,,	१४०० से १७०० तक
४. रीतिकाल	,,	१७०० से १६०० तक
५ आधुनिक काल	,,	१६०० से अब तक

इन कालो के नामकरण से यह नही समझना चाहिए कि उपर्युक्त विभिन्न कालो मे अन्य प्रकार की रचनाएँ हुई ही नही और काल-विभाजन की ये तिथियाँ अकाट्य है। पर इतना तो अवश्य है कि किसी काल-विशेप मे एक प्रकार की प्रवृत्ति की प्रधानता अन्य प्रवृत्तियो के वेग को क्षीण कर देती थी। साहित्य के इतिहास का यह काल-विभाजन अध्ययन की दृष्टि से बडा सहायक होता है।

संवत् ७०० से १०५० तक

अपभ्रंश या 'पुरानी हिन्दी'-काल

सामान्यत. हिन्दी-साहित्य के आदिकाल का आरम्भ ११वी शताब्दी से माना जाता है। कुछ विद्वान् स० ७७० मे पुण्ड या पुष्य नाम के किसी कवि द्वारा लिखित एक लक्षण-ग्रन्थ को हिन्दी की प्रथम रचना तथा उसके रचयिता को प्रथम साहित्यकार मानते हैं। रचना और रचयिता दोनो के ही सम्बन्ध मे अभी तक कुछ प्रामाणिक रूप से ज्ञात नही हो सका है। वैसे भी एक लक्षण-ग्रन्थ को किसी साहित्य के शैशवकाल की पहली पुस्तक मानना और उसके पश्चात् दो-तीन सौ वर्ष तक हिन्दी में किसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक का न लिखा जाना, ये बाते बेतुकी जान पड़ती है। भाषाएँ एक रूप से दूसरे रूप मे धीरे-धीरे विकसित होती है। उनके बीच कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा नही खीची जा सकती। साहित्य के प्रांगण मे आने के पूर्व न जाने कितने समय तक भाषा बोलचाल के रूप मे चलती रहती है। साहित्य में प्रवेश करने पर उसका परिवर्तन मन्द पड़ जाता है और उसके इस संक्रमण-काल मे प्राचीन साहित्यिक भाषा भी चलती रहती है। अत: एक-दूसरे का आदि-अन्त परस्पर पूरक होकर भ्रमोत्पादक होता है। अपभ्रंश के अन्त तथा हिन्दी की उत्पत्ति दोनों के बीच यही भ्रम उपस्थित हो जाता है। हिन्दी की उत्पत्ति अपभ्रश से ही हुई है और इस प्रकार इसका समय हम विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी निर्धारित कर सकते हैं, क्योकि इसी समय से हम हिन्दी-साहित्य की अटूट शृंखला पाते हैं। पर यह समय हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र मे प्रवेश करने का है, दैनिक व्यवहार मे प्रविष्ट होने का नही।

हिन्दी भाषा तथा साहित्य के स्वरूप को समुचित रूप से समझने के

लिए उसके पूर्ववर्ती अपभ्रश-साहित्य का भी सक्षेप मे परिज्ञान प्राप्त कर लेना अत्यावश्यक है। महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' माना है। राहुलजी की मान्यता का आधार यह तथ्य है कि अपभ्रंश प्राचीन सस्कृत, पालि तथा प्राकृत-परम्परा से तो वहुत दूर है और हिन्दी के काफी निकट है। इस 'पुरानी हिन्दी' मे वहुत अधिक साहित्य तो नही मिलता, किन्तु जो कुछ भी मिलता है वह हिन्दी-साहित्य की भावी प्रगति का स्पष्ट दिशा-निर्देशन करता है।

अपभ्रश-साहित्य का समय आठवी शताब्दी से ग्यारहवी शताब्दी है। इसमे मुख्यत: दो प्रकार का साहित्य उपलब्ध होता है—(१) सिद्ध-साहित्य, तथा (२) जैन-साहित्य।

१. सिद्ध-साहित्य—बौद्ध धर्म जव विनाश की ओर अग्रसर हुआ तो उसने मन्त्र-तन्त्र तथा योग-साधनाओ का आश्रय लिया। इसी विकृत वौद्ध धर्म का एक परवर्ती रूप सिद्धो की परम्परा है। यह वैसे वौद्ध धर्म के वज्रयान सम्प्रदाय से ही उद्भूत हुई थी किन्तु वाद मे इसमे ईश्वरवाद की भावना जोर पकडने लगी। वास्तव मे मन्त्रो द्वारा सिद्धि प्राप्त करने की युक्ति प्रचारित करने वाले साधक को 'सिद्धि' नाम से अभिहित किया जाता था। इन्होंने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन एक ऐसी भापा मे किया जो लोक-प्रचलित और मागधी अपभ्रश से प्रसूत थी। सिद्धों की सख्या ८४ मानी जाती है, जिनमे १४ ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन काव्य द्वारा किया।

सवसे प्राचीन सिद्ध कवि सरहपा है। डॉ० विनयतोप भट्टाचार्य ने इनका समय सं० ६९० माना है, किन्तु श्री राहुल साकृत्यायन ने इनका आविर्भाव-काल स० ८१७ मे निर्धारित किया है। इनके लिखे ३२ ग्रन्थ वतलाये जाते है जिनमे 'दोहा-कोप' ने विशेप प्रसिद्धि पाई। वाह्याडम्वर और व्राह्मण-कर्मकाण्ड का इन्होने अपनी रचनाओ मे सर्वत्र विरोध किया है। सिद्धो के सामान्य अभिचारो के अतिरिक्त जीवन के सयमपूर्ण पक्ष को ही विशेप रूप से चित्रित किया गया है। शवरपा (स० ८३७), मुसुकपा

(सं० ८५७), लुइपा (स० ८८७), विरुपा (स० ८८७), डोम्बिपा (स० ८९७) आदि सिद्धों ने अपभ्रश भाषा मे रचना करके इस परम्परा को अक्षुण्ण वनाये रखा।

सरहपा के वाद महत्त्व की दृष्टि से दूसरा नाम गोरक्षपा का है। इन्ही का दूसरा नाम गोरखपा है। इनका समय स० ९०२ माना जाता है। इन्होने परम्परागत सिद्ध-सिद्धान्तों मे कुछ सुधार और परिवर्तन भी किये। इस परम्परा के अन्तिम रचनाकार शान्तिपा थे। इनका समय स० १००७ माना जाता है। ये पण्डित तथा विद्वान् थे।

सिद्धो ने अपनी भाषा लोक-प्रचलित और सरल ही रखी। इनकी भापा को 'सन्ध्या भाषा' कहा जाता है। सामान्यत इन्होने सयमपूर्ण जीवन का ही प्रतिपादन किया, यद्यपि सम्प्रदायगत अभिचारो का भी इन्होने कम प्रचार नही किया।

२. जैन-साहित्य—जैनियो ने अपने प्रचार का आधार शौरसेनी (नागर) अपभ्रंश से प्रसूत भाषा को बनाया, जिसमे अर्द्धमागधी का छौंक था। अत भाषावैज्ञानिक दृष्टि से जैन-साहित्य हिन्दी के अधिक निकट है (जो कि शौरसेनी अपभ्रंश से ही निकली है)। इसके अतिरिक्त आरम्भिक हिन्दी-साहित्य में जैन-सिद्धान्तो पर आधारित पर्याप्त साहित्य है, इसलिए इस साहित्य का अध्ययन हिन्दी-साहित्य की उत्पत्ति और विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

जैन-साहित्य मे सर्वप्रथम नाम 'स्वयभू रामायण' का आता है। इस रामायण का वास्तविक नाम 'पउमचरिउ (पद्मचरित) है। इसके रचयिता है महाकवि स्वयभूदेव। 'पउमचरिउ' मे ऐसी अपभ्रश भाषा का प्रयोग किया गया है जिसमे प्राचीन हिन्दी का रूप मिलता है। महापण्डित राहुल साक्रत्यायन ने स्वयंभू को हिन्दी-साहित्य का सर्वोत्तम कवि माना है और इनका समय सं० ८४७ निर्धारित किया है। जैन-साहित्य मे दूसरा महत्वपूर्ण नाम आचार्य देवसेन का है। इनका आविर्भाव-काल विक्रम की दसवी शताव्दी है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दर्शनसार' स० ९९० मे लिखा गया

था। इनका सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'नयचक्र' है; जिसमे जैन सिद्धान्तो का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। महाकवि पुष्पदन्त का 'णायकुमारचरिउ' (नागकुमार चरित) इस युग का दूसरा प्रसिद्ध काव्य है। यह खण्डकाव्य है और इसमें पंचमी के उपवास का फल कहने वाले नागकुमार का चरित्र वर्णित है। पुरानी हिन्दी के जैन-साहित्य में स्वयभू और पुष्पदन्त इन दो कवियों का स्थान वहुत ऊँचा है। पुष्पदन्त उत्तरी भारत के निवासी थे। इनकी भापा मे व्राचड़ अपभ्रश का अधिक प्रभाव है।

इन कवियो के अतिरिक्त माइल्ल धवल, धनपाल मुनिरामसिह, अभय-देवसूरि, चन्द्रमुनि प्रभृति अन्य भी अनेक जैन कवि हुए, जिन्होने काव्य-रचना द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। परवर्ती जैन कवियो मे आचार्य हेमचन्द्र का नाम उल्लेखनीय है। इनका जन्म सं० ११४५ में हुआ। इन्होंने प्राकृत-व्याकरण की रचना की और 'कुमारपाल चरित्र' नाम से एक आठ सर्गो का काव्य भी लिखा। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त भी इन्होने काफी साहित्य-रचना की। इनकी भाषा शौरसेनी (नागर) अपभ्रंश से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण हिन्दी का पुराना रूप उपस्थित करती है। जैन-साहित्य की रचना महाकवि स्वयभू से लेकर अम्बदेवसूरि (सं० १३६१) तक अवाध गति से होती रही। इन कवियो ने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने के साथ ही हिन्दू-पुराणो की कथाओं को भी अपने काव्य का आधार वनाया। रामायण और महाभारत के चित्ताकर्षक लघु कथानक भी इन कवियो की दृष्टि से दूर न हुए। पौराणिक तथा लोक-प्रचलित कथाओ द्वारा अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की यह परम्परा हिन्दी-साहित्य के मध्य (या भक्ति) युग मे सूफियों ने अपनाई।

नाथ-सम्प्रदाय—हिन्दी-साहित्य के आदिकाल का विवेचन करने से पहले हमे एक अन्य परम्परा मे भी परिचय कर लेना चाहिए, जो कि नाथ-सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव मे सिद्ध-साहित्य का विकसित रूप ही नाथ-सम्प्रदाय का साहित्य है। सिद्धों की विचार-धारा और उनके रूपको को लेकर ही नाथ-वर्ग ने उसमें नवीन विचारो की प्रतिष्ठा की और

उनकी व्यजना में अनेक तत्त्वो का सम्मिश्रण किया। इस विकसित सम्प्रदाय ने सिद्धो के निरीश्वरवादी 'शून्य' को 'ईश्वरवादी' शून्य बना दिया।

सिद्धों मे गोरक्षपा (या गोरखनाथ) का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इनके सम्बन्ध मे प्रामाणिक रूप से विशेष ध्यान नही दिया जा सका। यह सर्वमान्य है कि ये शैव मत के मानने वाले और हठयोगियो मे अग्रगण्य थे। पूर्व-भक्तिकाल के योग या नाथ-सम्प्रदाय की प्रेरणा के एकमात्र स्रोत यही थे। इनका समय अभी तक निश्चित नही हो पाया। कुछ लोग इन्हे दसवीं शताब्दी का मानते है और कुछ तेरहवी का। इनके गुरु का नाम मच्छन्दरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) बतलाया जाता है।

गोरखनाथ के अतिरिक्त आदिनाथ, चर्पटनाथ, भर्तृनाथ, गोपीचन्द्र-नाथ आदि अन्य भी कई नाथ कवि हुए है। इस सम्प्रदाय का भक्तिकाल के पूर्वार्द्ध मे अत्यधिक प्रभाव रहा। हिन्दी-भक्ति-साहित्य की निर्गुण-धारा नाथ-सम्प्रदाय से काफी प्रभावित जान पड़ती है। कबीर के सिद्धान्तो मे इसका प्रभाव स्पष्ट ही देखा जा सकता है। कबीर के अतिरिक्त सन्त-धारा के बहुत से कवियो की रचनाओ पर दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाव, दार्शनिक विचार-धारा और भाषा-शैली की दृष्टि से उनका साहित्य नाथ-परम्परा से उपोद्बलित और अनुप्राणित हुआ है। हिन्दी-साहित्य के विकास की दृष्टि से भी इस नाथपथी साहित्यिक परम्परा का अभूतपूर्व महत्त्व है। अपभ्रश से निर्मित सिद्ध-साहित्य की विरासत मे नाथपथियो के साहित्य ने आगे चलकर हिन्दी-साहित्य के सन्त-काल की प्रेरणा प्रदान की है। हिन्दी भाषा के विकास-काल की अवस्था विशेष के अध्ययन की दृष्टि से भी इस काव्य-धारा का महत्त्व अधिक है। लोक-परम्परा की सहज विचार-धारा को आश्रय बनाकर काव्य-रचना करने वाले सभी नाथ मुनियो ने सामाजिक एव दार्शनिक विचार-धारा की दृष्टि से एक सहज उद्बोधन का स्वर प्रदान किया। इनमे भी हठयोगी साधना का दार्शनिक पक्ष वर्ण्य-विषय की दृष्टि से प्राधान्य पा सका है; लेकिन इनके काव्यो की सबसे बड़ी विशेषता है सामाजिक स्तर पर इनका मान-

वीय विचारो का परिपोपण। अध्यात्म की साधना और वैराग्य प्रतिपादित करने वाली वातो को छोडकर जब ये नाथ कवि मानवीय स्तर पर उतर-कर मानव-कल्याण की चर्चा मे निरत होते हैं तो इनको कहने की वानगी स्पृहणीय होती है। वहाँ पर इनकी उपदेशात्मक प्रवृत्ति सवेदनशील हो उठती है। साधना के क्षेत्र मे 'कथनी' और 'करनी' का अन्तर वतलाते हुए गोरखनाथ ने अत्यन्त मार्मिक शैली मे अपनी विचार-धारा को अभिव्यक्त किया है—

"कहणि सुहेली रहणि दुहेली
कहति रहणि विण थोथी।
पढया गुणा सुवा बिलाई खाया
पंडित के हाथि रहि गई पोथी।
कहणि सुहेली करणि दुहेली
बिन खायाँ गुड़ मीठा।
खाई हींग कपूर बखाणे
गोरख कहै सब झूठा।"

इन कवियो ने लोक से ही उपमानों और प्रतीको को ग्रहण किया है, अस्तु इनकी रचना मे एक सहायता को सृष्टि सम्भाव्य हो सकी है।

नाथ मत के चौरासी सिद्धो की चर्चा ज्योतिरीश्वर कृत 'वर्ण रत्नाकर' ग्रन्थ में हुई है। इन सभी सिद्धो में अधिकाश सिद्ध उच्च वर्गों से सम्वद्ध नही वताए जाते और उनमे ब्राह्मण धर्म एव कर्मकाण्ड के प्रति एक सामाजिक प्रतिक्रिया का स्वर भी उपलब्ध होता है। इस मत का मूल सम्वन्ध भी शिव से जोड़ा जाता है। इस पंथ के प्रवर्तनो मे मत्स्येन्द्रनाथ, गोरख-नाथ, जालन्धरनाथ और कृष्णपाद का हाथ माना जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ के काल मे एक ग्रंथ-रचना के विषय मे विद्वानो मे मत-वैभिन्य है। मत्स्येन्द्र-नाथ के विविध नाम भी अनुकृतियो के आधार पर ज्ञात है। साम्प्रदायिक दृष्टि से साधना के विविध पक्षो को प्रकाश मे लाने के लिए इन्होने कई प्रसिद्ध ग्रथो की रचना की होगी ऐसा विद्वानो का अनुमान है। डॉक्टर

वागची ने उनकी चार सस्कृत पुस्तको का सम्पादन किया है जिनमे 'कौल ज्ञान निर्णय', 'अकुल वीरतंभ', 'कुलानन्द' एव 'ज्ञानकारिका' है। मत्स्येन्द्रनाथ के नाम से उपलब्ध होने वाले भाषा-पदो का सम्पादन डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित 'नाथ सिद्धो की वानियाँ' नामक ग्रंथ मे किया है।

गोरखनाथ का समय वहुमत से ईस्वी सन् की नवी शताब्दी के आस-पास माना जाता है। डॉ० बडथ्वाल ने गोरखनाथ के नाम से वहुचर्चित वानियो का सकलन 'गोरख वानी' के नाम से किया है। उन्होने गोरखनाथ द्वारा निर्मित चालीस ग्रंथो की भी चर्चा की है, जिनमे अधिकांश सैद्धान्तिक आचारो को प्रसारित करने के लिए लिखे गए-से ज्ञात होते है। गोरखनाथ की वानियो की भाषा को दृष्टिगत करते हुए विद्वानो मे मत-वैभिन्य है। कुछ लोग तो उनकी भाषा मे वँगला का प्रभाव पाते है और क्रमश कुछ उसमे पंजावी, राजस्थानी और पूर्वी हिन्दी की विविध भाषाओ का रूप खोजते है। मात्रा मे गोरखनाथ की वानियो में पूर्वीपन की ही अधिकता मिलती है। डॉ० सुकुमार सेन ने गोरखनाथ की भाषा को कई प्रसगो से वँगला से प्रभावित सिद्ध किया है एवं डॉ० पीताम्वरदत्त वड़थ्वाल ने भी भाषा की दृष्टि से उनकी वानियो मे विविधता के दर्शन किये है। उनके अनुसार उनकी वानियों मे एक ओर यदि भोजपुरी का प्रयोग सुलभ है तो दूसरी ओर उसमे राजस्थानी का स्वरूप भी परिलक्षित है।

"हबकि न बोलिबा ढबकि न चालिबा धीरे धरिबा पाँव।
गरब न करिबा सहजें रहिबा भणत गोरख राँव॥"

भाव, सैद्धान्तिक विचार एवं भाषा-शैली की दृष्टि से गोरखनाथ की वानियो से कवीर, दादू, नानक इत्यादि की विचार-धारा एव रचना-प्रणाली अधिक प्रभावित दीख पड़ती है।

चौरंगीनाथ भी इस परम्परा के एक प्रख्यात संत है। इनका सम्वन्ध मगध प्रदेश से वतलाया जाता है। उनकी 'प्राण संकली' नामक एक रचना

उपलब्ध है जिससे उनकी भाषा एवं साहित्यिक रचना-प्रक्रिया का पता चलता है।

"सत्य वदंत चौरंगीनाथ आदि अंतरि सुनौ वृत्तान्त
साल बाहन घटे हमारा जनम उत्पत्ति सतिया भुट बोली ला।
ह अम्हारा भइला सासत पाप कलपना नही हमारे मने हाथ पाँव।
कराइला लाइला निरंजन बने सोध संताप गने परमेव सनमुष देषीला।
श्री मछन्द्रनाथ गुरुदेव नमस्कार करिला नमाइला माथा।।

पद के अन्त साक्ष्य पर मत्स्येन्द्रनाथ उनके गुरु जान पड़ते है और इनका सम्बन्ध स्यालकोट के राजा शालवाहन से भी प्रतीत होता है। पद की व्यवहृत भाषा मे पूर्वीपन की झलक अवश्य मिलती है, लेकिन भाषा की दृष्टि से उनकी भी सम्पूर्ण रचना मे एकान्विति की जगह पर वैविध्य के ही दर्शन होते है। इनके पदो मे भी सैद्धान्तिक मतवादो को अति अधिक सवेदनशील शैली मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

मारिबा तो मन मीर मारिबा, लूटिबा पवन भंडार।
साधिबा तौ पंच तत्त साधिबा, सेइबा तो निरंजन निराकार।।
माली लौ मल साली लौ सींचै सहज कियारी।
उनमनि कला एक पहूप न पाई, तौ आवागमन निवारी।।

प्रतीको के माध्यम से भावना की अभिव्यक्ति करने के कारण उनकी शैली मे भी एक रहस्यात्मकता दीख पडती है।

चर्पटीनाथ को इस नाथ-परम्परा मे गोरखनाथ का शिष्य बतलाया जाता है। उन्होने साम्प्रदायिक वाह्याचरण के प्रति अपनी रचनाओ मे एक प्रतिक्रिया अभिव्यक्त की है। उनकी रचनाओं का स्वरूप भी परम्परा से सम्बद्ध ग्रन्थो मे इतस्तत. मिलता है। उनकी भाषा भी बदलती हुई दीख पड़ती है। भावनागत वैशिष्ट्य की दृष्टि से एक जोरदार प्रतिपादन और अभिव्यक्ति इनकी अपनी विशिष्टता है। इसी मनःस्थिति मे रूढि-वादिता का खण्डन करते हुए वे कहते है—

"माँगै भिच्छा भरि-भरि खाँहि।
नाथ कहावै मरि मरि जाँहि।
वाकर कूकर कींगुर हाथि।
बाली भोली तरुणी साथि।
दिन करि भिच्छा रात्यूँ भोग।
चरपट कहै विगोवै जोग।।

इन सब प्रसिद्ध नाथो के अतिरिक्त भर्तृहरि, गोपीचन्द, नागार्जुन, कणेरी, घोडाचूली, चुणकरनाथ, परबत सिद्ध, धूँधलीमल, प्राणनाथ इत्यादि कई सन्तो की रचनाएँ इधर-उधर उपलब्ध होती है। लगभग सभी मे भाषा-प्रयोग की दृष्टि से वैविध्य है। कई भाषाओ व बोलियों की शब्दावली का निरीक्षण उनकी रचनाओ मे किया जा सकता है। साधना के क्षेत्र मे वाह्याचरण का सशक्त विरोध कई नाथ कवियो ने किया है। सासारिक माया बन्धन के प्रति विरक्ति का भाव रखते हुए ही साधक अपने लक्ष्य मे सफल सिद्ध हो सकता है। इसकी सहज एवं सरल अभिव्यक्ति कई नाथ कवियों ने की है। हठयोग की परम्परा की तात्विक विशेषताओ का परिवहन भी इनकी रचनाओ मे हो सका है। परबत सिद्ध ने कहा है—

घन जीवन की करै न आसा। पर तिरिया अंग लावै पासा।
नाम विंदु लै घट भीतर करै। तिसकी सेवा परवत करै।
बोले परबत सन्त सरूप। परम तत्त महि रेखन रूप।।

ब्रह्माण्ड मे जो कुछ है वही पिण्ड मे भी स्थित है। यह हठयोग की परम्परा का तात्विक दृष्टि से मूल वाक्य है। हठयोगी साधको ने इसी परम्परा मे ब्रह्माण्ड और पिण्ड का प्रतिपादन किया है। प्राणनाथ ने इसी भावना से मिलती-जुलती वात अपनी वाणी मे कही है, जिसको प्रश्रय भी इस परम्परा मे अधिक-से-अधिक दिया गया है।

ब्रह्माण्ड को लौटिके पिण्ड में बांधिये।
कहै प्राणनाथ ऐसा योग साधिये।।

हिन्दी-सन्त-साहित्य की परवर्ती धारा के साधक सतो ने सामयिक

परिवेश मे बहुत कुछ उसी परम्परा का पोषण किया। उनकी साधना मे भी इसी सहजता का प्रतिपल दर्शन होता है। गुरु को हठयोगी परम्परा मे जो सम्मान मिला वही इन सतो ने भी दिया। वह ईश्वर के तुल्य ही चर्चित हुआ। ब्रह्म के निराकार रूप की चर्चा यहाँ भी प्राधान्य पा सकी। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से लोक-धर्म की निकटता का भान इस साहित्य को भी इस परम्परा मे ही हुआ।

संवत् १०५० से १४०० तक

वीरगाथा-काल

भारत पर मुसलमानो के आक्रमण तो सातवी-आठवी शताब्दी से शुरू हो गए थे, किन्तु ग्यारहवी शताब्दी तक वे यहाँ की राजनीतिक तथा सास्कृतिक परम्परा पर कोई विचारणीय प्रभाव नही डाल पाए। वास्तव में इस समय तक मुसलमानो के आक्रमण भारत पर राज्य करने के ध्येय से नही होते थे वरन् उनका एक-मात्र उद्देश्य यहाँ की सम्पत्ति को लूटकर अपने देश मे ले जाना होता था। जब ग्यारहवी शताब्दी मे उन्होने भारत पर राज्य करना चाहा तो हिन्दू राजपूतों ने उनसे डटकर लोहा लिया। राजपूत राजाओ मे पारस्परिक एकता का अभाव था। वे एक-दूसरे से लड़ना-भिड़ना ही अपना कर्तव्य समझते थे। मुसलमानो के आक्रमण काफी संघटित होते थे, अतः वे लोग उनका मुकावला डटकर न कर सके। इस प्रकार जब हिन्दी-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ उस समय भारत मे लड़ाई-भिड़ाई ही प्रधान कर्म था। सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो का प्रभाव सांस्कृतिक तथा साहित्यिक वातावरण पर पड़ता ही है।

अत. देश-काल की परिस्थिति के अनुसार कवियो ने अपने आश्रय-दाताओ के रण-कौशल का विशद वर्णन तथा उनके भुजदण्डो को फड़काने वाली वीर रस-प्रधान कविता की, अत यह काल वीरगाथा काल कहा जाता है। इस काल मे देश मे युद्ध की ही ध्वनि प्रधान रूप से व्याप्त होने के कारण वीरोल्लासिनी कविताओ की ही गूंज रही। इस युग के कवि राष्ट्रीय भावनाओ से ही प्रेरित होकर अपनी रचनाएँ करते थे और देशानुराग के कारण न केवल वे अपनी ओजपूर्ण वाणी द्वारा आश्रयदाताओ को युद्ध-भूमि के लिए प्रोत्साहित ही करते थे, प्रत्युत स्वयं हाथ मे तलवार

लेकर रण-प्राङ्गण मे पदार्पण भी करते थे। पर इस युग की कृतियों मे इतिहास-सम्मत घटनाओ तथा 'उच्च प्रकार के कवित्व का अभाव है, क्योकि आश्रयदाताओ की प्रशंसा के हेतु काव्य-धारा को इन कवियो ने सकीर्ण तथा संकुचित क्षेत्र के अन्दर ही वहाया। यद्यति इन कवियों की कृतियो मे मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण व्याख्या हम नही पाते है फिर भी अनेक रमणीय सूक्तियो तथा उद्भावनाओ के कारण युद्ध-वर्णन इतना सजीव है कि कविता से गस्त्रो की झंकार स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

इन काव्यो मे शृङ्गार का भी प्रचुर सम्मिश्रण है। वास्तव मे वीर-गाथा-काल का समस्त साहित्य शृङ्गार-प्रधान है। चन्द ने अपने 'पृथ्वीराज रासो' मे पृथ्वीराज और शहावुद्दीन गोरी के युद्ध का मूल कारण एक युवती को ही वतलाया है। इस काल के जितने काव्य है उनमे वीर रस के वाद शृङ्गार रस को ही प्रधानता मिली है। कही-कही तो शृङ्गार ने वीर रस को दवा लिया है।

इस काल की भापा साधारणत अपभ्रंश-मिश्रित हिन्दी है, जिसमे सस्कृत के तत्सम रूपो के प्रयोग की ओर अधिक प्रवृत्ति पाई जाती है।

साहित्य की दृष्टि से यह काल दो भागो मे विभाजित है—चारणों का **'वीर-रसात्मक साहित्य'** और अन्यान्य कवियो का **'शृङ्गार नीति आदि विविध विषयो का साहित्य'**। शैली की दृष्टि से यह प्रवन्ध-काव्य, रीति-काव्य तथा मुक्तक, इन तीन भागों मे वाँटा जा सकता है। इस काल के साहित्य को प्राय. 'रासो' नाम दिया गया है, जिसकी व्युत्पत्ति कुछ लोगो के मतानुसार 'रहस्य' या 'रसायन' से है, किन्तु वास्तव मे इसकी उत्पत्ति 'रास' गव्द मे हुई है।

'प्रवन्ध' के रूप मे वीर कविता करने की प्रणाली प्राय. सभी साहित्यो मे चिरकाल से चली आ रही है। हिन्दी की वीरगाथाओ मे 'खुमान रासो' प्रवन्ध रूप मे सवसे प्राचीन तथा प्रथम ग्रन्थ है। इसके रचयिता दलपति विजय माने जाते हैं, यद्यपि शिवसिंह सरोज के मतानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने इस ग्रन्थ को लिखा था। चित्तौड मे खुमान नाम के

तीन राजा हुए। कर्नल टाड ने उनको एक माना है। खुमान ने चौवीस युद्ध किये। प्रस्तुत पुस्तक खलीफा अलमामू के साथ खुमान के युद्धों का वर्णन है। चूँकि इस पुस्तक में महाराणा प्रताप तक का वर्णन है, अत. इस पुस्तक को वर्तमान रूप विक्रम की सत्रहवी शताब्दी मे प्राप्त हुआ होगा। इस पुस्तक की जो प्रति प्राप्त है वह अपूर्ण है। अतएव इसके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। 'पृथ्वीराज रासो' समस्त वीरगाथा-युग की सवसे अधिक महत्वपूर्ण रचना है। इसके रचयिता चन्द बरदाई तथा इसी ग्रन्थ के अनुसार उनके पुत्र जल्हण भी माने जाते है। चन्द बरदाई का समय सामान्यत. सं० १२२५ से १२४९ तक माना जाता है, क्योंकि ये पृथ्वीराज चौहान के सामन्त, सखा और राजकवि थे। महाराज पृथ्वीराज हिन्दू जगत् की अस्तवेला के सूर्य थे और चन्द बरदाई हिन्दी-जगत् के उदय-कालीन चन्द्र। यह ढाई हज़ार पृष्ठो का बहुत बड़ा ग्रन्थ है, जिसमे ६९ समय (सर्ग या अध्याय) हैं। इस ग्रन्थ मे आबू के यज्ञ-कुण्ड से चार क्षत्रिय कुलो की उत्पत्ति तथा पृथ्वीराज के जीवन का विचित्र वर्णन है। 'पृथ्वीराज रासो' के जाली होने तथा रचना-काल-निर्धारण के लिए अनेक मत प्रचलित है। इसमे वर्णित घटनाएँ तथा सवत् इतिहास-सम्मत तथा कल्पना-मात्र होने से और भाषा असामयिक तथा मिश्रित होने के कारण रायवहादुर पं० गौरीशकर हीराचन्द ओझा इसको १६-१७वी शती की रचना मानते है। महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री, राजा मुरारी-दान, डॉक्टर वुलर, श्री अमृतलाल शील आदि भी इसे अप्रमाणिक मानते है। पर प० मोहनलाल विष्णुलाल पड्या ने रासो के संवतो मे ९० वर्ष का अन्तर दिखाकर इसे प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कर्नल टाड तथा मिश्रवन्धु आदि इसे प्रमाणिक ग्रन्थ मानते है। आचार्य शुक्लजी ने भाषा अव्यवस्थित होने के कारण अपना कोई मत स्थिर नही किया है। कुछ भी हो, वर्तमान रूप मे 'पृथ्वीराज रासो' मे प्रक्षिप्त अश वहुत अधिक है, पर साथ ही उसमे वीच-वीच मे चन्द के छन्द विखरे पडे है और यह

निश्चित जान पडता है कि वर्तमान रासो चन्द-रचित छन्दो का सकलित एवं सम्पादित रूप है।

इस ग्रन्थ मे न तो कोई एक प्रधान युद्ध है और न किसी महान् परिणाम का ही उल्लेख है। पृथ्वीराज की पूर्व परम्परा का हाल लिखकर कवि उसकी जीवनी को ही अपने ग्रन्थ का प्रधान विषय बनाता है और प्रासगिक रीति से तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का दिग्दर्शन भी कराता है। यह सत्य है कि यह एक विशालकाय ग्रन्थ है तथा अन्य महाकाव्यों की भाँति इसमे भी युद्ध को ही प्रधानता प्रदान की गई है, फिर भी व्यापक तथा गम्भीर रीति से जातीय चित्त-वृत्तियों का अभाव होने से हम इसे महाकाव्य होने का गौरव नही प्राप्त करा सकते। वीरगाथाओं की यही विशेषता रही है कि उनके शृगार कभी-कभी वीरता का सहकारी और कभी उसका उत्पादक बनकंर आया है और सर्वदा यह गौण रूप से विद्यमान रहा है। अतः 'रासो' मे भी युद्धो की प्रधानता के साथ ही शृंगार की भी प्रचुरता है। पृथ्वीराज के जीवन मे अनगपाल द्वारा गोद लिये जाने, राजा जयचन्द से विद्वेप, सयोगिता-हरण, शहाबुद्दीन गोरी से अनेक युद्धो का ऐतिहासिक तत्वो पर अवलम्वित वडा ही सजीव तथा मार्मिक वर्णन इस ग्रन्थ मे पाया जाता है। जीवन-गाथा होने से वीर-गीतो की भाँति सकीर्णता एवं वर्णनो की एकरूपता का इसमे सर्वदा अभाव है तथा वीर-भावो की सुन्दर अभिव्यक्ति, सूक्तियो, स्वभावोक्तियो तथा माधुर्य रसपूर्ण कल्पनाओ का प्रचुर समावेश है। नख-शिख-वर्णन, षड्ऋतु वर्णन, सयोग-वियोग, शृगार एव वीर आदि रसो का वर्णन भी इसमे पाया जाता है।

'पृथ्वीराज रासो' में षड् ऋतु का उत्कृष्ट वर्णन हुआ है। यह वर्णन उद्दीपन कोटि का है और परिस्थिति के अनुसार मानवीय भावनाओ को अनुप्राणित करने मे सहायक है। हेमन्त का वर्णन करते हुए कवि ने वनिताओ का, उनकी समकालीन स्थिति का आख्यान किया है

छीनं वासर श्वास दिद्धं निसया सीतं जनेत वने।
सज्जा सज्जर वास तथा वनितया आनंग आनंगने॥

बाला तंत निवृत्त पत्त नलिनी दीनान जीवच्छिने।
मॉ कान्ते हिमवन्त मंत गवने प्रमदा निग्रवलंबने।।

इसी प्रकार प्रत्येक ऋतु मे नायिका नायक को ऋतु-विशेष की उद्दीपन-कारी स्थिति का उल्लेख कर विदेश-गमन से रोकती है। अत· 'पृथ्वीराज रासो' मे शृगार का उद्दीपन सहित वर्णन हुआ है। पृथ्वीराज सयोगिता के प्रेमपाश मे आवद्ध है और वह किसी भी ऋतु विशेष मे वाहर जाने मे असमर्थ है।

इसी तरह मे 'पृथ्वीराज रासो' मे वीर रस का भी अद्भुत परिपाक हुआ है। वीर रस का ओजपूर्ण शैली मे परिपाक निम्नलिखित युद्ध वर्णन के प्रसंग मे हुआ है।

तुट्टिय सेन पल तिष तीर। इनपरि जुद्ध जुट्टिय धीर।
तरैं साईं ऊपर मृत्य। सेवक उद्ध साईं कित्त।।
चौसठि क्रंम लीथि पधार। भर परि धरह लुभ्भिय द्वार।
उपार भिरैं समंत सूर। मत्तो जुद्ध वन करूर।
हेलें एक एकैं वीर। गज्जै दीन जंपें मीर।

चन्द वरदाई ने वर्णन की परम्परा मे अतिशयोक्ति पद्धति भी अपनाई है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे डिंगल की समस्त प्रवृत्तियो का भरपूर निर्वाह हुआ है। घटना वहुलता की दृष्टि से काल्पनिक एवं नाना प्रकार की विचित्रताओ से सिक्त है।

भापा की दृष्टि से इसमे वोलचाल की अपेक्षा साहित्यिक राजस्थानी व व्रजभाषा का पर्याप्त पुट प्रतीत होता है तथा यह अपने समय की सुन्दर तथा सुव्यवस्थित भाषा है। अपने समय मे प्रचलित कवित्त, छप्पय, दूहा, तोमर, शार्दूलविक्रीड़ित, स्रग्धरा, त्रोटक, गाहा और आर्या आदि अनेक मात्रिक व वार्णिक छन्दो का प्रयोग इसमे किया गया है और शैली को समक्ष रखकर हम इसे 'प्रवन्ध-महाकव्य' के रूप मे देखते है। काव्य-कला-कौशल, विविध रसो का परिपाक तथा वर्णन का सौंदर्य इसमे सर्वथा सराहनीय है। अत. इस ग्रन्थ मे एक उत्कृष्ट काव्य के सभी गुण उपलव्ध है।

प्रबन्ध काव्यो की परम्परा और भी आगे चली थी, जिसमे 'जयचन्द प्रकाश' के रचयिता भट्टकेदार, 'जयमयकजसचन्द्रिका' के रचयिता मधुकर, 'हम्मीरकाव्य' के लेखक सारंगधर, 'विजयपाल रासो' के निर्माता नल्लसिंह तथा 'रणमल्ल छन्द' नामक काव्य के रचयिता श्रीधर इत्यादि हुए। इस धारा की और पुस्तकें अप्राप्य है।

प्रबन्ध मूलक वीर-काव्यो के अतिरिक्त वीर-गीतो की भी रचना इस काल मे हुई। मुक्त प्रवाह वाले तथा ओजपूर्ण ये वीर-गीत जनता द्वारा अपनाये गए। इनमे वीर-भावो की ही अधिकता रही, पर वीरो की कोमल मनोवृत्तियो के प्रदर्शनार्थ उनमे शृंगार के पुट लिये हुए भी वर्णन हुए। इसी शैली पर नरपतिनाल्ह नामक किसी कवि ने **'बीसलदेव रासो'** नामक चार सर्गो का एक छोटा-सा ग्रन्थ लिखा। इस रचना मे अजमेर के महाराज विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का वर्णन है। इनके समय के विषय मे मतभेद है, पर यह निश्चय-सा ही है कि इनका समय विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी है। इस ग्रन्थ के निर्माणकाल के विषय मे भी गहरा मतभेद है। इसमे निर्माण-काल यो दिया है—

बारह सै बहत्तरा मँझारि। जेठ बदी नवमी बुधवारि।
नाल्ह रसायण आरम्भई। सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि॥

कुछ लोग इस 'बृहत्तरा' का अर्थ स० १२१२ लगाते है, क्योकि उसी मे जेठ वदी नवमी को बुधवार पड़ता है। शुक्लजी भी यही मानते हैं। पर लाला सीताराम तथा आचार्य श्यामसुन्दरदासजी इसे स० १२७२ मानते हैं। घटनाओं के आधार पर हम इसे एक प्रेमपूर्ण गीतिकाव्य कह सकते हैं, क्योकि इसमें शृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का प्रदर्शन है। पर वीर-गाथाओ मे मानव-जीवन की हृदयस्थ कोमल वृत्तियो का रहना भी अनिवार्य है, अत: प्रेम प्रधान होने पर भी हम इसे वीर-गीति कहे जाने का गौरव प्रदान कर सकते है। इस पुस्तक की भाषा तत्कालीन वोल-चाल की 'राजस्थानी' है।

'वीसलदेव रासो' यद्यपि मुक्तकों मे लिखा गया है, लेकिन उसके कथा

भाग के कारण काव्य मे प्रवन्धात्मकता का निर्वाह हुआ है। अजमेर के अधिपति वीसलदेव चौहान का परिणय भोज परमार की पुत्री राजमती से होता है। राजमती को परिणीत कर जव वीसलदेव अपने देश लौटता है तो अपने ऐश्वर्य का आख्यान करता है और कहता है कि मेरे सदृश्य कोई राजा नही। इस पर राजमती उड़ीसा के राजा की अपार धनराशि की प्रशंसा करती है और राजा रूठकर प्रवास के लिए जाता है। रानी लाख मना करती है पर वह मानता नही और विदेश के लिए प्रस्थान करता है। बारह वरस तक विरह-दु ख भोगने के उपरान्त रानी अपने प्रियतम को पुरोहित द्वारा सन्देश भेजती है। प्रियतमे का मधुर सन्देश पाकर उसकी स्मृति मे वीसलदेव अपने राज्य को लौटता है। लौटते समय उड़ीसा के राजा के सामने जव यह प्रकट होता है कि वह अजमेर का अधिपति है तो वह उसे प्रचुर धनराशि देता है। वीसलदेव और राजमती का सुखान्त मिलन होता है और कवि इसको लक्ष करके कहता है।

राणी राजा सउँ मिली।
तिमि एण संसार मिलिज्यो भहु कोइ ।।

'वीससदेव रासो' विप्रलम्भ शृगार का अनूठा काव्य है। उसमे नारी-जीवन की विवशता के रमणीक चित्र मिलते है। विप्रलम्भ के प्रसंग मे कवि ने वारहमासे का वर्णन किया है जो अपना विशिष्ट महत्व रखता है।

चैत्र मास चतुरंगी हे नारि।
प्रीय विण जीविजइ किसह अधारि ।।
कंचूयउ भीजह जण हसइ।
सात सहेली वइठी छड आइ ।।
दंत कवाड्या नइ नइ रंग्या।
चालउ सखी आपण खेलण जाइ ।।
आजु दीखउ सुकान्हे नहीं।
कहो किम्झ डोली हें खेलण जाहि ।।

जगनिक का 'आल्ह खण्ड' एक प्रसिद्ध भारतीय लोक-गाथा के आधार

पर सम्पादित हुआ है। सम्भव है उसका पूर्वप्रचलित कोई पाठ रहा हो जिसमे उसकी भाषा सुरक्षित रही हो, लेकिन अवके उपलब्ध 'आल्ह खण्ड' की भाषा तत्कालीन भाषा नही है और इसमे नाना प्रकार की भापा के मिश्रण के तत्व परिलक्षित होते है। वीर रस के सचार से यह समस्त रचना आपूरित है।

बारह बरिस ले कूकर जीवें और सोलह लें जिये सियार।
बरस अठारह क्षत्रिय जीयें आगे जीवन को धिक्कार॥

यह लोक-प्रचलित पद्य 'आल्ह खण्ड' का ही वताया जाता है। स्वाभाविक रूप से वहुत-सी लडाइयो के होने के कारण उसमे वीर रस को उभारने वाले प्रसगो की अधिक उद्भावना ही पाई गई है। 'आल्ह खण्ड' मे वीर रस-सिक्त वहुत से युद्धो के वर्णन मिलते है।

दोनो फौजन के सगम में, अन्धाधुन्ध तोप की मार।
लागै गोला ज्याहि हाथी के, दल में डौंकि डौंकि रहि जाय।
गोला लागै जौन ऊँट के, दल में गिरे चकत्ता खाय।
लागै गोला जिन घोड़न के, चारों सुम्म गर्द होइ जाय।
गोला लागै जिन क्षत्रिन को, तिनकी तुचा सरग मँडराय।

'आल्ह खण्ड' की उपर्युक्त भापा से स्पष्ट लगता है कि यह भापा बारहवी शताव्दी की न होकर आज की कन्नौज की भापा है जो लोक-गायको की परम्परा से इस लोक-गाथा को लिपिवद्ध होने पर प्राप्त हुई है। इस गाथा की लोकप्रियता के कारण इसमे प्रक्षिप्त अशो की भरमार है और इसमे नित नये-नये परिवर्तनो की सूचना मिल सकती है। लोकाभिप्रायो की दृष्टि से इस गाथा का अपना महत्वपूर्ण मूल्य है।

वीर-गीतों की परम्परा मे जगनिक-कृत 'आल्हखण्ड' भी आता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के आश्रित कवि जगनिक ने महोवे के दो वनाफर वीरों—आल्हा और ऊदल—के वीर चरित का वर्णन वीर-गीतो के रूप में लिखा, जिसका मूल तो नष्ट हो गया पर उसके आधार पर ये वीर-गीत गाँवो मे प्रचलित रहे और आज भी उत्तर

भारत के प्राय. सभी प्रदेशों मे इसका प्रचार है। यह ग्रन्थ गाने के लिए लिखा गया था, अत देश-काल के अनुसार इसकी भाषा वदलती चली गई। इसमे युद्धो के वर्णन मे एकरूपता, भौगोलिक अशुद्धियाँ तथा साहित्यिक गुणो की न्यूनता है, फिर भी वीर रस का इसमे पूर्ण उफान है—

सदा तुरैया ना बन फूलै, यारो सदा न सावन होय।
चढ़ी जवानी ना फिर आवै, इक दिन मरना है सब कोय ॥

वीररसात्मक साहित्य के अतिरिक्त इस काल मे अन्य प्रकार के साहित्य का निर्माण भी हुआ, यद्यपि इसका परिमाण अधिक नही है। मानव के सहज स्वरूप की सुकोमल मनोवैज्ञानिक अभिव्यजना इस प्रकार के साहित्य का आधार है। तीन महत्वपूर्ण कवियो ने इस प्रकार के साहित्य की प्रगति मे विशेष योग दिया—अद्दहमान (अब्दुर्रहमान), वब्बर और अमीर खुसरो। इन कवियो ने ससार के वस्तुवाद का यथातथ्य चित्रण करते हुए जीवन की उपयोगिता और उसकी नैतिक दृष्टि की ओर ध्यान दिया। उन्होने सयोग और वियोग के वड़े हृदयाकर्षक चित्र खीचे थे। इन चित्रो मे प्रकृति-वर्णन और उसके अनुरूप सयोग या वियोग की वड़ी सुन्दर मनोवैज्ञानिक झाँकियाँ है। कभी-कभी केवल मनोरजनार्थ कौतूहल-जनक शव्द-चमत्कार भी प्रस्तुत किया गया है।

अद्दहमान जुलाहा-वश मे उत्पन्न एक यशस्वी मुसलमान कवि थे। इनका आविर्भाव-काल स० १०६७ है। ये मुल्तान-निवासी थे। यद्यपि ये मुसलमान थे तथापि भारतीय आदर्शो से ये विशेष प्रभावित जान पड़ते हैं। इनका 'सनेह-रासय' (सन्देश रासक) ग्रन्थ अति प्रसिद्ध है। इसमे एक वियोगिनी का सन्देश विविध ऋतुओ के उद्दीपन से वड़े स्वाभाविक क्रिया-कलापो मे वर्णित है।

अव्दुर्रहमान ने अपने काव्य मे अपना परिचय देते हुए स्वत. कहा है—

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धोय सिद्ध दे सोत्थि।
तए विसए सभूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥

तह तणश्रो कुल कमलो पाइयकत्वेसुगीय विसयेसु।
श्रद्दहमाण पसिद्धो सनेहय रासयं रइयं ॥

श्रब्दुर्रहमान का 'सदेश रासक' भी विप्रलम्भ शृंगार का अनूठा काव्य है। विजयनगर जैसलमेर की एक विरहिणी वाला अपने पति के पास सदेश भेजने को व्याकुल है। मार्ग मे आते हुए पथिक को रोककर वह अपना सदेश सुनाती है। पथिक जव-जव चलने का उपक्रम करता है वह कुछ और कहना चाहती है। अन्ततोगत्वा विदा होते समय पथिक उससे जानना चाहता है कि तुम कुछ और तो नही कहना चाहती इस पर विवश विरहिणी फूट-फूटकर आँसू वहाने लगती है। पथिक उसे सान्त्वना प्रदान कर उसके प्रियगमन का काल पूछता है इस पर वह अपने प्रियतम का प्रवास ग्रीष्म काल मे वताती है और क्रमश छ ऋतुओ मे अपने द्वारा झेले गए कष्टो का वर्णन करती है। ऋतु-वर्णन समाप्त होते ही पथिक चलना चाहता है इतने मे विरहिणी का पति प्रवास से लौटता हुआ दिखाई देता है और उसे अपार सुख होता है। विप्रलम्भ का सुखान्त उसी तरह होता है जिस तरह 'वीसलदेव रासो' मे।

जेमअचितिउ कण्णु तसु सिहु खणद्धि महंतु।
तेम पठत यह जयउ अणाइ अणतु ॥

ठीक ही है—'मनोरथानामगतिर्न विद्यते'।

वव्वर का समय स० ११०७ माना गया है। इनका कोई विशिष्ट ग्रन्थ प्राप्त नही, फुटकल रचनाएँ ही मिलती है। शृंगार रस से परिपूर्ण कुछ कविताओ की रचना इन्होने वड़ी मधुर पदावली मे की है। भाषा इनकी अपभ्रश-मिश्रित हिन्दी है।

अमीर खुसरो एटा जिले के निवासी थे। इनका जन्म स० १३१० और निधन स० १३८२ मे हुआ। इन्होने फारसी में अधिक लिखा। हिन्दी मे इनकी कुछ फुटकल मसनवियाँ, पहेलियाँ तथा मुकरियाँ भी प्राप्त है। यद्यपि इनमें जनता की चित्त-वृत्तियो की छाप नही है, फिर भी व्रजभापा और प्रारम्भिक खड़ी वोली मे लोक-हृदय को आकृष्ट करने वाली ये रच-

नाएँ सरल, सरस तथा सुकोमल है। इनका रचना-काल स० १३४० है। उनकी भाषा प्राचीन परिपाटी की अपभ्रंश का पुट लिये हुए न होकर तात्कालिक समाज की शुद्ध तथा सरल बोलचाल की भाषा है तथा हिन्दुओ और मुसलमानो मे भाषा-सम्बन्धी एकता स्थापित करने की स्पष्ट झलक है।

मैथिल कोकिल विद्यापति ने तत्कालीन संस्कृत, अवहट्ट (अपभ्रष्ट-अपभ्रंश) तथा मैथिली तीनों भाषाओं मे रचनाएँ की। इनका जन्म सं० १४१७ तथा मृत्यु स० १५०७ के लगभग हुई थी। अपभ्रंश मे इन्होने वीर-काव्य की धारा को प्रवाहित रखा तथा 'कीर्तिलता' और 'कीर्ति-पताका' नामक दो ग्रन्थ लिखे। मैथिली भाषा मे 'गीतगोविन्द' की टक्कर की पदावली की रचना इन्होने की। इनके पद अधिकतर शृंगार के ही है जिनमे नायिका और नायक राधा-कृष्ण है। इन पदो पर जयदेव की मधुर तथा कोमल-कान्त पदावली की स्पष्ट छाप है। यद्यपि इनके पद बगाल मे वैष्णव धारा के प्रवर्त्तन मे सहायक हुए और आज भी कीर्तनो मे गाये जाते हैं पर वे शैव थे। ये एक सच्चे भावुक, सहृदय और शृंगारिक कवि थे।

विद्यापति के शृगारिक पदो के कारण कुछ लोग इन्हे शृगारिक कवि ही मानते है। कुछ लोग इन्हे दादू और कबीर की श्रेणी के रहस्यवादी कवि बतलाते है। सामान्यत: ये सूरदास की कोटि के शृगारिक भक्त कवि माने जाते हैं। सस्कृत मे इन्होने शिव-सम्बन्धी कविता लिखी तथा मैथिली मे राधा-कृष्ण सम्बन्धी पद। इनकी भक्ति-भावना पर सन्देह करना ठीक नही।

विद्यापति हिन्दी साहित्य के दो कालों के सगम-स्थल पर खड़े है और दोनो की प्रमुख प्रवृत्तियो को अपनी कृतियो में अभिव्यजना प्रदान करते है। वीरगाथाकालीन अपभ्रंश-मिश्रित भाषा मे उन्होने 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' का प्रणयन किया। इनमे उनके आश्रयदाता राजा शिवसिंह की कीर्ति का वर्णन तत्कालीन काव्य-शैली मे सफलतापूर्वक किया गया है। भक्तिकालीन कोमल-कान्त पदावली मे उन्होंने राधा-कृष्ण की भक्ति में

भीगे हुए चित्ताकर्षक पदो की रचना की। इस प्रकार आप हिन्दी-साहित्य के वीरगाथा-काल की समाप्ति तथा भक्तिकाल के आरम्भ की घोषणा करते है।

विद्यापति के ख्याति के आधार उनके मैथिली के पद है। विद्यापति के पद अधिकाश प्रेम-सम्बन्धी है। उनके पद देशज शैली मे लिखे गए है, जिसका चलन मैथिली के समकालीन साहित्य मे थी। बटगमनी, मान, तिरहुती मे उनके पद लिखे गए है। विद्यापति के पद जो भक्ति के है उनका सम्बन्ध शक्ति, शिव तथा गगा से है। उनके प्रेम-सम्बन्धी पदो मे राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला वर्णित है। राधा और कृष्ण को पदो में अमर बनाने का श्रेय विद्यापति को है। डा० ग्रियर्सन ने इन पदो के विषय मे कहा था—

"हिन्दू धर्म का सूर्यास्त भले हो जाए, वह काल भी आ जाए जब कृष्ण में श्रद्धा एव विश्वास की कमी हो जाए। कृष्ण-प्रेम विषयक स्तुतियों के प्रति, जो सांसारिक रोगों की औषधि है भरोसा खो जाए, फिर भी विद्यापति के राधा और कृष्ण-विषयक पदों का विनाश नहीं हो सकता।"

विद्यापति के प्रेम-सम्बन्धी पदों के अतिरिक्त उनके कुछ पद धार्मिक विश्वासो से ओत-प्रोत है। आलोचको ने क्रमश उन्हे वैष्णव भक्त, सहजिया साम्प्रदायिक, पंचदेवोपासक, स्मार्त, शाक्त और शैव सिद्ध करना चाहा है, लेकिन वास्तविकता यह है कि उपर्युक्त देव विपयक विद्यापति के पद किसी सम्प्रदाय विशेप मे बँधकर नही लिखे गए है। धार्मिक प्रसगो से सम्बद्ध पदो मे कवि का मन निश्चित रूप से भक्ति की ओर उन्मुख है। विद्यापति का काव्य भक्ति एव शृगार का दुर्लभ समन्वय प्रस्तुत करता है।

महाराजा हम्मीर के पश्चात् मुसलमानो का सम्राज्य भारत मे स्थिर हो गया, अत जनता की चित्त-वृत्ति मे परिवर्तन हुआ और विचारधारा दूसरी ओर मुड़ चली। यही से वीरगाथाएँ शिथिल पडने लगी, यद्यपि समय-समय पर अनेक वीर-काव्य लिखे गए और हिन्दी-साहित्य मे वीर-काव्य की इस मन्दाकिनी को हम सूखी हुई अवस्था मे कभी नही पाते।

संवत् १४०० से १७०० तक

भक्तिकाल

भारत वर्ष मे मुसलमानो के जम जाने पर यहाँ की जनता के हृदय मे उन्हे हटाने का विचार वदलने लगा तथा साथ ही उनका ध्यान अपने धर्म की रक्षा की ओर भी प्रवृत्त हुआ। पर यह जाति अपने वीरत्व तथा पौरुष से हताश हो चुकी थी, अत. लोग दैवी शक्ति की उपासना तथा करुणा की ओर मुडे। मनोविज्ञान का सामान्य सिद्धान्त है कि जव मनुष्य पर कोई विपत्ति आती है तो पहले वह अपने पुरुषार्थ से उसे दूर करने का सतत प्रयत्न करता है, परन्तु यदि वह उससे मुक्त नही हो पाता तो वह प्रभु से प्रार्थना करने लगता है। अत भारतीय जनता ने भगवद्-भक्ति को ही एक-मात्र अवलम्वन मान लिया और उसने अपना ध्यान धर्म के उस व्यापक तथा हृदयग्राही रूप के प्रचार मे लगाया, जो सबको आकर्षित रखे और धर्म से विचलित न होने दे। समाज के पथ-प्रदर्शक कवियों ने भी प्रभु-प्रेम का पीयूष-प्रवाह वहाकर इसमे सरसता का सचार कर दिया।

वीर-काव्य के साथ-ही-साथ हमारे हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे एक धारा और वहती रही जो आध्यात्मिकता से युक्त थी। यह थी योग-धारा जिसके संचार मे विदेशी आक्रमण से कोई विशेष गड़वडी नही हुई। 'वज्र-यानी सिद्ध', 'कापालिक' तथा 'नागपन्थी' जोगी देश के पूर्वी तथा पश्चिमी भागों मे विचरण करते आ रहे थे। पर इन्होने 'कर्म' को विलकुल किनारे ढकेल दिया था तथा भोली जनता को विशुद्ध हृदय-पद्धति से हटाकर भ्रष्टाचार, दुराचार एव वामाचार के अखाड़े खड़े कर दिए थे, जिससे भारतीय सस्कृति दूषित मार्ग की ओर अग्रसर हो रही थी और सच्चे धर्म-भाव का ह्रास हो गया था। उसी समय दक्षिण भारत से भक्ति का

मत और वैष्णव मतो के रहस्य को समझकर इन्ही सबके सम्मिश्रण मे एक नये मत को रूप दिया जो आगे चलकर कबीर-पन्थ कहलाया।

मनुष्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य हुआ करता है ईश्वर की प्राप्ति। कबीर ने ईश्वर को निराकार तथा प्रेम का अक्षय भण्डार माना है। वह अनादि, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, त्रिगुणातीत, सर्वव्यापक, ज्योतिस्वरूप, अलख तथा निरजन है। वह कहते है—

अजरा अमर कथै सब कोई अलख न कथणा जाई।
नाति स्वरूप बरन नहीं जाके घट-घट रह्यो समाई॥

उनके अनुसार ईश्वर की प्राप्ति मे गुरु का बहुत ऊँचा स्थान है तथा उसकी प्राप्ति भक्ति अथवा प्रेम तथा योग द्वारा ही हो सकती है। अत उन्होने सूफियों के स्वर-मे-स्वर मिलाते हुए कहा है—

हरि मोरे पिव मै राम की बहुरिया।

कही उन्होने ईश्वर की प्राप्ति मे योग-साधना को भी विशेप स्थान प्रदान किया है। योगाभ्यास द्वारा दिव्य स्वरूप का मनन करते हुए आत्मा समाधिस्थ होकर ईश्वर से मिल जाती है। वह कहते है—

सत्त शब्द परमान, अनहद वाणी जो दृढ़ै।
और झूठ सब ज्ञान कहै कबीर विचार कै॥

कबीर मे ज्ञान-मार्ग की जहाँ तक बाते हैं वे हिन्दू शास्त्रो की हैं। उन्होने माया, जीव, ब्रह्म, तत्त्वमसि तथा वेदान्तियो के कनक, कुण्डल, न्याय आदि शब्दों का भी व्यवहार किया है—

तत्त्वमसी इनके उपदेसा। ई उपनिषद कहैं सन्देसा॥
जागबलिक औ जनक सँवादा। दत्तात्रेय वहै रस स्वादा॥

अन्योक्तियो का आधार लेकर उन्होने माया, जीव तथा ब्रह्म का सुन्दर सम्बन्ध दिखाया। इनका सिद्धान्त था—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूट कुम्भ जल जल ही समाना यह तथ कहौं गियानी॥

वैष्णव मत से इन्होने अहिंसावाद को अपनाया तथा हिंसा के लिए

मुसलमानो को फटकार भी सुनाई। यह सरल जीवन के पक्षपाती थे। अत इन्होने शाक्तों की बड़ी निन्दा की है। साथ ही बहुदेवोपासना, अवतार तथा मूर्ति-पूजा आदि का खण्डन इन्होने एक समाज-सुधारक की भाँति किया है। ये जाति-पाँति के भी कट्टर विरोधी थे। इन्होंने मुसलमानो के प्रत्येक विधि-विधान को चुन-चुनकर काटा और बार-बार उनकी निस्सारता तथा कुत्सितता भी दिखाई। नमाज़ के विषय मे आप कहते हैं—

कंकड़ पत्थर जोड़ कै, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहरा हुआ खुदाय॥

इस प्रकार हिन्दुओ एव मुसलमानों, दोनो मे फैली हुई कुरीतियो का इन्होंने खण्डन किया तथा 'राम' और 'रहीम' मे सामंजस्य स्थापित करके 'धर्म' के नाम पर होने वाले अनाचारो का खुलकर विरोध किया। संसार के मानवो को एकता का पाठ पढाकर, पारस्परिक वैमनस्य को दूर भगा-कर, 'संसार तथा कुटुम्ब मिथ्या है' यह समझाकर, अन्ध-विश्वासो से हटा-कर, मुक्ति प्रदान करने वाले विशुद्ध मार्ग पर लगा देना ही कबीर को अभीष्ट था।

कबीर ने अपने समय की चलती बोली को अपनाया। इस बोली का कोई रूप नही था। इसमे नाथपन्थ की सधुक्कड़ी भाषा, पूर्वी अपभ्रंश तथा उर्दू, अरबी, फारसी, पजाबी, सस्कृत, डिंगल आदि के तत्सम एव तद्भव शब्द मिले हुए है। यद्यपि उनकी भाषा साहित्यिक सौंदर्य-समन्वित नही है, फिर भी उस अपरिमार्जित एव अशुद्ध भाषा मे भी एक विलक्षण प्रभाव-शालिनी शक्ति एवं सरस प्रवाह है। 'रमैनी' तथा 'सबद' की भाषा पूरबी है। इसमे भोजपुरी का पुट है। कबीर की शैली भी मौलिक ही है। इनके उपदेशो का संग्रह बीजक तीन भागो मे विभक्त है—साखी, रमैनी तथा सबद। साखी दोहो मे लिखी गई है तथा रमैनी और सबद दोनों गेय है। उपदेशक होने के कारण उनकी उपमाएँ, अन्योक्तियाँ इत्यादि अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

अत हम देखते है कि कबीर हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक,

स्रोत बह चला और रामानुज, निम्बार्क, स्वामी मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य आदि ने ब्रह्म के 'सत्' तथा 'आनन्द' स्वरूप को लेकर सगुण भक्ति का निरूपण किया। भक्ति-आन्दोलन की इस लहर ने परिस्थितिवश हिन्दू और मुसलमानो के लिए एक सामान्य भक्ति-मार्ग को प्रस्तुत किया तथा नामदेव (सं० १३२८-१४०८) का नाम इसके लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अन्य पन्थो की अपेक्षा गोरखपन्थ कुछ सुधरा हुआ था और इसी ने निर्गुण-धारा के लिए मार्ग बनाया। इस समय शकर के ज्ञान-प्रधान 'अद्वैतवाद' का भी बड़ा जोर था, अतः उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी। इस तरह राजनीतिक उथल-पुथल के इस युग में धर्मशील तथा तत्वज्ञ इन सन्त कवियो ने निर्गुण भक्ति को ही अपनाया, क्योकि जनता को सगुण उपासना की निस्सारता का परिचय मिल चुका था। भारतीय अद्वैतवाद तथा मुसलमानो के एकेश्वरवाद के सम्मिश्रण से निर्गुण धारा बह चली, जिसकी दो शाखाएँ हुई— (१) ज्ञानमार्गी शाखा, (२) प्रेममार्गी शाखा।

ज्ञानमार्गी शाखा

भारतीय 'ब्रह्मज्ञान', योग-साधना, सूयिफो के 'प्रेमतत्व' तथा सुधार की भावना लेकर यह शाखा आगे बढ़ी। ये न तो पूरे अद्वैतवादी थे और न एकेश्वरवादी; इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति का प्रचार था जिसमे हिन्दू-मुसलमान दोनों योग दे सके और भेदभाव का कुछ परिहार हो। ये ज्ञानमार्गी कवि ज्ञानातीत सत्य के आध्यात्मिक निरूपण मे विश्वास रखने वाले थे, अत इनकी रचनाओ में हम रहस्यवाद का पुट भी विद्यमान पाते है। स्वामी रामानन्द के बारह शिष्यो मे से कुछ इस मार्ग के प्रवर्त्तन मे प्रवृत्त हुए, जिनमे से कबीरदासजी प्रमुख थे और यह ही निर्गुण पन्थ के निर्दिष्ट प्रवर्त्तक थे।

सन्त कबीरदास—यद्यपि इनके जन्म-सम्वत् तथा मृत्यु-सम्वत् के सम्बन्ध मे अनेक मत-मतान्तर प्रचलित है, तथापि अब तक किये गए अनु-

सन्धानो के अनुसार इनका जन्म-काल जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार विक्रम सम्वत् १४५६ तथा मृत्यु-सम्वत् १५७५ माना जाता है। यद्यपि यह जन-श्रुति ही है, फिर भी इस मत को मानने की सम्भावना होती है कि यह किसी ब्राह्मणी या हिन्दू-स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए और एक जुलाहे ने पालन-पोपण किया था। प्रसिद्ध स्वामी रामानन्दजी को इन्होने अपना गुरु स्वीकार किया था तथा इनका अधिक समय काशी मे ही बीता था। कुछ लोगो ने प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख तकी को ही उनका गुरु माना है। पर शेख तकी के लिए वे उतने आदरसूचक शब्द व्यवहार मे नही लाए है जितने उन्होने अपने वचनों मे गुरु-महिमा के लिए गाए है।

वे कहते है—

घट-घट है अविनाशी सुनहु तकी तुम सेख।

वही पर रामानन्दजी के लिए कहते है—

गुरु रामानन्द के चरण पर धोबिन (माया) दीन्हीं बार।

धर्मदास तथा सूरतगोपाल नाम के उनके दो चेले भी हुए। ऐसा कहा जाता है कि ये विवाहित भी थे तथा उनकी पत्नी का नाम लोई था और इनके 'कमाल' नामक एक पुत्र तथा 'कमाली' नामक एक कन्या भी थी। मरने पर इनके शव को जलाने तथा दफनाने के सम्बन्ध मे हिन्दू तथा मुसलमानों में स्पष्ट विवाद हुए, पर चादर हटाने पर शव के स्थान पर केवल पुष्प ही मिले, जिन्हे दोनो ने बाँटकर अपनी श्रद्धा की भावना को पूरा किया। एक महान् सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक होते हुए भी उन्होने कभी पराए अन्न से पेट पालने का विचार तक नही किया और सदा ताना बुन-कर जीवन-निर्वाह करते रहे।

ये अशिक्षित थे। इन्होने स्वयं लिखा है—

मसि कागद छुयो नहीं कलम गही नहीं हाथ।

पर देशाटन तथा साधु-फकीरो के सत्सग से इन्होने ज्ञानोपार्जन किया और हठयोगियो तथा सूफी फकीरो के रहस्य को समझा और तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थिति, भारतीय ब्रह्मवाद, ऐकेश्वरवाद, सूफी-

मत और वैष्णव मतो के रहस्य को समझकर इन्हीं सबके सम्मिश्रण मे एक नये मत को रूप दिया जो आगे चलकर कबीर-पन्थ कहलाया।

मनुष्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य हुआ करता है ईश्वर की प्राप्ति। कबीर ने ईश्वर को निराकार तथा प्रेम का अक्षय भण्डार माना है। वह अनादि, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, त्रिगुणातीत, सर्वव्यापक, ज्योतिस्वरूप, अलख तथा निरजन है। वह कहते है—

अजरा अमर कथै सब कोई अलख न कथणा जाई।
नाति स्वरूप बरन नहीं जाके घट-घट रह्यो समाई॥

उनके अनुसार ईश्वर की प्राप्ति मे गुरु का बहुत ऊँचा स्थान है तथा उसकी प्राप्ति भक्ति अथवा प्रेम तथा योग द्वारा ही हो सकती है। अत' उन्होने सूफियो के स्वर-में-स्वर मिलाते हुए कहा है—

हरि मोरे पिव मै राम की बहुरिया।

कही उन्होने ईश्वर की प्राप्ति मे योग-साधना को भी विशेप स्थान प्रदान किया है। योगाभ्यास द्वारा दिव्य स्वरूप का मनन करते हुए आत्मा समाधिस्थ होकर ईश्वर से मिल जाती है। वह कहते है—

सत्त शब्द परमान, अनहद वाणी जो दृढ़ै।
और झूठ सब ज्ञान कहै कबीर विचार कै॥

कबीर मे ज्ञान-मार्ग की जहाँ तक बाते है वे हिन्दू शास्त्रो की हैं। उन्होने माया, जीव, ब्रह्म, तत्त्वमसि तथा वेदान्तियो के कनक, कुण्डल, न्याय आदि शब्दो का भी व्यवहार किया है—

तत्वमसी इनके उपदेसा। ई उपनिपद कहै सन्देसा॥
जागवलिक औ जनक सँवादा। दत्तात्रेय वहे रस स्वादा॥

अन्योक्तियों का आधार लेकर उन्होने माया, जीव तथा ब्रह्म का सुन्दर सम्बन्ध दिखाया। इनका सिद्धान्त था—

जल मैं कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूट कुम्भ जल जल ही समाना यह तथ कहौं गियानी॥

वैष्णव मत से उन्होने अहिंसावाद को अपनाया तथा हिंसा के लिए

मुसलमानों को फटकार भी सुनाई। यह सरल जीवन के पक्षपाती थे। अत: इन्होने शाक्तों की वडी निन्दा की है। साथ ही वहुदेवोपासना, अवतार तथा मूर्ति-पूजा आदि का खण्डन इन्होंने एक समाज-सुधारक की भाँति किया है। ये जाति-पाँति के भी कट्टर विरोधी थे। इन्होंने मुसलमानो के प्रत्येक विधि-विधान को चुन-चुनकर काटा और वार-वार उनकी निस्सारता तथा कुत्सितता भी दिखाई। नमाज के विषय मे आप कहते हैं—

कंकड़ पत्थर जोड़ कै, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहरा हुआ खुदाय॥

इस प्रकार हिन्दुओ एव मुसलमानो, दोनो मे फैली हुई कुरीतियो का इन्होने खण्डन किया तथा 'राम' और 'रहीम' मे सामजस्य स्थापित करके 'धर्म' के नाम पर होने वाले अनाचारो का खुलकर विरोध किया। संसार के मानवों को एकता का पाठ पढाकर, पारस्परिक वैमनस्य को दूर भगाकर, 'ससार तथा कुटुम्व मिथ्या है' यह समझाकर, अन्ध-विश्वासो से हटाकर, मुक्ति प्रदान करने वाले विशुद्ध मार्ग पर लगा देना ही कवीर को अभीष्ट था।

कवीर ने अपने समय की चलती वोली को अपनाया। इस वोली का कोई रूप नही था। इसमे नाथपन्थ की सधुक्कडी भाषा, पूर्वी अपभ्रंश तथा उर्दू, अरवी, फारसी, पजावी, सस्कृत, डिंगल आदि के तत्सम एव तद्भव शव्द मिले हुए हैं। यद्यपि उनकी भाषा साहित्यिक सौंदर्य-समन्वित नही है, फिर भी उस अपरिमार्जित एव अशुद्ध भाषा मे भी एक विलक्षण प्रभावशालिनी शक्ति एव सरस प्रवाह है। 'रमैनी' तथा 'सवद' की भाषा पूरवी है। इसमें भोजपुरी का पुट है। कवीर की शैली भी मौलिक ही है। इनके उपदेशों का सग्रह वीजक तीन भागो मे विभक्त है—साखी, रमैनी तथा सवद। साखी दोहो मे लिखी गई है तथा रमैनी और सवद दोनो गेय है। उपदेशक होने के कारण उनकी उपमाएँ, अन्योक्तियाँ इत्यादि अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

अत हम देखते है कि कवीर हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक,

कही-कही कबीर की भक्ति भी दास्य और दैन्य-भावना से सराबोर दिखाई है और वहाँ कबीर का आत्म-समर्पण देखते ही बनता है।

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाऊँ।
गलै राम की जेवड़ी जित खींचै तित जाऊँ।
तो तो करैतो बहुड़ों दुरि दुरि करै तो जाऊँ।
ज्यों हरि राखे त्यों रहौं जो देवे सो खाऊँ॥

कबीर और उनकी परम्परा के सन्तों का ईश्वर निराकार है, लेकिन वे उसके नाम-स्मरण से उसके प्रति अनुरक्ति बनाए रखने के अभ्यासी है। असत् लोगो की सगति का परिहार और भगवान् का नाम-स्मरण इनकी भक्ति की भी विशेषता है।

असत् संगति जिणि जाइयो रे भुलाइ।
साधु संगति मिलि हरि गुण गाइ॥

इस भक्ति-भावना की मनस्थिति मे मात्र ईश्वर ही उनका सहायक स्वामी और रक्षक है, उसके बिना निस्तार सम्भव नही।

अब मोहि राम भरोसा तोरा।
और कौन की करौं निहोरा॥

अध्यात्म के क्षेत्र मे सासारिक जीवन की क्षणभगुरता का ज्ञान कबीर ने किया था। आत्मा ही मूलतत्त्व है, यह शरीर क्षण-भगुर है, इसकी लोकप्रिय अनुभूति कबीर की पदावली मे होती है।

हमको ओढ़ावै चदरिया चलती बिरियाँ।
प्रान राम जब निकसन लागे,
उलटि गई दोउ नैन पुतरिया।
भीतर से जब बाहर लाये,
छूटि गई सब महल अटरिया॥

वस्तुत यही कारण है कि सभी सन्तो ने इस नश्वर और क्षण-भगुर जगत् के फेर मे न पडने के लिए एक उद्बोधन का स्वर प्रदान किया है।

कबीर गर्व न कीजिये काल गहे कर केस।
ना जानौं कित मारिहै क्या घर क्या परदेस॥

सन्त कमाल कवीर के पुत्र माने जाते है। कुछ विद्वानो का विचार है कि यह एक बहुत पहुँचे हुए सिद्ध सन्त थे। लोकोक्ति मे कमाल मे पिता के तुल्य गुणो का अभाव देखते हुए निन्दा की भावना पाई जाती है—

'बूढ़ा वंश कबीर का उपजे पूत कमाल।'

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि कमाल अपने पिता के तुल्य ही गुणी और साधक सन्त थे, लेकिन उनके पिता के नाम पर जो लोग सम्प्रदाय चलाना चाहते थे कमाल ने उसका घोर विरोध किया। वस्तुतः यही कारण है कि समाज ने उनकी निन्दा प्रारम्भ कर दी। कमाल के नाम से उपलब्ध पदो मे ज्ञान की झाँकी मिलती है। एक कर्तार ही सत्य है और सासारिक सम्भार क्षण-भगुर है, इसकी अनुभूति कमाल ने भी की थी।

आसरा एक करतार का रख तू।
बीच मैदान के बाँध लाटी—
रहेगा वोही जिन्हें खलक पैदा किया।
और सब होयगा खाक माटी॥
अमीर-उमराव दिन चार के पाहुने।
घूमता है दरबार हाथी—
कहत है कमाल कवीर का बालका।
राम नाम तेरा सग साथी॥

कवीर के पुत्र श्री कमाल का यश शेष कुछ पदो मे ही अवशिष्ट रह गया है। इनकी भी समाधि मगहर मे कवीर साहव की समाधि के पास मिलती है। सासारिक प्राणियो एव वाह्याचरण-प्रधान लोगो को आपने भी उद्बोधन के स्वर मे उपदेश दिया है।

इतना जोग कमाय के साधू क्या तूने फल पाया।
जंगल जाके खाक लगाये फेर चौरासी आया॥

कवीर के उत्तराधिकारी एव शिष्यो मे सर्वाधिक प्रसिद्ध सन्त धरमदास

रहस्यवादी एव सुधारवादी कवि है। उनकी रचनाओ मे हम एक प्रकार की अव्यक्त प्रेरणा पाते हैं, जो हमे इस वातावरण से उठाकर किसी अन्य लोक मे पहुँचा देती है। हिन्दी की वर्तमान काव्य-प्रगति मे भी कबीर के रहस्यवाद की छाप दीख पडती है। शान्तिनिकेतन के आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कवीर का गम्भीर अध्ययन किया है। आपकी ही प्रेरणा से स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने आपके कतिपय पदों का अनुवाद अँग्रेजी में किया था।

कबीर के प्रति रवीन्द्रनाथ के आकर्षण के कई कारण थे, लेकिन मुख्य विषय उनका रहस्यवादी होना ही कहा जा सकता है। दार्शनिक क्षेत्र मे अद्वैत के मत का प्रतिपादन कबीर के पदो मे उपलब्ध होता है। आत्मा और परमात्मा के सम्मेलन को जो प्रेम परायण-स्थिति सन्तों ने चित्रित की है वही रहस्यवाद की वर्ण्य वस्तु है। कबीर के पदो मे इस परम-तत्व के लिए आत्मा की व्याकुलता की कई स्थितियाँ चित्रित की गई है। गुरु परमात्मा तत्व को लक्ष्य कराने में सहायक है। और उसकी कृपा से परमात्मा के लिए जो विरह की अनुभूति होती है कवीर ने उसका अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है।

हँसे न बोलै उनमुनी चचल मेल्हया मारि।
कहै कवीर भीतर भिद्या सतगुरु के घनियारि॥
गूँगा हूवा वावला वहरा हूवा कान।
पाऊँ थै जंगुल भया सतगुरु मार्‌या वान॥

रहस्यवाद के क्षेत्र मे विरह की स्थिति को दिव्यता प्रदान करते हुए कवीर ने प्रेम-प्रतीको का आश्रय लेकर सुन्दर भाव-धारा प्रवाहित की है। प्रियतम की विरह से वनी स्थिति को चित्रित करके अपनी अनन्यता का भी चित्रण कवीर ने किया है।

नैना अन्तर आव तूं पलक झाँपि तोहि लेऊँ।
ना मैं देखूं और को ना तोहि देखन देऊँ॥

कवीर का प्रियतम अध्यात्म-सत्ता का प्रतीक और सुन्दरता का सार है। उनकी आध्यात्मिक अनुभूति उसे पकडने को व्याकुल कर रही है और जब

वह उसके परमार्थ का मान कर लेती है तो उसे इस समष्टि मे प्रियतम की मुन्दरता ही व्याप्त दिखाई पड़ती है। वह अपने को भी उसमे पाते है।

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मै भी हो गई लाल ॥

कबीरदास में रहस्यवाद की अभिव्यक्ति देखने के उपरान्त उनकी भक्ति पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है। सन्तों की परम्परा मे सिरमौर कबीर केवल ज्ञान का शुष्क उपदेश देने वाले नही है वरन् उनकी पदावली मे भक्ति का उदात्त रागात्मक तत्त्व मिलता है। भक्ति के आचार्यो ने ईश्वर के प्रति अनुरक्ति को भक्ति कहा है। कबीर मे ईश्वर के प्रति एक प्रकार का रागात्मक उद्वेग दिखलाई पडता है। यह ठीक है कि कबीर का ईश्वर सगुण नही है वरन् निर्गुण ब्रह्म को अपनाकर कबीर ने जो पदावली गाई है उसमे उनकी दृढ प्रेम-परायण भक्ति का पता चलता है। ज्ञान के विवेचन-मात्र से ईश्वर की कृपा उपलब्ध नही हो सकती, ऐसा कबीर का दृढ़ विचार है। ज्ञान की उपलब्धि के उपरान्त यदि भगवान् के प्रति भक्ति का स्वर हो तो भगवान् के प्रति यह आकर्षण ही सुलभ एवं श्रेयस्कर है।

देखो भाई ज्ञान की आई आँधी।
सभै उड़ानी भ्रम की टाटी रहे नमाइआ बाँधी।
दुचिते की दुइ थूनि गिरानी मोहुवलेड़ा टूटा।
तिसना छानि परी घर ऊपरि दुरगति भाँड़ा फूटा।
आँधी पीछे जो जलु बरसै तेहि तेरा तनु भीजा।
कहु कबीर मन भरया प्रगास्या उदैभानु जब चीन्हा।

भक्ति से ही भगवान् सुलभ है, ब्रह्म-कथन और अनहद के उच्चारण-मात्र से ईश्वर का सान्निध्य नहीं उपलब्ध हो सकता।

हिरदै कपट हरि सू नहि साँचो।
कहा भयो जो अनहद नाच्यो ॥
ब्रह्मे कथि-कथि अन्त न पाया।
राम भगति घर बैठो पाया ॥

कही-कही कबीर की भक्ति भी दास्य और दैन्य-भावना से सराबोर दिखाई है और वहाँ कबीर का आत्म-समर्पण देखते ही बनता है।

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाऊँ।
गलै राम की जेवड़ी जित खींचै तित जाऊँ।
तो तो करैतो बहुड़ों दुरि दुरि करै तो जाऊँ।
ज्यों हरि राखे त्यो रहौं जो देवे सो खाऊँ॥

कबीर और उनकी परम्परा के सन्तों का ईश्वर निराकार है, लेकिन वे उसके नाम-स्मरण से उसके प्रति अनुरक्ति बनाए रखने के अभ्यासी हैं। असत् लोगो की सगति का परिहार और भगवान् का नाम-स्मरण इनकी भक्ति की भी विशेषता है।

असत् संगति जिणि जाइयो रे भुलाइ।
साधु संगति मिलि हरि गुण गाइ॥

इस भक्ति-भावना की मनस्थिति मे मात्र ईश्वर ही उनका सहायक स्वामी और रक्षक है, उसके बिना निस्तार सम्भव नही।

अब मोहि राम भरोसा तोरा।
और कौन की करौं निहोरा॥

अध्यात्म के क्षेत्र मे सासारिक जीवन की क्षणभंगुरता का ज्ञान कबीर ने किया था। आत्मा ही मूलतत्त्व है, यह शरीर क्षण-भगुर है, इसकी लोकप्रिय अनुभूति कबीर की पदावली मे होती है।

हमको ओढ़ावै चदरिया चलती बिरियाँ।
प्रान राम जब निकसन लागे,
उलटि गई दोउ नैन पुतरिया।
भीतर से जब बाहर लाये,
छूटि गई सब महल अटरिया॥

वस्तुत यही कारण है कि सभी सन्तों ने इस नश्वर और क्षण-भगुर जगत् के फेर मे न पडने के लिए एक उद्बोधन का स्वर प्रदान किया है।

कबीर गर्व न कीजिये काल गहे कर केस।
ना जानौं कित मारिहैं क्या घर क्या परदेस।।

सन्त कमाल कबीर के पुत्र माने जाते है। कुछ विद्वानो का विचार है कि यह एक बहुत पहुँचे हुए सिद्ध सन्त थे। लोकोक्ति मे कमाल मे पिता के तुल्य गुणो का अभाव देखते हुए निन्दा की भावना पाई जाती है—

'बूढ़ा वंश कबीर का उपजे पूत कमाल।'

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि कमाल अपने पिता के तुल्य ही गुणी और साधक सन्त थे, लेकिन उनके पिता के नाम पर जो लोग सम्प्रदाय चलाना चाहते थे कमाल ने उसका घोर विरोध किया। वस्तुतः यही कारण है कि समाज ने उनकी निन्दा प्रारम्भ कर दी। कमाल के नाम से उपलब्ध पदों मे ज्ञान की झाँकी मिलती है। एक कर्तार ही सत्य है और सासारिक सम्भार क्षण-भगुर है, इसकी अनुभूति कमाल ने भी की थी।

आसरा एक करतार का रख तू।
बीच मैदान के बाँध लाटी—
रहेगा वोही जिन्हें खलक पैदा किया।
और सब होयगा खाक माटी।।
अमीर-उमराव दिन चार के पाहुने।
घूमता है दरबार हाथी—
कहत हैं कमाल कबीर का बालका।
राम नाम तेरा संग साथी।।

कबीर के पुत्र श्री कमाल का यश शेष कुछ पदो मे ही अवशिष्ट रह गया है। इनकी भी समाधि मगहर मे कबीर साहब की समाधि के पास मिलती है। सासारिक प्राणियो एवं बाह्याचरण-प्रधान लोगो को आपने भी उद्बोधन के स्वर मे उपदेश दिया है।

इतना जोग कमाय के साधू क्या तूने फल पाया।
जंगल जाके खाक लगाये फेर चौरासी आया।।

कबीर के उत्तराधिकारी एव शिष्यो मे सर्वाधिक प्रसिद्ध सन्त धरमदास

है। सम्भवतः इनका जन्म सम्वत् १४९० वि० के आसपास हुआ था। इनका जन्म-स्थान बाँधोगढ माना जाता है। इनकी जाति वनिया कही जाती है। इनका अवसान-काल वि० सम्वत् १६०० के लगभग माना जाता है। परमात्मा के समक्ष प्रियतम भाव से इनका आत्म-निवेदन स्तुत्य वन पड़ा है।

पिया परदेसिया गवन लै जा मोर।
आव भाव का अनवट बिछुआ शब्द के घुँघरू उठे घनघोर।
तन सारी मन रतन लहँगवा ग्यान की अँगिया भई सरबोर।।
चारि जना मिलि ले चले हैं जाइ उतारे जमुना के कोर।
धरमदास विनवै कर जोरी नगरी के लोग कहैं कुलबोर।।

धरमदास की पदावली मे ज्ञान, वैराग्य, अध्यात्म, भक्ति आदि तत्त्वों की सहज एवं सवेद्य अभिव्यक्ति हुई है। दर्शन के क्षेत्र मे अद्वैत की परम्परा का पोषण करते हुए जीव और ब्रह्म की माया के कारण विलगता को सिद्ध करते हुए वे कहते है—

कहँवा से जीव आइल,
कहँवा समाइल हो।
कहँवा कइलसि मुकाम,
कहाँ लपिटाइल हो।
निरगुन से जीव आइल,
सगुन समाइल हो।
काया गढ़ि कहलसि मोकाम,
माया लपिटाइल हो।।

इनकी पदावली मे भी भगवान् के नाम-स्मरण पर अधिक ज़ोर दिया गया है और रामरस का पान करना एक वड़ा ही कठिन कर्म वताया गया है। सांसारिक माया-मोह से विरक्त होकर परमतत्त्व की ओर आकर्षण पर भी ज़ोर इनकी वाणियो में मिलता है।

घड़ा एक नीर का फूटा। पत्र एक डार से टूटा।
ऐसे हि नर जात जिन्दगानी। अजहु नहि चेत अभिमानी॥

कबीर के समकालीन प्रसिद्ध संत रविदास के विषय मे भी बहुत कुछ अज्ञात ही है। इनके जन्म-सवत् के विषय में भी कुछ ज्ञात नही है। इनका जन्म-स्थान भी काशी माना जाता है और ये चमार जाति मे जन्म ग्रहण किए जाने वाले बताए जाते है। कबीर-पंथ की भाँति इनके भी नाम से रैदास पंथ चला। इनके पिता का नाम रग्घू और माता का नाम घुरविनिया बताया जाता है। यह भी स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। यह राम-नाम को प्राणाधार समझते थे और विना हरि-कृपा के संशय की गाँठ नही छूट सकती, ऐसा इनका विश्वास था।

राम बिन संसय गाँठि न छूटै।
काम किरोध लोभ मद माया, इन पंचन मिलि लूटै॥

हरि-भक्ति के क्षेत्र मे यह चैतन्य होने के सकल्प की ओर उन्मुख है और राम-भक्ति के लिए जाति-भेद से ऊँच-नीच भाव की सार्थकता नही समझते।

रे चित चेत अचेत काहे बालक को देख रे।
जाति ते कोइ पद नहिं पहुँचा राम भगति बिसेख रे।

केशव की विकट माया जीव को मति-भ्रम करती है और विना उसकी कृपा के उससे त्रास सम्भव नही है।

केसवे विकट माया तोर ताते विकल गति मति मोर।
सुविषंग सत कराल अहिमुख ग्रसति सुरल सुमेप॥

प्रभु के दर्शन की उत्कट इच्छा रैदास के मन मे समाविष्ट है। वे रात-दिन उसी के ध्यान मे निमग्न रहते हैं।

रैदास रात न सोइये दिवस न करिये स्वाद।
अहनिसि हरिजी सुमिरिये छांडि सकल प्रतिवाद॥

दादू—इनकी जन्मभूमि अहमदावाद (गुजरात) मान्य है। इनका जन्म-काल लगभग सम्वत् १६०१ विक्रमी माना जाता है। इन्हे नागर ब्राह्मण कुलोत्पन्न बताया जाता है। इनका निर्वाण-काल वि० सम्वत् १६६०

के आस-पास जयपुर के समीप नाराणा ग्राम मे माना जाता है। सत-परम्परा के अन्य कवियो की भाँति ज्ञान, गुरु एवं साधु-महिमा, नाम-स्मरण, विषय-निन्दा, वैराग्य, भक्ति, माया-विषयक उत्कृष्ट प्रेम एव अभिव्यजनापूर्ण पद दादू के मिलते है। इनके नाम से भी एक पथ चला जिसे दादू-पंथ की सज्ञा मिली। परमात्मा की व्यापकता को प्रदर्शित करने वाला इनका पद बहुत लोकप्रिय बन पडा है।

घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत है मथि काढ़ें तो और॥

एकेश्वरवाद की भावना को प्रेम के उभय पक्ष से सजात होकर कवि दादू ने अधिक मार्मिक और हृदयग्राही रूप दिया है। अनन्यता की सशक्त अभिव्यक्ति भी इनके प्रेम-प्रसङ्गो की विशिष्टता है।

दादू एकै दसा अनन्य की, दूजी दसा न जाइ।
आपा भूलै आन सब एकइ रहै समाइ॥
दादू देखूँ निज पीव कूँ और न देखौं कोइ।
पूरा देखूँ पीव कूँ बाहर भीतर सोइ।
एक मन लगा रहै अंत मिलैगा सोइ।
दादू जाकै मन बसै ताकूँ दरसन होइ।
दादू रीझै राम पर अनत न रीझै मन।
मीठा भावै एक रस दादू सोइ जन॥
दादू दूजा नैन न देखिये स्रवणहुँ सुनै न जाइ।
जिभ्या आन न बोलिये अंग न और सुहाइ॥

सुन्दरदास—दादू के परम शिष्य सुन्दरदास का जन्म वि० स० १६५३ (१५९६ ई०) के आस-पास जयपुर मे छौसा मे मान्य है। सुन्दरदास की शिक्षा-दीक्षा काशी मे हुई थी। सत-काव्य-धारा के कवियो मे काव्य के मापदण्डो की दृष्टि से इनकी कविता नि सदिग्ध रूप से उत्कृष्ट मानी जाती है। सुन्दर काव्य के माध्यम से विषय का सुष्ठु प्रतिपादन इनकी अपनी विशेषता है। संतों की वाणियो मे प्रतिपाद्य विषय को ही वर्णित करते हुए,

इन्होंने अभिनव काव्यात्मकता और सुन्दर चमत्कारिक शैली का प्रदर्शन किया।

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइके देह सँवारी।
मेघ सहे सिर सीत सह्यो तनु धूप सभै पंचागिनवारी।
भूख सहै रहि रूख तरे पर सुन्दरदास सहै दुख भारी।
डासन छाड़ि के कासन ऊपर आसन मारि पै आसन मारी॥

सैद्धान्तिक दृष्टि से भी शुद्ध अद्वैत ज्ञान का प्रतिपादन कवि सुन्दरदास ने किया है।

तोहि में जगत यहाँ तूही है जगत माँहि
तो मै उस जगत में भिन्नता कहाँ रही।
भूमि ही ते भाजन अनेक विधि नाम रूप।
भाजन विचारि देखे उहै एक ही मही।
जल ते तरंग फेन बुद-बुदा अनेक भाँति।
सोउ तौ विचारे एक बहै जल है सही।
जेते महापुरुष है सबको सिद्धान्त एक।
सुन्दर अखिल ब्रह्म अंतवेद ये कहीं॥

सत्-संगति की महिमा का हृदयहारी एव उत्कृष्ट वर्णन कवि सुन्दरदास ने किया है। सवैया और कवित्त आदि छन्दो की रचना की दृष्टि से भी इनका साहित्यिक महत्त्व है।

तात मिलै पुनि मात मिलै सुत भ्रात मिलै जुवती सुखदाई।
राज मिलै गजवाजि मिलै सब सोज मिलै मन वांछित पाई।
लोक मिलै सुरलोक मिलै विधिलोक मिलै बहु कंठहु जाई।
सुन्दर और मिले सबही सुख संत समागम दुर्लभ भाई॥

सुन्दरदासजी के अतिरिक्त दादू-सम्प्रदाय के अन्तर्गत सत-काव्य-धारा के बहुत से कवि सतो का उल्लेख मिलता है जिनमे संत रज्जबजी, वाजिद जी, बखनाजी, साधु निश्चलदासजी, स्वामी हरिदासजी, श्री जगन्नाथजी एव श्री संत गरीबदासजी का नाम उल्लेखनीय है। संत गरीबदासजी इस

समुदाय के एक उच्चकोटि के साधक थे। इनका जन्म सम्वत् वि० १६६२ वताया जाता है और इनका जन्म-स्थान राजस्थान के अन्तर्गत स्थित साँगर प्रदेश माना जाता है। इनकी जाति, जन्म, गोत्र, पिता आदि के सम्वन्ध मे विद्वानो मे मतैक्य का अभाव है। इनके देहावसान-काल के विषय मे भी मत-वैभिन्य है। ईश्वर की प्रतीति और उसमे अनुराग की प्रवल लालसा इनके पदो मे दिखाई देती है। अपने प्रेम-पथ की गम्भीरता की भी सशक्त अभिव्यक्ति सन्त गरीवदास ने की है।

प्रीति न लूटै जीव की जो अंतर होइ
तन मन हरि के रंग रँग्यो जानै जन कोइ।
लख जोजन देही रहै चित सनमुख राखै
ताको काज न ऊजड़ै जो हरिगुन भाखै॥
कँवल रहै जल अँतरै रवि वसै अकास।
संपुट तबही विगसिहै जब जोति प्रकास॥
सब ससार असार है मन मानै नाँही।
गरिबदास नहिं बीसरै चित तुमही माँही॥

चरणदास का जन्म-काल वि० स०१७६० (१७०३ ई०) के आस-पास माना जाता है। इनकी जन्म-भूमि अलवर प्रदेश का देहरा गॉव बताया जाता है। कुछ लोग इनका जन्म श्री शोभनजी के सत्कुल भार्गव वश मे बतलाते है और कुछ लोग इन्हे दूसरे वनिया ठहराते है। इनका अवसान-काल ७९ वर्ष की अवस्था मे वि० स० १८३९ के आस-पास बताया जाता है। इनके गुरु श्री शुकदेवजी बतलाए जाते है। सन्त-काव्य की परम्परा मे साधना का चरमोत्कर्ष रूप प्रस्तुत करते हुए इन्होने बहुत से पद गाये हैं, जिनसे साधना पक्ष की इनकी उच्चाशयता का परिचय मिलता है। काम, क्रोध, मोह, लोभ, अभिमान, जगत् की क्षणभगुरता, नाम-भक्ति, अभिमान विषयक इनके अनेक पद उपलब्ध है। वहुत से पदो मे सामाजिक रूढियो के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया भी देखने को मिलती है। अन्य सन्तो की परम्परा मे आपने भी मूर्ति-पूजा का तीव्र विरोध किया है। सासारिक माया-मोह

आसक्ति का कारण है, उससे विरक्ति गुरु-कृपा से ही सम्भव है। अस्तु अपने गुरुदेव शुकदेव की पुण्य-स्मृति मे चरनदास ने उद्बोधन के स्वरो में वहुविधि रागात्मक पद गाये हैं—

अरे नर पर-नारी मत तक रे।
जिन जिन ओर तको डायन की बहुतन कूँ गइ भख रे।
दूध आक को पान करैया झाल अगिनि की जानो।
सिंह मुछारे विस कारे को ऐसे ताहि पिछानो।
खानि नरक की अति दुखदाई चौरासी भरनावै।
जनम जनम कूँ दाग लगावैं हरि गुरु तुरत छुडावैं॥
जग में फिरि-फिरि महिमा खोवै राखै तन-मन मैला॥
चरनदास सुखदेव चितावैं सुमिरो राम सुहेला॥

चरनदास ने अपने वहुत पदो मे इस भावना की अभिव्यक्ति की है—यह ससार क्षणभगुर है और इसमें व्यतीत होने वाला अपना जीवन भी क्षण-भगुर है। अस्तु इस ससार को आसक्त करत्ते वाले उपादानो से ऊपर उठकर भगवान् के प्रति अनुरक्ति ही जीव का निस्तार करने वाली है। संसार के सुखोपभोग के सारे सम्भार साधक को तुच्छ प्रतीत होते है और अपनी साधना की अवाध धारा में वह हरि स्मरण का ही अभिलापी है। वह सारी कामनाओ से हीन होकर एक भगवत्-लालसा का अभिलाषी है, जिससे वह मुक्ति की उपलब्धि मे सक्रिय हो सके।

रिद्धि सिद्धि फल कछू न चाहूँ।
जगत कामना को नहि लाऊँ।
और कामना में नहिं राखूँ।
रसना नाम तुम्हारो भाखूँ॥
चौरासी में वहु दुख पायो।
ताते सरन तिहारी आयो॥

भगवान् की शरणागति, भगवन्नाम-स्मरण, गुरु-कृपा आदि की विधि-वत् सावना से जीव को दिव्यता उपलब्ध है, यही संत चरणदास की वाणियो

मे विदग्धता से प्रकट हुआ है। भक्ति-तन्मयता इनकी पदो में बरबस फूट पडी है और उसकी अभिव्यजना वडी सवेदनशील वन पडी है।

दयाबाई चरणदास की शिष्या है। इनका समय वि० स० १७४०-१८२० (१६८३-१७६३ ई०) माना जाता है। इनकी साधना का वैशिष्टच इनके पदो मे तन्मयता के रूप मे प्रकट हुआ है। ये गुरु के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए ब्रह्म के निर्गुण-निराकार रूप पर वल देती है और उस निरजन और उसके अजया जप की विशेषता को साधको के समक्ष महत्त्व-शाली वताती है। ब्रह्म के निर्गुण रूप को प्रश्रय देते हुए उसके नाम-स्मरण से ही जगत् का कल्याण बतलाती है।

हरि भजते लागै नहीं काल व्याल दुख झाल।
तातें राम संभालिए दया छोड़ि जग जाल॥
मनमोहन को ध्याइये तन-मन करिए प्रीति।
हरि तज जे जग में पगे देखो बड़ी अनीति॥
राम नाम के लेत ही पातक झरे अनेक।
रे नर हरि के नाम की राखो मन में टेक॥

× × ×

सोवत जागत हरि भजो, हरि हिरदे न बिसार।
डोरी गहि हरि नाम की दया न टूटे तार॥
दया देह सूँ नेह तजि हरि भजु आठो जाम।
मन निर्मल ह्वै तनिक में पावे निज विश्राम॥
दया नाव हरि नाम की, सतगुरु खेवनहार।
साधू जन के संग मिलि तिरत न लागै वार॥

सहजोबाई दयावाई की समकालीन है इनका समय भी स० १७४० वि० से १८२० तक माना जाता है। इनकी जन्मभूमि राजस्थान के देहरा नामक राज्य को वतलाया जाता है। यह भी चरणदास की शिष्या है। इन्होने वाल्य-काल से ब्रह्मचारिणी का व्रत निभाया। इनकी साधना पूत-भाव से भरी हुई है और यह साधना के क्षेत्र मे गुरु के महत्त्व को चरमो-

त्कर्ष पर पहुँचाती हैं, क्योकि गुरु ही वह तत्त्व है जो हरि को भी सुलभ बनाता है।

हरि ने कर्म धर्म भरमायो। गुरु ने आतम रूप लखायो।
हरि ने मोसूँ आप छिपायो। गुरु दीपक दै ताहि दिखायो॥
फिर हरि बंध मुक्ति गति लाए। गुरु ने सबही भरम मिटाये।
चरनदास तन मन वारूँ। गुरु न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ॥

ससार मे नाना प्रकार के क्लेश है। इनके प्रति सजग रहकर और हरि रूपी प्रियतम के अनुराग को जागरूक कर जीव को इससे मुक्ति मिल सकती है। सहजोबाई ने इसी सटीक भावना की अभिव्यक्ति की हैं—

पानी का सा बुलबुला यह तन ऐसा होय।
पीव मिलन की ठानिये रहिए ना पड़ सोय॥
रहिये ना पड़ि सोइ बहुरि नहिं मनुखा देही।
आपन ही कूँ खोजु मिलै तब रामसनेही॥
हरि कूँ भूलै जो फिरै सहजो जीवन छार।
सुखिया जब ही होयगो सुमिरैगो करतार।

तुलसी साहब—इनका जन्म स० १८८५ वि० (१८२८ ई०) मे माना जाता है। इनका सम्पूर्ण जीवन हाथरस मे ही बीता। इन्होने स्वत. अपनी रचनाओ मे अपने को 'रामचरितमानस' के प्रणेता महाकवि गोस्वामी तुलसीदास का अवतार घोषित किया है। साधना के क्षेत्र मे प्रतिपाद्य सभी शास्त्रीय विषयो की आपने बड़ी भव्य एव मार्मिक व्याख्या की है और निर्गुण ब्रह्म की उपस्थापना भी अधिक विस्तार और शास्त्रीयता के साथ की है। इनका एक बहुचर्चित एव सरस ग्रन्थ 'शब्दावली' उपलब्ध है। साधना के क्षेत्र में शृगारिक प्रतीकात्मक शैली मे ब्रह्म-साधना का सहज, सरस एव सुन्दर रूप प्रस्तुत करने का उत्कृष्ट प्रयत्न तुलसी साहब ने किया है।

सुहागिन सुन्दरी तुम बसहु पिया के देस।
नैहर नेह छाड़ि देवो री सुन सतगुरु उपदेस॥

कोटि करों इहाँ रहन न पैहों क्या धनि रंक नरेस।
प्रभु के देस परन सुख पूरन निरभय सुनत संदेस।
जरा मरन तन एक न व्यापै सोक मोह नहिं लेस।
सबसे हिल मिल वैर-विघन तज, परन प्रतीत प्रवेस।
दम पर दम हरदम प्रीतम सँग तुलसी मिटा कलेस॥

दरियासाहब (विहार वाले)—यद्यपि इनके जन्म-काल के विषय मे निश्चित मत का अभाव है, परन्तु सम्भावना ऐसी की जाती है कि इनका जन्म सं० १७३० वि० (१६७३ ई०) के आसपास हुआ होगा। इनकी जन्मभूमि विहार के आरा जिला के धरकंधा गाँव मे वताई जाती है। निर्गुण ब्रह्म के प्रति दोहे-चौपाई की शैली में इन्होने अपनी प्रगाढ भक्ति प्रगट की है—

दूजा दुबिधा जेहि नहिं सोई। भगत सुनाम कहावै सोई।
ब्राह्मन सो जो ब्रह्महि चीन्हा। ध्यान लगाइ रहै लवलीना॥
क्रोध मोह तृष्णा नहिं खोई। पंडित नाम सदा रै सोई।
दरिया भव जल अगम अति, सतगुरु करहु जहाज।
तेहि पर हंस चढ़ाइकै, जाइ करहु . सुख राज॥

दूसरे दरिया साहव राजस्थान के मारवाड प्रदेश के वताए जाते हैं। इनका जन्म स० १७७३ वि० वतलाया जाता है। कवीर की परम्परा का इन्होने अनुसरण किया है। इनकी जाति भी धुनिया वतलाई जाती है। इनकी उलटवासियाँ कवीर की अनुकृति पर निर्मित है।

मलूकदास का जन्म स० १६३१ वि० मे प्रयाग के कड़ा नामक ग्राम में हुआ था। साधना के क्षेत्र मे स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति इनकी रचनाओ मे परिलक्षित होती है। ब्रह्म के सगुण-निर्गुण उभय रूप के प्रति इन्होने अपने भक्तिमय उद्गार प्रस्फुटित किये है। इनके पदो की लोकप्रियता भी वहुत है। इनका एक वहुचर्चित पद आज भी लोक-मानस से सदा अवाध गति से याद किया जाता है।

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए सबके दाताराम।।

भक्ति के क्षेत्र मे अतिशय आस्था, हर्ष विश्वास इनके पदों मे प्रगट हो सका है।

माला जपो न कर जपो जिभ्या कहौ न राम।
सुमिरन मेरा हरि करै मै पाया विसराम।।
राम-राय असरन सरन मोहि आपन करि लेहु।
संतन संग सेवा करौं भक्ति मॅजूरी देहु।।

संसार के माया-मोह से आसक्त जीवन के प्रति उद्बोधन के स्वर मे मलूकदास ने आत्म-तत्त्व की पहचान की अभिव्यक्ति की है, अन्यथा उसके परखे विना जीवन अवास्तविक ही व्यतीत हो जाता है और परमार्थ के स्तर पर जीव को परमेश्वर का वोध नही हो पाता।

सोते सोते जन्म गँवाया।
माया मोह में सानि पड़ो सो रामनाम नहिं पाया।
मीठी नींद सोये सुख अपने कबहूँ नहिं अलसाने।
गाफिल होके महल में सोये फिर पाछे पछिताने।
अजहूँ उठो कहाँ तुम बैठे विनती सुनो हमारी।
चहुँ ओर में आहट पाया बहुत भई भुइँ भारी।
बन्दी होइ रहत घर भीतर खबर न काहू पाई।
कहत मलूक राम के पहरा जागो मेरे भाई।।

अपने फुटकर पदो मे मूलकदास ने नीति एवं उपदेश की शैली मे तात्त्विक और मर्मस्पर्शी वाते कही है।

मेघ फकीरी जे करे, मन नहिं आवै हाथ।
दिल फकीर जे हो रहे, साहेव तिनके साथ।
दया धर्म हिरदै वसै वोलै अमृत वैन।
तेई ऊँचे जानिये जिनके नीचे नैन।।

मलूकदास का देहावसान वि० स० १७३९ मे माना जाता है।

धरनीदास का नाम सन्त-कवियों मे अधिक प्रसिद्ध है। धरनीदास बिहार प्रान्त के सारन जिले के माँझी ग्राम के अधिवासी थे। आप स्वभाव से साधु प्रकृति के थे और अपना अधिकांश समय भगवद्भजन मे व्यतीत किया करते थे। आपके ग्रन्थो के अन्तर्साक्ष्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि आप शाहजहाँ के उत्तराधिकारियो के समकालीन थे। आपका जन्म-काल वि० स० १७९३ माना जाता है। आपके पिता का नाम परसराम दासजी और माता का नाम विरमा था। आप कायस्थ-परिवार मे उद्भूत हुए थे और परम्परागत रूप मे मुशीगिरी इनका पेशा था। इनके दो हस्तलिखित ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, जिनके नाम क्रमश 'शब्द-प्रगास' और 'प्रेम प्रगास' है। इनके ग्रन्थो की भापा अवधी-मिश्रित भोजपुरी है और अपने ग्रन्थ मे इन्होने स्थान-स्थान पर बँगला के पयार छद का भी प्रयोग किया है।

सुमिरु सुमिरु मन सिरजनहार
जिन्ह कैला सुर नर सरग पताल
रवि शशि अगिनि पवन कैला पानी
जिया जन्तु धनि धनि आनि आनि बानी ॥
धरती समुद्र बन परबत सुमेरु
कमठ फनिन्द्र इन्द्र बैकुण्ठ कुबेरु
गुरु के चरन रज सिखा चढ़ाइ
जिन्हें लेला भव जल बुड़त बचाइ ॥

ईश्वर और जीव को प्रेम के प्रति मनोरम रूप मे चित्रित करने के अतिरिक्त धरनीदास ने वैराग्य और सासारिक मिथ्यात्व के भी सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये है। अपने और अपने साहव की करामातो की स्पष्ट चर्चा करते हुए अत्यधिक लोकप्रिय एव सवेदनात्मक शैली मे उन्होने उसके विपरीत कर्मो की चर्चा की है।

मैं निरगुनियाँ गुन नहिं जाना
एक धनी के हाथ विकाना।

सोइ प्रभु पक्का मैं अति कच्चा
मैं झूठा मेरा साहब सच्चा
म ओछा मेरा साहब पूरा
मैं कायर मेरा साहव सूरा
मैं मूरख मेरा प्रभु ज्ञाता
मैं किरपन मेरा साहब दाता
धरनी मन मानो इक ठाऊँ
सो प्रभु जीवों मैं मरि जाऊँ॥

श्री बावरी साहिबा दिल्ली से सम्बद्ध एक संत साधिका थी। इनका समय अकवर से पूर्व वताया जाता है और इनके गुरु महात्मा मायानन्दजी माने जाते है। बावरी साहिबा मे ईश्वर के प्रति अनुरक्ति की एक अद्भुत लालसा उपलब्ध होती है।

बावरी रावरी का कहिये मन हूँ के पतंग भरैं नित भाँवरी।
भाँवरी जानहि संत सुजान जिन्हें हरि रूप हिये दरसावरी।
साँवरी सूरत मोहिनी मूरत देकर ज्ञान अनन्त लखावरी।
खावरी सोंह निहारी प्रभू गति रावरी देखि भई मति बावरी॥

इन्ही वावरी साहिबा के प्रमुख शिष्य संत वीरू साहब वतलाए जाते है जिन्हे सम्भवत· किसी पूर्वी जिले का निवासी भी समझा जाता है। इन्ही वीरू साहव के शिष्य यारी साहब थे जो दिल्ली से सम्वद्ध एक उच्च कोटि के साधक सन्त थे और इन्होने अपनी साधना से वहुत से सन्तो को अनुप्राणित भी किया था।

संत बुल्ला साहब यारी साहव के शिष्य थे। इनका जन्म वि० सं० १७५० से १८१५ के वीच गाजीपुर जिले के भरकुडा गाँव में वताया जाता है। इनकी जाति कुनवी वताई जाती है और इनका घरेलू प्रचलित नाम बुलाकीदास था। बुलाकीदास एक लोक-कवि के रूप मे प्रख्यात है और इनकी वनाई हुई 'छाँटो' और 'चैता' लोक मे अधिक गाई जाती हैं। इनको इन गीतों मे उद्वोधन के स्वरो मे इनके नाम की मुहर भी जड़ दी गई है।

इनके भोजपुरी के प्रसिद्ध छोटो गीतो की सरसता से उत्तर प्रदेश का समस्त पूर्वी भाग सराबोर हो उठा है। ईश्वर निराकार स्वरूप मे भी सर्वत्र व्याप्त है और उसकी असीमता उसके निरालेपन की परिचायक है, इसकी अभिव्यक्ति बडी ही मनोहारी शैली मे बुल्ला साहब ने की है। ससीम असीम का ही अश है।

भाई इक साई जग न्यारा है।
सो मुझमें मै वाही माही ज्यों जल मद्धे तारा है।
वाके रूप रेख काया नहि बिना सीस विसतारा है।
अगम अपार अमर अविनासी सो सन्तन का प्यारा है।
अनत कला जाके लहरि उठतु है परम तत्त निरकारा है।
जन बुल्ला ब्रह्म ज्ञान बोलतु है सतगुरु शब्द अधारा है।

गुलाल साहब प्रख्यात सत बुल्ला साहब के शिष्य थे। इनका जन्म सवत् वि० १७५० के आस-पास माना जाता है। इनका जन्म क्षत्रिय जाति मे गाजीपुर जिले के भरकुडा नामक ग्राम मे हुआ था। इनका अवसान-काल कुछ लोगो के अनुसार वि० स० १८१६ तथा कुछ के मत से १८५० के आस-पास मान्य है। नाम-स्मरण मे इनकी गहरी लगन प्रतीत होती है और उसका जप करने को ही यह अपना सर्वस्व समझते है।

राम मोर पुंजिया राम मोर धना। निस बासर लागल रहु मना।
आठ पहर तेह सुरति निहारी। जस बालक पालै महतारी॥

जाति-भेद मे आचरण-भेद पर आपने भी प्रतिक्रियात्मक रूप से कण-घात किया और वास्तविक ईश्वर की पहचान एव उपलब्धि के लिए सत्य साधना के मार्ग को प्रचारित किया—

तुम जात न जान गंवारा हो।
को तुम आहु कहां ते आयो झूठे करत पसारा हो।
माटी के बुंद पिंडकै रचना ता मं प्रान पियारा हो।
लोभ लहरि में मोह की धारा, सिरजनहार बिसारा हो।
अपने नाह को चीन्हत नाहीं, नेम धरम आचारा हो।

सपनेहु साहब सुधि नहिं जान्यो जमदूत देत पछारा हो।
उलट्यौ जीव ब्रह्म में मैल्ही पाँच पचिस धरिमारा हो।
कहै गुलाल साधु में गनती मनुवा मइल हमारा हो॥

संत भीखा साहब का जन्म सं० वि० १७७० के आस-पास आजमगढ जिले के खानपुर वोहना ग्राम मे हुआ था। इनका घर में प्रचलित नाम भीखानन्द था और ये ब्राह्मण वश मे उद्‌भूत हुए थे। इनके गुरु गुलाल साहब थे। इनकी पदावली मे भी गुरु गुलाल साहब की भाँति राम-नाम-स्मरण की उत्कट अभिव्यक्ति मिलती है।

राम सों करु प्रीति रे मन राम सों करु प्रीति।
राम विना कोउ काम न आवै अंत ढ़हो जिमि भीति॥
बूझि विचारि देखु जिय अपनी हरि विन नहिं क होति।
गुरु गुलाल के चरन कमल रस धरु भीखा उर चीति॥

सन्तो की परम्परा मे कुछ साधक कवि इस प्रकार के भी उपलब्ध होते हैं जिन्होने सारी परम्परा सन्तों से ली है फिर भी वे सूफी-साधना पद्धति से भी कुछ अंशों मे प्रभावित लगते हैं और उन्होने उस साधना मे प्रचलित शब्दावली को भी अपनाया है। यद्यपि सूफी-साधना का प्रभाव पूर्ववर्ती कवि कवीर इत्यादि पर भी पड़ा था लेकिन परवर्ती कुछ सत कवियो का साहित्य सूफी कवियो एवं उनकी काव्य-साधना से प्रभावित लगता है। वुल्लेशाह उसी परम्परा मे परिणत किए जाने वाले सत कवि हैं। इनका काल सं० १७६० से १८१० वि० तक माना जाता है। लोक विकास के अनुसार इनकी जन्मभूमि रूम मानी जाती है लेकिन कर्म भूमि और साधना का प्रसार-क्षेत्र लाहौर का कसूर नामक स्थान रहा। इनकी वानियाँ भी प्रेम की उत्कट अभिव्यक्ति एवं उपदेश परायणता से भरी हुई हैं। इनकी भाषा पर पंजाबी शब्दावली का भी प्रभाव परिलक्षित है।

वुल्ला हिजरत विच अलाहदे, मेरा नित है खास अराम।
नित नित मरा ते नित जिया, मेरा नित नित कूटा मुकाम।

बुल्ला आसिक हो यों रब्बदा, मुलामत होई लाख।
लोग काफर काफर आखदे, तू आहो आहो आख।।

पलटू साहब भी इन्ही बुल्लेशाह की परम्परा में एक सन्त थे इन्होने सूफियो की साधना-सम्बन्धी बातों का अपनी रम्य कुण्डलियों मे मार्मिक वर्णन किया। परवर्ती कई सन्त कवियो ने तो सूफियो की परम्परा मे प्रेमाख्यान भी रचा है जिनमे दुखहरणदास प्रसिद्ध है। उन्ही दुखहरणदास के प्रसिद्ध शिष्य शिवनारायण हुए, जिनके नाम पर शिवनारायणी वंश चला और प्रख्यात हुआ। परवर्ती सत-साहित्य एव साधना का उत्कृष्ट रूप इनकी रचनाओ मे उपलब्ध है। इनकी जन्मभूमि भी उत्तर प्रदेश मे गाजीपुर में बतलाई जाती है। इनका जन्मकाल अनुमानत. स० १६७८ के लगभग माना जाता है। सन्त कवियों ने परमात्मा को प्रियतम के रूप मे देखा है और अत्यन्त रहस्यात्मक शैली में उसके विरह की अनुभूति का चित्रण भी किया है। संत शिवनारायण का एक मार्मिक पद भी इसी भावना का है—इनकी भाषा मे भोजपुरी की प्रधानता देखी जा सकती है।

चलहु सखी खोजि लाउ निज सैंइयाँ।
पिया रहले अभी साथ में, हे छोड़ि गइले कवन ठइयाँ।
बेला से पूछौं चमेली से पूछौं पूछौं मैं बन मरकोइयाँ।
ताल से पूछौं तलैया से पूछौं पूछौं मैं पोखरा कुंइयाँ।।
शिवनारायण सखि पिआ नहि भेंटे हरि लेते मन जदुरइयाँ।।

इनके पंथ से अनुप्राणित कई अन्य साधक सन्त कवियो की नामावली भी उपलब्ध होती है। वहुत से सन्त-सम्प्रदाय के विविध पथो की भाँति इसका भी सुदूर देश मे प्रचार-प्रसार हुआ।

भावात्मक दृष्टिकोण से हम जव सन्तो की साधना पर विचार करते है तव इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उनका हृदय अधिक उन्मुक्त था, वे किसी प्रकार की सकीर्ण विचारधारा से आवद्ध न थे। विश्राम के स्तर पर सोचते-सोचते समष्टि-हित की आकाक्षा उनकी वाणियो का अभिप्रेत विपय थी। मानवीयता का उसके सात्विक गुणो से मापन करके ही किसी आचरण

या धर्म की प्रतिष्ठा सुनकर इन सभी सन्तों ने समझी। मनुष्य का मन सासारिक विषयाशक्ति से आकृष्ट है इसके निदान से ही परमात्मा की परख करके परम तत्व की उपलब्धि सम्भव है, ऐसा लगभग सभी सन्तों का विचार था। अत. इन सन्तों ने मन के कारण उद्भूत होने वाले विषयों की निन्दा की और उसके प्रति सर्वदा एक उद्बोधन और सजगता का स्वर अभिव्यक्त किया। संसार के उन समस्त कर्मों का जो किसी भी प्रकार आकर्षण से वन्धन उत्पन्न करने मे सहायक है, इन सन्तो ने उग्र रूप से निराकरण किया और इस क्षेत्र मे गुरु को एक सही और अच्छे पथ-निर्देशक के रूप मे परम महत्वशाली वतलाया। दर्शन की दृष्टि से सन्तों की वाणियों में द्वैत विशिष्टाद्वैत और अद्वैत की झलक पाई जा सकती है, लेकिन सन्तो ने किसी वाद विशिष्ट में वँधकर अपने परमात्म की महत्ता को सकीर्ण नही किया। असन्दिग्ध रूप से वेदान्त मे प्रतिपादित ईश्वर का स्वरूप इन सन्तों को ग्राह्य है, लेकिन उसकी साधनागत स्थिति पर सूफी प्रेमाभिव्यक्ति और वैष्णवाचार की छाप है। सन्तों का ईश्वर निराकार निर्गुण है और जगत के जीव उसके अश हैं। जीवात्मा परमात्मा से मिलने के लिए आकुल है इसीको रहस्यात्मक अभिव्यक्ति अधिकांश सन्तो ने की है। दर्शन का विशुद्ध अद्वैत इनकी साधना मे इसी रहस्यात्मकता से सन्निविष्ट हो उठा है और लगभग इसी के परिवेश मे सन्तो ने ब्रह्म, जगत्, जीव और माया विषयक अपने विचार प्रकट किए है। ईश्वर के प्रति रागात्मकता लिये हुए सन्तों के हृदय मे जो एक भक्ति-भावना वैठी हुई थी उसने कई रूपो मे उनके समक्ष अपने को प्रकट किया जिसमे सवसे सशक्त रूप रहा—दाम्पत्य प्रेम का। सभी ने अपने को परमात्म रूपी प्रियतम की पत्नी माना और उसके प्रति आत्म-समर्पण की भावना को वल दिया। भगवान् के नाम-स्मरण, गुण-कीर्तन, कथा-श्रवण और भक्ति के अन्यान्य पक्षों में भी सन्तो ने अपनी आस्था दिखलाई। सन्तो ने वौद्धो की परम्परा से उपोद्वलित होते हुए भी सुरति, निरति, मवि को अग इत्यादि की सुव्यवस्था की। वाह्याचार का विरोध करते हुए भी योगियो की वहुत-सी वातो में

उनकी आस्था रही। इस प्रकार इनकी साधना से निकले हुए तत्व से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि सामाजिक कल्याण की भावना से इनका मन सराबोर था और मानव-कल्याण को लक्ष्य करके ही इन्होने अपनी साधना की ज्योति जगाई थी जिसमें स्वान्तः सुखाय के अतिरिक्त समष्टि-कल्याण की भावना भी बैठी हुई थी। सभी सन्तो ने अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति पर जोर दिया और आन्तरिक शुद्धि से ही वास्तविक आध्यात्म-तत्व की खोज को श्रेयस्कर माना।

सन्तों की साधना का सामाजिक परिवेश भी आध्यात्मिक भावना से अनुप्राणित था। बाह्य साम्प्रदायिक विशेषताओं के कारण जो सामाजिक या साधनागत दुरूहता उत्पन्न हो सकती थी उसका इन सन्तो ने तीव्र विरोध किया। साधना के क्षेत्र में जाति-पाँति विषयक विभेद तथ्यहीन है, अतः सभी सन्तों ने इसका प्रतिरोध किया। हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता के लिए भी इन सन्तों ने प्रयास किया, क्योकि धर्म के अर्थ मे भी ईश्वर तत्त्व दोनों मे एक ही है और उसकी समानान्तर सम-स्थिति है। उसकी दृष्टिगतकर विलगता हमारी मन की उपज है। अस्तु, इन सन्तों ने अपनी साधना को सर्वजन-सुलभ और सबजन-सुखाय का स्वरूप प्रदान किया। सामाजिक सदर्भ मे हीनमन्यता से भरे हुए प्राणियों को भी एक संवेदनशील स्थिति का भान हुआ और फलस्वरूप बहुत-सी पिछड़ी हुई जातियो से महापुरुषो का प्रादुर्भाव सम्भव हो सका। हिन्दू-मुस्लिम, ब्राह्मण और अछूत की भावना को दूर हटाकर इन साधकों ने अखिल मानवता के कल्याण के लिए ज्ञान-प्रसार किया।

सन्तो ने अपनी काव्य-रचना के माध्यम से लोक कल्याण-की निर्मल पृष्ठभूमि उपस्थित की। उनकी काव्य-रचना का उद्देश्य मनोरजन नही था और न कला के शास्त्रीय मानो के आधार पर वे कोई काव्य-रचना की परपरा ही साहित्यिक सार पर कायम करना चाहते थे। उन्होने अपनी आध्यात्मिक विचार-धारा को जन-साधारण मे प्रचलित करने के लिए काव्य का

सुलभ माध्यम अपनाया। कबीर ने अपनी रचना के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए कहा—

तुम जिनि जानौ गीत है यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कह् समझाइया आतम साधन सार रे॥

सिद्ध नाथ मुनियो की परम्परा मे सर्वसाधारण की सुलभ भाषा में अपने उपदेश का प्रसार सतों ने भी अपना इष्ट समझा। बहुत से आलोचकों के अनुसार सिद्धो की 'संध्या भाषा' और नाथ पथियो की 'उलटी चर्चा' ने सन्तों के साहित्य मे उलटबाँसी या विपर्यय का रूप ले लिया है।' उलटबाँसियो मे संतो ने सांसारिक साधना के क्षेत्र मे आ उपस्थित होने वाले रहस्यो को एक भगिमा के साथ प्रस्तुत किया जिसके सहज अर्थ-बोध मे एक रहस्यात्मकता का प्रतिष्ठान सम्भव हो सका और अनुभूति की अभिव्यक्ति मे एक अभिनव शैली का संचार हो सका।

हरिके बारे बड़े पकाये जिनि जारे तिन खाए।
ग्यान अचेत फिरे नरलोई तापै जनमि जनमि डहकावै।
धौल मदलिया वैल रबावी, कड़वा ताल बजावै।
पहिरि चोलना गदहा नाचै भैंसा निरति करावै।
स्यंध वैठा पान कत्तरै घूंस गिलौरा लावै।
ईदुरी पपुरी मंगल गावै कछुए आनन्द सुनावै॥
कहैं कबीर सुनहु रे सन्तो गड़री परवत खावा।
चकवा वैसि अँगारे निगलै समंद अकासा धावा॥

इस पद के शाब्दिक अर्थ को छोड़कर जब हम इसके मर्म को टटोलते है तो निश्चित रूप से एक वड़े ही महत्व के अर्थ-वोध की स्थिति से हम परिचित होते है। इसी प्रकार संतो को काव्य-रचना मे स्वाभाविक रूप से विविध अलंकारों, लोकोक्तियो और मुहावरों का जो प्रयोग हुआ है उससे उनकी काव्य की गरिमा में सहज अभिवृद्धि हुई है। सन्तों ने साखी, शबदी और दोहरे की शैली मे अपनी सारी विचार-परम्परा को प्रवाहित कर दिया है। उनकी सरस पदावली नाना प्रकार के उपदेशों से भरी पड़ी है

और समयानुसार उनमे रस की विविध अवस्थाओ का परिपाक सम्भव हो सका है। भाषा की दृष्टि से सन्तों मे वहुत वडी विविधता पाई जाती है जिसके कई कारण वताए जाते है। जनसाधारण की भाषा को उनमे अपनी वातो के प्रचार-हेतु इन सन्तो ने अधिक प्रश्रय दिया। वहुत कुछ इन्ही कारणों से कवीर ने रूढिग्रस्त सस्कृत का प्रत्याख्यान करते हुए 'भाषा' पर अधिक वल दिया। 'कविरा संस्कृत कूप-जल भाषा बहता नीर'। कवीर की इस भाषा मे भी वड़ी विचित्रता उपलब्ध होती है। कुछ उसे राजस्थानी, कुछ व्रजभापा एव कुछ भोजपुरी और कुछ अन्य प्रादेशिक भाषाओ और वोलियों का मिला-जुला रूप मानते है। सव मिलाकर उनकी भाषा को वहुत-सी भाषाओं का समिश्रित रूप माना जाता है और इसका कारण कवीर की पर्यटनशील प्रवृत्ति का होना और उनकी वाणियो का जनसाधारण मे वहुत प्रचलित होना वताया जाता है और लगभग यही वस्तु-स्थिति अन्य सन्तो की भापा के लिए भी वताई जाती है और उन्हे सधुक्कड़ी भाषा की सज्ञा भी दी जाती है। यह वहुत कुछ स्वाभाविक स्थिति भी है।

कवीर के पश्चात भी ज्ञानमार्गी सन्त कवियो की परम्परा अविकल रूप से चलती रही। इसी शाखा में कवीर के वाद ही रविदास हुए जो जाति के चमार थे, तथा जिनकी भक्ति निर्गुण ढाँचे की थी। इन्होने भी ईश्वर को व्यापक माना है। यह एक अलग सम्प्रदाय के चलाने वाले भी हुए। इसको मानने वाले रैदास अथवा रविदास कहे जाते हैं।

सिख-सम्प्रदाय के आदि गुरु नानकदेव जी ने भी निर्गुणोपासना का प्रचार पजाव मे किया। इनका जन्म सवत् १५२६ में हुआ। इनके पद सिक्खो के प्रसिद्ध 'ग्रन्थ साहव' में एकत्रित किये गए हैं, जिनमे भक्ति या विनय के सीधे-सादे भाव सीधी-सादी भाषा में कहे गए है। कवीर के उपदेशों का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। उनकी वाणी मे हिन्दू और मुसलमान-विचारों का मेल प्रशंसनीय रीति से हुआ है। इनके पद भी संसार की अनित्यता तथा भगवद्भक्ति को ही व्यक्त करते हैं।

दादूपन्थ के प्रचारक प्रसिद्ध कवि दादूदयाल का जन्म संवत् १६०१ तथा मृत्यु संवत् १६६० मे हुई थी। इन्होने भी अपने सभी सिद्धान्तो को कवीर से लिया है तथा सत्गुरु की महिमा, ईश्वर की व्यापकता, जाति-पाँति की अवहेलना इत्यादि के सम्वन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। इनकी रचनाओं में हृदय की सच्ची अनुभूतियो का ही अभिव्यजन है।

उपर्युक्त सन्त कवियों के अतिरिक्त इस परम्परा मे **मलूकदास, सुन्दर-दास, अक्षरअनन्य, जगजीवन, तुलसी साहब, गोविन्द साहब, भीखा साहव** इत्यादि अनेक कवि हुए और इन्होने वैराग्य तथा प्रेमादि के विषय मे अपनी मनोहर वाणी का सचार किया।

प्रेममार्गी शाखा

इस काल मे निर्गुण उपासना करने वाले भक्त-कवियो ने 'सूफी' मत को अपनाकर प्रेम-गाथाओ के रूप मे लौकिक प्रेम का निरूपण करते हुए आत्मा को परमात्मा से मिलाने वाले 'प्रेम-तत्त्व' का दर्शन कराया। सूफी मत का प्रादुर्भाव फारस के कुछ सन्तो ने किया था, जिन्होने मुसलमानी एकेश्वरवाद या कट्टर पैगम्वरी खुदावाद को न मानकर विशुद्ध भारतीय अद्वैतवाद को अपनाया और 'वन्दा' (जीव) और खुदा (व्रह्म) मे कोई भेद न मानकर 'अनहलक', 'अहं व्रह्मास्मि' (मैं ही व्रह्म हूँ) की घूम मचाई। पर इन्होंने भारतीय अद्वैतवाद के सिद्धान्तों से कुछ अन्तर रखा तथा ज्ञान के स्थान पर प्रेम को ही प्रधानता प्रदान की और उस आत्मरूप प्रियतम की प्राप्ति प्रेम द्वारा ही इन्होने मानी। इन्होने प्रिय-विरह को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया, क्योकि यही वियोग उन्हे साधना के मार्ग मे प्रवृत करता है तथा आत्मा को जागृत करता है। परन्तु जिसके हृदय में यह वियोग जागृत होता है वह प्रकृति के कण-कण मे उस असीम सौन्दर्य का प्रतिविम्व तथा सृष्टि की सारी वस्तुएँ वियोग प्रकट करते हुए देखता है। हम इसमे प्रेम-तत्त्व की व्यापकता तथा नित्यता का भी आभास पाते

हैं तथा मनुष्य-मनुष्य के वीच जो रागात्मक सम्बन्ध है वह भी इन्हीके द्वारा व्यक्त हुआ है।

प्रेममार्गी शाखा के कवियों में अधिकतर मुसलमान कवि ही थे, पर इन्होने इस्लाम को मानते हुए, भारतीय संस्कृति को ही अपनाया और अपने मत के प्रचार के लिए भारतीय कहानियाँ चुनी, जिनमें इतिहास तथा कल्पना का अपूर्व योग है। इन पर नाथपन्थियो की भी स्पष्ट छाप है तथा हिन्दू और मुसलमान हृदय को आमने-सामने रखकर वैमनस्य एव अजनवी-पन को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। भापा साहित्यिक अवधी ही है। ये प्रेम-गाथाएँ सर्गवद्ध पद्धति पर न होकर फारसी की 'मसनवी' शैली पर लिखी गई है, जिनमे क्रम से ईश्वर, अपने समय के राजा धार्मिक नेता तथा अपने गुरु की प्रशसा इत्यादि के बाद कथानक प्रारम्भ होता है। इनमे उस रहस्यमय प्रेम-सूत्र का वर्णन किया गया है जिसकी सहायता से जीव उस प्रेममूर्ति तक पहुँच सकता है। प्रेमाख्यानक सूफी कवियो की परम्परा हिन्दी मे ईश्वरदास के समय से चली।

ईश्वरदास—इनका रचना-काल सं० १५४६ से १५७४ तक माना जाता है। इन्होने 'सत्यवती' नामक एक प्रेम-काव्य दोहा तथा चौपाइयो मे लिखा। यही सर्वप्रथम प्रेम-काव्य था।

कुछ विद्वानो के अनुसार 'चन्दायन' प्रथम उपलब्ध सूफी काव्य-रचना है, यद्यपि उसका सम्पूर्ण पाठ उपलब्ध नही होता और उसकी कुछ खडित प्रतियाँ ही उपलब्ध है। उस प्रेमाख्यान के लेखक **मुल्ला दाउद** माने जाते हैं। इनका काल कुछ विद्वानो ने सं० १४३६ वि० माना है। यह प्रेमाख्यान एक लोकगाथा पर आधारित है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने अपने 'वर्ण रत्नाकर' में लोरिक नाचो का उल्लेख किया है जिससे इस गाथा की प्राचीनता सिद्ध होती है। ज्योतिरीश्वर के उल्लेखानुसार इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि सन् ई० की तेरहवी-चौदहवी शताब्दी मे इस प्रेमाख्यान का कोई रूप अवश्य रहा होगा। यह लोकगाथा भी बगाल, विहार, उत्तर प्रदेश, छत्तीसगढ़ इत्यादि मे प्रसरित है और इसकी अधिक लोक-

प्रियता है। लोक-व्यापकता के अनुसार इस गाथा के लोक मे कई स्वरूप या पाठ भी उपलब्ध होते है। इस लोकगाथा के कई नाम भी उपलब्ध होते है। कही-कही इसे नायिका के नाम से प्राधान्य मिला है और कही-कही नायक के। अतः इस लोकगाथा का नाम कही चदायन मिलता है तो कही इसे लोरकी या लोरिकहा कहा जाता है।

लोरकी के लोक-प्रचलित कथानक को लेकर ही मुल्ला दाउद ने 'चन्दायन' की कथाभूमि का निर्माण किया होगा जैसा कि उसकी उपलब्ध खण्डित प्रतियो मे उपलब्ध कथानक से सिद्ध होता है। इसके आधार पर इसका कथानक भी लोक से मिलता-जुलता है। कथानक के अनुसार लोरिक मल्ल गोर नगर का रहने वाला और भगवती दुर्गा का उपासक था तथा उसकी धर्म-पत्नी का नाम मैना था। मैना और लोरिक की माँ को लोरिक की सहदेव या सहदीप की पुत्री पर आसक्ति के कारण बड़ा ही क्लेश था। वस्तुतः यही कारण था कि अपनी पत्नी और माँ की परित्यक्त करके वह चन्दा के साथ हरदी की ओर निकल पड़ा।

रास्ते मे रात के वक्त जव ये दोनो विश्राम कर रहे थे तो दुर्भाग्यवश चन्दा को सर्प ने डस लिया और लोरिक को अपार दुखानुभूति हुई आर वह उसके साथ चिता पर जलने के लिए प्रस्तुत हो गया। लेकिन इस वीच दोनो प्रेमियों पर भगवती की अपार कृपा हुई और चन्दा जागकर उठ वैठी और दोनों प्रेमी पुन. अपने मार्ग में अग्रसर हुए। आगे चलकर रोहिनी नगर के महापात्र सुनार से लोरिक जुए मे सव-कुछ हार गया और किसी प्रकार चन्दा द्वारा वचाये जाने पर पुनः वह अपने मार्ग मे आगे वढा। पुनः आगे वढने पर लोरिक को चन्दा के कारण हरदी के अधिपति से सात दिन और सात रातो तक लगातार युद्ध करना पडा और चन्दा जव देवी की मनौती मनाने लगी तव लोरिक को विजय मिली। अन्ततः लोरिक ने हैडवार के राजा को पराजित किया और हरदी का अधिपतित्व भी प्राप्त किया। वह चार वर्षों तक हरदी मे रहकर राज-सुख का उपभोग करता रहा और अपनी पूर्व पत्नी की मधुर स्मृति आने पर वह पुन. अपनी

जन्मभूमि गोरा को लाट आया। सक्षेप में इसी कथा को वहुविधि रोचक प्रसंगो से सजाकर कथा का मनोरम विस्तार किया गया है। कथा का भाव विशुद्ध भारतीय है। इसी आधार पर मुल्ला दाउद ने सूफी तात्विक विशिष्टताओं के आधार पर कथा का प्रेमपरक रूप खडा किया है। इसमे प्रेम की पीर और लगन का चारु चित्रण मिलता है। वस्तुत: यही कारण है कि यह प्रेमाख्यान की दृष्टि से पहली रचना मानी जाती है। कुछ लोगों का अभिमत है कि मुल्ला दाउद के अनुसरण मे ही वगाल के प्रसिद्ध कवि दौलत काजी ने 'लारे चन्द्राणी' नामक प्रसिद्ध रचना की थी।

कुतुबन—प्रेममार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण करके, साधक के भगवत्प्रेम के दर्शियता कुतुबन का समय स० १५५० के लगभग माना जाता है। इन्होने 'मृगावती' नामक एक प्रेम-गाथा चन्द्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती के वर्णन मे लिखी। ये शेरशाह के पिता हुसेनशाह के आश्रित तथा चिश्ती-वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे।

कुतुबन का 'मृगावती' सम्पूर्ण रूप से सर्वप्रथम प्रेमाख्यान कहा जा सकता है (जब तक चंदायन का कोई सम्पूर्ण पाठ उपलब्ध नही हो जाता।) ईश्वरदास की 'सत्यवती' को सूफी प्रेमाख्यान के तात्विक मानों के आधार पर पथ-निर्देशक रचना नही माना जा सकता। मृगावती के उपलब्ध अलौकिक विचारों से विद्वानो का अनुमान है कि यह शामी परम्परा से प्रभावित रचना है, लेकिन भारतीय सस्कृति के वातावरण मे पल्लवित हुई है। कुतुबन ने स्वत: इस प्रेमाख्यान की प्राचीनता और लोक-व्यापकता का परिचय दिया है और उसकी रचना-तिथि का भी निर्देश किया है। लोक-परम्परा से प्रेम-कथानक प्राप्त कर कवि ने उसे शास्त्रीय स्तर पर सजाकर रक्खा है।

पहिले ही अे दुइ कथा अही। योग सिंगार विरह रस कही।
पुनि हम खोली अरथ सब कहा। लघु दीरघ कौतुक नहिं रहा॥
जहोय होत पन्द्रह सै सठी। तहीय एरे चौपाई गंठी।
खट भाव अहही एहि मद्ध। पण्डित बिन बूझत होइ सिद्ध॥

रेग्न मोहिम चाँद उनियारी। यह कब कही पूरी सँवारी।
गाहा दोहा ग्ररेल ग्ररल। सोरठा चौपाई कै सरल॥
ग्रासार ग्राखिर बहुतै ग्राये। ग्रौ देशी चुनि-चुनि कछु लाये।
पढ़त सुहावन दीजै कानू। इहकै सुनत न भावै ग्रानू॥

× × ×

दोये मास दिन दस महीं, पहरे दौराये जाय।
येक येक बोल मोती जस, पुरवा इकठा भवचित लाय॥

'मृगावती' की कथा लोक-प्रचलित थी ऐसा कवि का स्वत. ग्राग्रह है। चन्द्रगिरि के ग्रधिपति गणपतिदेव का सुपुत्र कचन नगर के ग्रधिपति रूप-मुरारि की सुपुत्री मृगावती के रूप-लावण्य की ग्रोर ग्राकृष्ट हो जाता है। राजकुमारी मृगावती उड़ने की कला जानती है। राजकुमार ग्रनेक ग्रापदाग्रो को झेलते हुए जब राजकुमारी का साक्षात् करता है तो वह उसे छोड उड जाती है। राजकुमार उसकी खोज मे योगी बन निकल पड़ता है। मार्ग मे उसे नाना प्रकार की यातनाएँ मिलती हैं। वह पन्थ मे कामिनी नामक सुन्दरी को राक्षस के हाथ मे पड़ने से बचाता है ग्रौर इस पर प्रसन्न होकर उसका पिता उसका परिणय राजकुमार से कर देता है।

ग्रन्ततः राजकुमार मृगावती को खोजते-खोजते उसके राज्य-स्थान पर पहुँच जाता है। उसने उस नगर में बारह वर्षो तक निवास किया ग्रौर जब इसकी खबर गणपति को लगी तो उसने राजकुमार को बुला भेजा। उसने मृगावती को प्राप्त करके ग्रपनी जन्मभूमि के लिए प्रस्थान किया ग्रौर मार्ग मे ग्रपनी दूसरी पत्नी को भी साथ ग्रहण किया। ग्रपने नगर में पहुँचकर राजकुमार ने बहुत दिनो तक भोग-विलास से सम्पन्न ग्रपना जीवन व्यतीत किया। दुर्भाग्यवश एक दिन ग्राखेट के समय राजकुमार की मृत्यु हो गई ग्रौर उसकी दोनो रानियों ने चिता प्रज्ज्वलित करके सतीत्व ग्रहण किया।

इसी कथा को कवि ने दोहे-चौपाई की प्रबन्धात्मक शैली मे प्रस्तुत किया है। स्थान-स्थान पर वर्णन करने मे ग्रधिक सरसता का सचार सम्भव हो सका है। मृगावती का दरबार वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

मृगावती सुनि जिग्र हरसाई। काना जनु मधवानल पाई।
विहसि नाम कहेसि मृगावति। नल जनु मेंटी दामावती॥
कहेसि जाउँ अब नगर मँझारी। वैसे नरिन्द्र महाजन भारी।
चलिकै सुर पँवरी लउ आवा। कनक पत्र जनु रतन जलावा॥

उसी प्रकार राजकुमार और मृगावती के सम्मिलन का शृङ्गारिक वर्णन करते हुए कवि ने प्रेम की परम्परा को जागरूक किया है जिससे बाद के कवियो ने प्रभाव ग्रहण किया।

मृगावति सृंगार जो ठयऊ। सोलह अभरन पहिरै लयेऊ।
घरबाहर बहु भाँति सँवारा। रतन नहीं दीप उजियारा॥
अगर चदन वेना कस्तूरी। मलयागिरी कचोरन्ह भरी।
कुंकुम भेद अरगजा करीबा। ठाउ ठाउ बरै बहुतै दीबा॥
दीन वर अपने मंदिर सिधारे। सुरज साथ जाइ उघारे॥

मृगावती की कथा के रूप मे काव्यबद्ध होने का उल्लेख कुतुबन ने किया लेकिन इसका कोई रूप उपलब्ध नही होता। मृगावती नामक एक पवित्र आचरण वाली स्त्री का उल्लेख विद्वानो के अनुसार जैन-धर्म-ग्रन्थों मे मिलता है, लेकिन सूफी प्रेमाख्यान से सम्वद्ध कथा से उसकी कोई संगत नही बैठती। बहुत कुछ सम्भव है कि यह रचना लोक मे आख्यान के रूप में वहुचर्चित रही हो और किसी अन्य कवि ने भी काव्य के माध्यम से इसे वर्णित किया हो। इस प्रेमाख्यान के अन्त.साक्ष्य से वहुत-सी वातों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश पड़ता है। कवि ने शेख बुढनपीर की अपने काव्य में वहुत प्रशसा की है जिससे वहुत-सी ऐतिहासिक वातो की गवेषणा की ओर आलोचको का ध्यान गया है—

सेष वुढ़न जग साँचा पीरू। नाम लेत सुध होय सरीरू।
कुतवन नाम लेइ अधारे। सरवर देदुहुँ जग नीर भरे॥

इसी प्रकार वंगाल के एक शासक हुसेन शाह जिसकी प्रवृत्ति धार्मिक रुचि-प्रधान थी, और जिसने हिन्दुओं और मुसलमानो मे एकता के प्रचार के लिए 'सत्यपीर' सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी, कुतुवन द्वारा उल्लेख

माना जाता है।

साहे हुसेन आहे वड़ राजा। छम सिंघासन उनको छाजा।
पंडित औ' बुधवंत सयाना। पढ़े पुरान अरथ सब जाना।।

मंझन—इनका विस्तृत परिचय अभी तक प्राप्त नही हुआ। सम्भवत: इनकी रचना 'मृगावती' के बाद लिखी गई। इनकी रचित 'मधुमालती' की एक खण्डित प्रति ही प्राप्त है। इन्होने अपनी रचना में आध्यात्मिक प्रेम-भाव की अभिव्यजना प्रकृति के दृश्यों से की है। इसमें कनेसर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम-विरह का वर्णन है। साथ ही वास्तविक सहानुभूति तथा निस्स्वार्थ भाव का चित्रण भी है और ईश्वर के उस विरह की ओर सकेत है, जिससे सृष्टि के सारे रूप तड़पते रहते हैं—

विरह अबोध अवगाह अपारा, कोटि माँहि एक यहै तपारा।
विरह कि जगत अँबिरथा जाही, बिरह रूप यह सृष्टि सबाही।।

मलिक मझन प्रसिद्ध सूफी प्रेमाख्यान 'मधुमालती' की रचयिता है। इस पुस्तक की भी कई खण्डित प्रतियाँ ही उपलब्ध हैं, जिनमे कुछ के माध्यम से कवि के समकालीन विपयो के सम्बन्ध मे कुछ निष्कर्ष निकाले जा सके हैं। 'मधुमालती' की एक खडित प्रति के आधार पर विद्वानो ने उसका रचना-काल हिजरी सन् ९५२ अनुमानित किया है, जो वहुत कुछ सार्थक है। कवि के उक्त ग्रन्थ के अन्त:साक्ष्य से पता लगता है कि वह शेरशाह के उत्तराधिकारी सलेमशाह का समकालीन था। समकालीन कुछ प्रसिद्ध संतों साधको की चर्चा भी ग्रन्थ मे हुई है।

साह सलेम जगत भुअभारी। जेंइ मूँजवर मेदनी तारी।

× × ×

शेख वदी जग सिद्ध पिआरा। ग्यान समुन्द और दतयारा।

× × ×

सन नवसै वावन जव भाये। सतो मुरख कोल परिहर गये।
तव हम जी उपजी अभिलाषा। कथा एक वाँधौ वस भाषा।।

अस्तु ! इन अन्त साक्ष्यो से यह परिणाम निकाला जाता है कि इस्लाम की विशुद्ध परम्परा में उस काव्य-ग्रन्थ की रचना हुई और यह प्रेमाख्यान असदिग्ध रूप से जायसी के उपरान्त की रचना है ।

प्रस्तुत पुस्तक के उपलब्ध सदर्भो से कवि के जीवन-वृत्त पर वहुत कुछ प्रकाश नही पडता । अतः हम उसके जीवन-काल की अन्य विशिष्टताओं से अपरिचित रह जाते हैं । ग्रन्थ-रचना के प्रसंग मे कवि ने एक चौपाई मे अपने निवास-स्थान या साहित्य-साधना-स्थल का सकेत किया है ।

गढ़ अनूप बस नगर चर्नाढ़ी । कलयुग मँह लंका सों गाढ़ी ।
पुरब दिसा जाकी वहराई । उत्तर पछिम लंकागढ़ खाई ।।

इससे चर्नाढ़ी का कवि के निवास-स्थान के रूप मे हम उल्लेख-मात्र कर सकते हैं ।

'मधुमालती' का नायक मनोहर कनेसर के राजा सूरजभान का पुत्र था । कुछ अप्सराएँ रात मे सोते वक्त उसे मधुमालती की चित्रसारी में उठा ले जाती है । महारस की राजकुमारी जव उठती है तो वह राजकुमार को देखती है और प्रथम दर्शन मे दोनो एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं । दोनो मे जव वार्तालाप होता है तो राजकुमार अपने आप को जन्म-जन्म का प्रेमी उल्लिखित करता है । आगे पुन. जब दोनो सो जाते है तो अप्सराएँ राजकुमार को उठा ले जाती हैं और उसे उसके घर पर पहुँचा देती हैं । जगने पर दोनो एक-दूसरे को न पाकर विरह मे उन्मुक्त हो जाते हैं और मनोहर अपनी विकलता मे मधुमालती की खोज मे निकल पडता है । समुद्र-मार्ग से जाते वक्त नौका डूब जाने के कारण वह अपने साथियों से विछुड़ जाता है और एक महा जगल मे जा पडता है, जहाँ उसकी प्रेमा नामक एक सुन्दरी से भेट होती है, जो अपने माता-पिता से विमुक्त हो एक राक्षस के चगुल मे आ पड़ी थी । मनोहर राक्षस से प्रेमा की रक्षा करता है और प्रेमा मनोहर को भाई-रूप मे वरण कर उसे मधुमालती से मिलाने का वचन देती है । घर पहुँचने पर जव वह मनोहर और मधु-मालती को मिलाने मे समर्थ होती है तो उसकी माँ को मनोहर के साथ

मिलना अच्छा नही लगता और मधुमालती की माँ उसे सुग्गा बनाकर उड़ा देती है। इधर मधुमालती सुग्गे के रूप मे ताराचन्द नामक एक दूसरे राजकुमार के हाथ पड़ जाती है और उससे अपने सच्चे प्रेम को निवेदित करती है और वह उसे अपनी बहन घोषित करके मनोहर से मिलाने का वचन देता है। वह उसे लेकर उसकी माँ के समक्ष उपस्थित होता है और पुनः उसे नारी रूप मे परिवर्तित कराता है और प्रेमा की सहायता से पुनः योगी बने मनोहर और मधुमालती का परिणय हो जाता है और प्रेमा तथा ताराचन्द का भी विवाह हो जाता है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में उपलब्ध प्रेम की बानगी देखते ही बनती है। राजकुमार का प्रेम मधुमालती के प्रति कोई नया नही है। वह अनादिकाल से उसके प्रेम का अधिकारी है और उसके प्रेम के साम्राज्य में वह नित्य नवीनता का भान करता है।

कहै कुँवर सुन पेम पिआरी। तोहि मोहि पुख प्रीति विधि सारी॥
एहि जग जीवन मोह ते लाहा। मैं जिवदे तोर दुख वे साहा॥
मे न आप तोर दुख दुखारी। तोहि दुख सो मोहि आदि बिहारी॥
वर कामिनि तोहि प्रीत कै नीरू। माहि माटि भा सानि सरीरू॥
पूर्व दिनन सो जानहि, तुम्हरी प्रीत कै नीर।
मोहि माटी विधि सानिकै, तो यह बोला सरीर॥

प्रेमा और मधुमालती के संवाद से भी प्रेम की गम्भीरता और सजीवता का पता चलता है। अपने प्रियतम के सहिदान अर्थात् चिह्न से ही प्रेमाकुल हृदय फूट पड़ता है और उसमे नाना प्रकार की भावनाएँ हिलोरे लेने लगती हैं।

जबही दिस्टि परी सहितानी। दुओ नैन भरि आयो पानी॥
चाहेंसि बहुतं जतन छिपावै। बरबस चछू जल भरि भरि आवै॥
भ्रिगमद प्रेम रहै नहिं गोवा। उहह सुवासु इहइ सुमिरि विछोवा॥
पेम प्रीतम केर विछोवा। प्रगट भयेउ निज रहै न गोवा॥

पाछिली प्रीति सीपेंरि जिग्रमें, ग्रपजेउ विरह् विकार।
थाँमी न सकी लागके पेमा, रोएसि गाल दुफार ॥

प्रेम की सार्थकता ग्रौर उसके गुजन से कवि का सम्पूर्ण काव्य ग्रोत-प्रोत है। ग्रागे चलकर इसीकी परम्परा में सम्भवत. जान कवि ने भी ग्रपने प्रेमाख्यान की रचना की। लेकिन दोनो कवियो के एक ही तुल्य प्रेमाख्यान के कथानक में भिन्नता ग्रवश्य है।

जायसी—प्रेमात्मक रहस्यवाद मे जायसी का स्थान सर्वोच्च है। ग्रापका जन्म स० १५५० मे ग्रौर मृत्यु सं० १६०० में हुई। 'भा ग्रवतार **मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि कही।'** पहले ये गाजीपुर के रहने वाले थे ग्रौर बाद मे जायस नगर मे ग्राये, जो उत्तर प्रदेश मे ग्रमेठी के पास है। माता की मृत्यु के पश्चात् ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) के शिष्य हो गए।

इनकी लिखी हुई तीन पुस्तकें प्राप्य हैं—१. 'पद्मावत', २. 'ग्रखरावट' ग्रौर ३. 'ग्राखिरी कलाम'। 'ग्रखरावट' की चौपाइयाँ क्रमश. वर्णमाला के प्रत्येक ग्रक्षर से प्रारम्भ होती है, जिसमे ईश्वर, जीव, सृष्टि, प्रेम एवं सूफीवाद के सिद्धान्तों का वर्णन है। 'ग्राखिरी कलाम' एक ग्रत्यन्त छोटी-सी पुस्तक है तथा इसमे कयामत का वर्णन है। 'पद्मावत' ग्रवधी भाषा में लिखा हुग्रा जायसी को ग्रक्षय कीर्ति प्रदान करने वाला, प्रेम की पीर से परिपूर्ण, सरस, गम्भीर, गूढ, लौकिक एव ग्रलौकिक पक्ष की भावनाग्रों से ग्रोत-प्रोत रहस्यवादी महाकाव्य है। यह जायसी की सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसमे प्रेम की गूढता ग्रौर गम्भीरता के साथ-साथ पारिवारिक ग्रौर सामाजिक जीवन की एकता पाई जाती है। इसमे शुद्ध दाम्पत्य-प्रेम, मातृ-स्नेह, स्वामि-भक्ति, सतीत्व एवं वियोग के वर्णन के साथ-साथ रहस्यवादी भावनाग्रो का सर्वत्र चित्रण है।

'पद्मावत' की कहानी मे भी विशेपता है। इसमे इतिहास तथा कल्पना का ग्रपूर्व सम्मिश्रण है। यद्यपि जायसी ने ग्रपनी कहानी इतिहास कथोद्भूत ही ग्रहण की है पर हम उसका रूप कल्पना के उत्कर्ष द्वारा जनता के

हृदय में प्रतिष्ठित हो पाते है। कहानी यह है कि सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन के एक पद्मावती नामक कन्या थी। उसके पास हीरामन नामक एक तोता था, जो राजा के डर के मारे उड़ गया। एक वहेलिये ने पकडकर उसे राजा रतनसेन के हाथ वेच दिया, जिसके नागमती नाम की रानी थी। सुग्रा वड़ा वाचाल था ग्रौर उसके कहने से राजा रतनसेन सोलह हजार जोगियों को लेकर सिंहलद्वीप पर चढ़ ग्राया तव शिव की सहायता से पद्मावती को प्राप्त किया। राघवचेतन पण्डित के कहने से ग्रलाउद्दीन खिलजी ने राजा रतनसेन पर ग्राक्रमण किया। उधर रतनसेन कुम्भलनेर के राजा देवपाल से लड़ते हुए मारा गया ग्रौर पद्मावती तथा नागमती दोनों सती हो गईं ग्रौर ग्रलाउद्दीन के हाथ कुछ नही ग्राया।

इस कथा मे उस ईश्वरीय प्रेम की ग्रभिव्यक्ति है जो प्रत्येक साधक के हृदय मे उत्पन्न होता है ग्रौर उसे ईश्वर-प्राप्ति की ग्रोर प्रवृत्त करता है। ग्रत. जायसी ने ईश्वर को प्रेमिका तथा जीवात्मा को प्रेमी माना है ग्रौर ग्रात्मा तथा परमात्मा के मेल के लिए नायक के प्रेम को प्रधानता दी है। पर भारतीय शैली से प्रभावित होने से ग्रन्य सूफी कवियों की भाँति इनको भी नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष को दिखलाना पड़ा तथा उसके उत्कट पति-प्रेम तथा सतीत्व का दिग्दर्शन कराना पड़ा। सूफी सिद्धान्त के ग्रन्त मे ग्रात्मा का मेले परमात्मा मे हो जाता है, ग्रत: ग्रन्य प्रेम-कथाग्रो की भाँति इसका भी ग्रन्त दु.खान्त ही है। इस कथा के उत्तरार्द्ध में हम लोक-पक्ष का भी विधान पाते हैं। पद्मावती का सौन्दर्य-वर्णन कितना ग्रनुपम है—

सरवरि तीर पदमिनी ग्राई। खोंपा छोरि केस मुकलाई॥
ससि मुख, ग्रंग मलयगिरि वासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा॥

यह वर्णन परम प्रियतम के सौन्दर्य का ग्राभास देने वाला है। नागमती का वियोग-वर्णन हिन्दी-साहित्य मे ग्रद्वितीय है—

जेहि पंखी के नियर ह्वै, कहै विरह कै वात।
सोई पखी जाइ जरि, तरुवर होइ निपात॥

कुहुकि-कुहुकि जस कोइल रोई। रकत आँस घुँघुची बन सोई॥

जायसी के विरह-वर्णन मे वेदना, कोमलता तथा गम्भीर का समावेश है तथा इसमे हम विरहोद्‌गार की सच्ची अनुभूति पाते हैं। जायसी मे हम भारतीय पद्धति के अनुसार विरह-ताप के वेदनात्मक स्वरूप की विशद व्यजना पाते है। इससे हम लौकिक सीमा से ऊपर उठकर उस मार्ग का अनुकरण करने लगते हैं, जो इन सूफ़ियो का निर्दिष्ट मार्ग था। इस कथा द्वारा हम प्रस्तुत मे अप्रस्तुत का दर्शन करते हैं।

जायसी ने वस्तु-वर्णन को ठीक रखते हुए प्रसगानुकूल भावो की व्यजना की है। उनके रति तथा शोक आदि के वर्णन अधिक भावपूर्ण हैं तथा युद्धोत्साह की भी स्पष्ट झलक है। पर जीवन के व्यापक वर्णन मे ये उतने सफल नही हुए है, यद्यपि मानव-हृदय के सामान्य भावो का इन्होने मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। जीव तथा जगत् दोनो को ब्रह्म मानकर इन्होने प्रकृति के अणु-अणु मे एक निरञ्जन ज्योति का आभास पाया है। साथ ही इनमे उपनिषदो के प्रतिबिम्बवाद की भी झलक हम पाते है। इनका रहस्यवाद माधुर्य और रसपूर्ण है—

जब लगि पीउ मिलै नहीं साधु प्रेम कै पीर।
जैसे सीप सेवाति कहँ, तपै समुद्र मँझ नीर॥

इस कथा के वर्णनो से भी साधना के मार्ग, उसकी कठिनाइयों और सिद्धि के स्वरूप आदि की पूरी व्यञ्जना होती है और कुछ लोग तो इस पूरी प्रेम-गाथा को अन्योक्ति ही मानते हैं तथा अपने प्रमाण मे निम्नांकित चौपाइयाँ देते है—

तन चित उर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि-पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा?
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोई न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीन सुलतानू॥

पर ये चौपाइयाँ प्रत्येक प्रति में नही मिली हैं और हाल मे ही एक अनुसन्धानकर्ता ने अपना यह मत स्थिर किया है कि ये बाद मे जोड़ी गई

हैं, जिनमें सकलनकर्ता ने जायसी के मत की ओर स्पष्ट सकेत किया है—

'मुस्लिम शासकों तथा मौलवियों द्वारा दिये जाने वाले 'कुफ्र' के 'फतवे' की कुछ भी परवाह न करके जायसी ने मुसलमानो के साथ बराबर लोहा लेने वाले चित्तौड़ के सिसोदिया वश के महाराना की कीर्ति का बखान कर अपनी अपूर्व निर्भयता का परिचय दिया है।' इनमे हम हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की भावना पाते है। यह ग्रन्थ 'मसनवी' ढग पर लिखा गया है। भाषा अवधी तथा लिपि उर्दू है। अधिकतर दोहे तथा चौपाइयों का ही प्रयोग है। अलकार स्वयं आये है, उनका समावेश बलपूर्वक नही है। सादृश्यमूलक उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा इत्यादि का अधिक प्रयोग और शब्दालकारो का इसमे अभाव है।

अत. हम देखते है कि जायसी ने अपनी परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य-सत्ता की ओर लौकिक दीप्ति और विशिष्ट सौन्दर्य द्वारा सकेत किया है; साथ ही हठयोग तथा रसायन आदि का भी आश्रय लिया है। लोक-पक्ष तथा अध्यात्म-पक्ष की गम्भीरता तथा सरसता के कारण हम जायसी के काव्य को 'हिन्दी-साहित्य' की एक अमूल्य निधि कह सकते है।

उसमान कवि ने प्रेमाख्यानक काव्य की परम्परा मे 'चित्रावली' नामक काव्य की रचना की। ये स्वतः अपने अन्त.साक्ष्य से गाजीपुर के रहने वाले सिद्ध होते है। इनके चार भाई थे, जो विद्या-बुद्धि मे बढे-चढ़े थे और किसी-न-किसी क्षेत्र मे अपनी पटुता के लिए विख्यात थे। स्वतः कवि बहुत कम पढे-लिखे होने की चर्चा करता है। लेकिन वह काव्य-यश का अभिलाषी है और इसी से अभिप्रेत हो उसने इस काव्य की रचना की है। काव्य का वातावरण काल्पनिक है, लेकिन अमर यश के आकांक्षी कवि ने इसको जो सहजानुभूति दी है उससे काव्य में एक दीप्ति आ गई है। कवि के अन्त.साक्ष्य से ही यह पता चलता है कि वह चिश्तिया सम्प्रदाय से सम्बद्ध था। उसने चिश्तिया सम्प्रदाय के प्रसिद्ध साधक निजाम शेख की बहुत प्रशसा की है। शाहेवक्त की वर्णन-परम्परा के अनुसार कवि जहाँगीर का समकालीन ठहरता है और उसके काव्य की रचना-तिथि भी उसके

राज्य-काल की अवधि ही ठहरती है।

'सन सहस्र बाइस जब अहे। तब हम बचन चारि एक कहे ॥'

इस आधार पर हम कह सकते है कि 'चित्रावली' की रचना सं० १६७० के आसपास हुई होगी, जब कि जहाँगीर का राज्य-काल स० १६६२ से १६८४ तक मान्य है। इस काल्पनिक पृष्ठभूमि पर रचे प्रेमाख्यान की सबसे बडी विशेषता यह परिलक्षित है कि इसके वर्णन में वह सजीवता है जिससे लगता है कि काव्य का वातावरण काल्पनिक न होकर वास्तविक है। वर्णन की पृष्ठभूमि मे जो अग्रेजी नाम आये है उससे आलोचको ने कवि की सामयिक बहुज्ञता की प्रशंसा की है। अन्य वर्णन भी वास्तविक रूप से सवेद्य है।

'चित्रावली' की कथा विस्तृत है और इसमे कई आयामों के माध्यम से कवि ने कथा मे अधिक-से-अधिक रोचकता लाने का प्रयत्न किया है। प्रेम का प्रारम्भ चित्र-दर्शन से ही हुआ है। शंकर और पार्वती के आशीर्वाद से नैपाल-नरेश के 'सुजान' नामक पुत्र उत्पन्न होता है जो इस काव्य का नायक है। सुजान आखेट के समय देवमढी मे पहुँचता है और देव-विशेष से रक्षित हो, रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की वर्षगाँठ मे दो देवों सहित पहुँचता है। देवों के फलस्वरूप वह चित्रावली की चित्रसारी मे शयन करता है और उठने पर वहां अपना चित्र भी अंकित कर देता है। देवताओं द्वारा सो जाने पर उठा लाए जाने की क्रिया से चित्रावली के लिए उसके हृदय मे विरह की अनुभूति जागृत होती है और वह पिता के घर तक बनी रहती है। फिर वह अपने मित्र सुबुद्धि नामक ब्राह्मण की सहायता से मढी मे एक बहुत बडा अन्नसत्र प्रारम्भ करता है। इधर चित्रावली अपनी चित्रसारी मे अंकित राजकुमार का चित्र देखकर मुग्ध हो जाती है और अपने नौकरो को योगी के रूप मे राजकुमार का पता लगाने के लिए भेजती है और उनमे से एक सफल भी होता है और राजकुमार को रूप-नगर तक लाता है। इधर एक कुटीचर सुजान की निन्दा राजकुमारी की माँ से करता है और उसका चित्र धुलवा दिया जाता है। राजकुमारी इस:

समाचार से क्रुद्ध होती है और कुटीचर को निर्वासित कर देती है। कुटीचर राजकुमारी से इसका वदला लेता है और रूपनगर मे शिव-मन्दिर मे राज-कुमारी और सुजान के मिलन-अवसर पर राजकुमार को अन्धा वना देता है और उसे गुफा में डाल देता है। राजकुमार को अजगर निगल जाता है और फिर वह विरह की गरमी से व्याकुल होकर उसे उगल देता है। इसके वाद राजकुमार एक हाथी की चपेट में पड़ता है और पक्षिराज द्वारा परि-त्राण पाता है। वन-मानुप के अजन से दृष्टि प्राप्त किया हुआ राजकुमार सागरगढ पहुँचता है।

सागरगढ की राज-फुलवारी मे राजकुमारी से सुजान की मुलाकात होती है। वह उसे वन्दी बना लेती है, क्योंकि वह उसके प्रति आकृष्ट हो जाती है। राजकुमारी को रूप-सौन्दर्य के कारण अपहृत करने के लिए सोहिलगढ का राजा सागरगढ पर चढाई करता है, लेकिन राजकुमार सुजान उसे पराजित कर देता है और इस प्रकार कँवलावती के साथ उसका परिणय होता है। वह राजकुमार चित्रावली की खोज में कँवलावती को साथ लेकर गिरनार पहुँचता है और वहाँ उसकी चित्रावली के दूत से मुला-कात होती है। फिर राजकुमार रूपनगर की ओर अकेले दूत सहित कुछ काल वाद प्रस्थान करता है। वहाँ चित्रावली के पिता को सोहिलगढ के राजा की चढाई के आख्यान से अपनी पुत्री की शादी की चिन्ता होती है और वह राजकुमारी का चित्र लाने के लिए दूतो को भेजता है। दूत जब चित्रावली को सुजान के आगमन की सूचना देने जाता है तव वन्दो वना लिया जाता है और उसकी अनुपस्थिति मे सुजान चित्रावली का नाम पुका-रने लगता है। चित्रावली का पिता यह सुनकर उसे मारने के लिए पागल हाथी छोडता है और सुजान उसे मार डालता है। राजा सुजान पर चढ़ाई करने की सोच ही रहा था कि एक चित्रकार सोहिल को मारने वाले राज-कुमार का चित्र राजा को देता है और सुजान को पहचान लेता है और उसको चित्रावली के साथ परिणीत कर देता है।

वियुक्त कँवलावती हंस विप्र को दूत वनाकर सुजान के पास भेजती

है और सुजान को जब अपनी पूर्व-पत्नी की याद आती है तो वह चित्रावली सहित अपनी जन्मभूमि नैपाल के लिए लौटता है और मार्ग मे कँवलावती को भी साथ ले लेता है। नाना कष्टो को झेलते हुए राजकुमार अपनी दोनो पत्नियो-सहित नैपाल पहुँचता है और सुखोपभोगसहित जीवन व्यतीत करता है।

'चित्रावली' की कथा बहुत व्यापक है, लेकिन कवि का प्रेम-वर्णन बहुत ही उत्कृष्ट और ख्यात है। सूफी परम्परा से अनुप्राणित होते हुए भी भारतीय साधना की बहुत-सी बाते इसमें उपलब्ध होती हैं। दर्शन के क्षेत्र में अशांशीभाव की भी झलक मिलती है। प्रेम-पथ की कठिनता और गम्भीरता को कवि ने बडी सजीवता से वर्णित किया है। काव्य का नायक इस मार्ग की कठिनता का आख्यान करते हुए कहता है—

कहेसि कुँवर यह पथ दुहेला। अस जनि जानु हँसी और वेला ॥
अगम पहाड़ बिषम गढ़ घाटी। पंखिन जाइ चढ़ै नहि चाँटी ॥
खोह घराट जाइ नहिं लाँघी। देखि पतार काँपि नर जाँघी ॥
जाइ सोइ जो जिउ पर तेजा। सार पासुली लोह कलेजा ॥
तै अवही घर आपन बूझा। बार देखि पिछ्वार न सूझा ॥

वह स्थान जहाँ प्रेमिका का निवास है बहुत ही कठिनाइयो से उपलध है। उसके मार्ग मे नाना प्रकार की यातनाएँ उपलब्ध होती है, लेकिन इन सारे झझटों को पार करके सच्चा प्रेमी उस स्थान तक पहुँचने में सफल होता है और उसे प्रेम-क्षेत्र के सारे सुखोपभोगो की उपलब्धि होती है। नायिका चित्रावली के नगर का इसी परिवेश मे कवि ने वड़ी ही सार्थक शैली में वर्णन किया है।

रूपनगर अति आह सोहावा। जेहि फिरि भाग सो देखे पावा ॥
अतिहि डरावन अतिहि सो ऊँचा। कोरि माँह कोउ एक पहूँचा ॥
वहुतन्ह कीन्ह जोगि कर भेसा। चले छाड़ि, घर मन ओहि देसा ॥
तै सुखिया सुख कौतुक राता। का जानसि दुःख पंथकि वाता ॥

भोजन बिन मुख जाइ सुखाई । पानी बाजु कँवल कुम्भिलाई ॥
छीन बसन जेहि अँगन सोहाई । कैसे कंथा सके उठाई ॥

विरह की व्यापकता की अनुभूति प्रेम के क्षेत्र मे दोनो पक्षों में अधिक विकसनशील दिखाई देती है, जो प्रेम के पूर्णतः निखार मे सार्थक सिद्ध हुई है ।

प्रेमाख्यान-काव्य की रचना मे अधिक योगदान देने वाला एक प्रसिद्ध कवि जान है। जान कवि की प्रेमाख्यान-पद्धति की कई रचनाएँ मिलती है। जान कवि की रचनाओ में वहुत से विद्वानों को सूफीमत की तात्विक विशेषताओं का अभाव मिलता है। 'जान' कवि का उपनाम बताया जाता है। कुछ लोग इसे जयपुर के नवाव अलफ खाँ का उपनाम समझते थे लेकिन नवीनतम खोजों से यह सिद्ध किया जाता है कि जान कवि नामधारी व्यक्ति नवाव अलफ खाँ का पुत्र न्यामत खाँ था। न्यामत खाँ की वहुत सी रचनाएँ उपलव्व हुई हैं, जिनमे रह प्रेमाख्यान की परम्परा के निकट ठहरती हैं। कवि की उपलब्ध कुछ रचनाओं से उसके समय इत्यादि पर प्रकाश पडता है। कवि जान जहाँगीर के समकालीन माने जाते हैं, क्योंकि उनकी उपलव्ध रचना 'कथा कनकावती' से जहाँगीर के राज्यकाल पर प्रकाश पड़ता है।

सोलह सै पचहत्तरै जहाँगीर कै राज।
तीन छोस में जान कहि यहु साज्जी सव साज ॥

कवि की अन्य प्रसिद्ध रचनाओं 'कामलता', 'मधुकर मालती', 'छीता' और 'रतनावती' से भी लगभग इस समय पर प्रकाश पड़ता है। प्रेमाख्यान के सभी विद्वानो का यह अभिमत प्रतीत होता है कि यह कवि सूफी तत्त्वो से कम प्रभावित होते हुए भी काव्यमयता से ओत-प्रोत था और प्रेमपरक कथानको को लेकर इसने उत्कृष्ट काव्य की रचना की। रचनाओं मे उपलव्ध सूफी प्रेमाख्यान-परम्परा का तात्त्विक विश्लेषण करते हुए इस कवि को दृष्टिगत करके यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसमें आगत प्रेमाख्यान-काव्य के सभी लक्षण सामान्य हैं। उसके प्रति कवि

का रुचिवद्ध कोई आग्रह नही प्रतीत होता।

'कनकावती' जान कवि का प्रसिद्धतम प्रेमाख्यान है। भरथनेर राजधानी का अधिपति भरत नाम का प्रख्यात नृपति था। उसकी कई रानियाँ थी। लेकिन एक रानी से ही सौभाग्यवश एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम 'परमरूप' था। एक वार रात मे राजकुमार ने एक परम सुन्दरा को स्वप्न मे देखा और उसके लिए उसे वडा आवेग हुआ। एक चतुर शिल्पी ने कुमार के आदेशानुसार उस सुन्दरी का चित्र निर्मित किया, जिसे एक देखकर ब्राह्मण ने यह घोषित किया कि यह सुन्दरी कन्या सिंघपुरी के अधिपति की पुत्री कनकावती है जिसका नगर यहाँ से वहुत दूर पर स्थित है।

राजकुमार योगी वनकर घर से निकल पड़ता है। ब्राह्मण इसकी सूचना कनकावती को देता है और वह भी 'परमरूप' के प्रति आकृष्ट होती है। राजकुमार का पिता कनकावती के पिता से उसकी प्राप्ति के लिए प्रस्ताव करता है और प्रस्ताव की अस्वीकृति पर युद्ध करता है, किन्तु वह युद्ध मे पराजित हो जाता है। राजकुमार एक सन्यासी के साथ जगल में चला जाता है। ब्राह्मण उसे ढूंढता है, और नायक-नायिका के मध्य दौत्य-कर्म करता है। संन्यासी द्वारा सीखी हुई 'कच्छपनिधि' नामक विद्या के फलस्वरूप राजकुमार सिंघपुरी पहुँच जाता है और वे दोनों ब्राह्मण की सहायता से परिणीत होते हैं। फिर यह दम्पति अपने मूल निवास पर लौट आती है।

राजसिंघ द्वारा इस प्रकार परिणय की सूचना पाने से जगपतिराय क्रुद्ध होता है और भरथनेर को सुरग से उडा देता है। जल मे वहते हुए 'परमरूप' को जगराय पाता है और उसकी पुत्रवत् रक्षा करता है। जगपति ने इसी तरह प्राप्त 'कनकावती' की भी पुत्री तुल्य रक्षा की। अन्त मे वह जगराय जगपतिराय से प्रस्ताव करके अपने पुत्रवत् परमरूप की शादी जगपति द्वारा रक्षिता 'कनकावती' से कर देता है और फिर जगपति और जगराय को साथ-ही-साथ राजसिंघ और भरथराय भी मिल जाते हैं और कथा का

सुखमय अन्त होता है।

इसी प्रकार जान कवि के अन्य कथानक भी चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन से प्रारम्भ होते हैं। कवि ने प्रसिद्ध भारतीय लोक कथाओं को काव्य-भरा रूप दिया है; इसमे सूफी मत-मतान्तरों के प्रतिपादन की अपेक्षा सहज काव्य-प्रतिपादन की ओर आकर्पण दीख पडता है। 'कामलता' में चित्र-दर्शन के उपरान्त नायिका की वेहाल स्थिति का मार्मिक वर्णन कवि का अभिप्रेत लगता है।

फिरि-फिरि चित्रहि चितवन नारी। पैमु आइ विथुर्‌यो तन भारी।
वावर भई सदन में डोलत। चाहत चित्र नैकु नहिं बोलत॥
नैक नैन करि मैन जनावहु। दै दै लाई कहा जरावहु॥
जो तुम पग धारै घर मेरे। खेलहु हँसहु नैक ह्वै मेरे।
काम लता नित करत विलाप। जारत तनिह पैमु की ताप॥

प्रेम मे विरह की विफलता भी प्रिय-मिलन का सुखद आनन्द प्रदान करती है। प्रीति के साम्राज्य में नायक और नायिका के व्यापारों मे विफलता, उत्सुकता और आवेगादि उसके सच्चे प्रेम के परिचायक होते हैं। प्रेम जिसके हृदय मे पैठ जाता है उसके लिए विरह कोई वड़ी वस्तु नही।

जोई जाके मन बसै, वहु वाके मन माँहि।
यो न होत जो जगत में, विरही वांचत नाँहि॥

इसी तरह से एक दोहे में कवि ने प्रेम के विरह की स्थिति में वहते हुए आँसुओ का हृदयग्राही एवं सवेदनशील वर्णन किया है जो परम्परावद्ध होते हुए भी सजीव एव स्पन्दनशील है।

घुमड़ि घुमड़ि छतियाँ जलद, नैन बूँद वरषाहि।
पानिप पिय छाई चलिन, असुआँ कहाँ समाहिं॥

नीम सार का अधिपति राय सिरोमनि नामक था। भगवान् शंकर की कृपा से उसे 'ज्ञानदीप' नामक पुत्र प्राप्त हुआ। आखेट के समय भूले हुए राजकुमार को एक सिद्ध ने सन्यास की ओर आकृष्ट करना चाहा। उसने उसे योग का वाना पहनाया और सगीत की मधुर शिक्षा दी। संगीत-

प्रेमी राजा सुखदेव विद्या नगर का निवासी था। देवयानी नाम की उसकी पुत्री बड़ी ही विदुषी थी और उसकी सुरज्ञानी नाम की एक सखी थी, जो ज्ञानदीप के सौदर्य के प्रति आकृष्ट थी। इस सखी से राजकुमार के सौन्दर्य की चर्चा सुनकर वह भी उसे देखकर उसके प्रति मोहित हो गई। राजकुमार के प्रति आकर्षित होने के उपरान्त वह उसे प्राप्त करना चाहती है, लेकिन योगी राजकुमार के मन में कोई उद्रेक नही होता। इस पर वह मंत्र-बल द्वारा एक घोडे का सृजन करती है, जो राजकुमार को राजकुमारी के समीप लाता है और वह राजकुमारी के पाण्डित्य से प्रभावित होकर उसे प्रेम करने लगता है। राजकुमारी का पिता यह सुनकर राजकुमार को दण्डित करता है और उसे काठ के मजूषा मे बन्द करके नदी मे बहा देता है। वह भानु नगर के राजा भानुराय के हाथ मे पडता है, जो उसकी पुत्रवत् रक्षा करता है। इधर भगवान् शकर के दिखाये गए स्वप्न के अनुसार सुख-देव अपनी लड़की की शादी के लिए स्वयवर रचता है। भानुराय के साथ आकर ज्ञानदीप देवयानी से विवाह करता है और इसी बीच उसका असली पिता भी उसको ढूँढते हुए आ जाता है। पोष्य पुत्र को बिछुडते देखकर भानुराय का प्राणान्त हो जाता है और वह उसकी राजधानी में उसके अन्तिम सस्कार हेतु चला जाता है। देवयानी को विरह की अनुभूति होती है। उसकी सखी सुरज्ञानी वनस्पति की सहायता से पुनः दोनो को मिलाती है और ये तीनो अपने मूल स्थान की ओर चल पड़ते हैं। रास्ते मे सुन्दरसेन नामक राजा को, जो छल से देवयानी को अपहृत करना चाहता था, राज-कुमार पराजित करता है और अपने राज्य में लौटकर सुख से अपना जीवन व्यतीत करता है।

'ज्ञानदीप' के रचयिता शेख नबी भी जहाँगीर के समकालीन थे। इनकी रचना मे जहाँगीर का 'शाह सलीम' नाम भी उल्लिखित हुआ है। स्वत. उन्ही के अन्तःसाक्ष्य पर उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ ज्ञानदीप का रचना-काल सं० १६७६ है, जो जहाँगीर के राज्य-काल के लगभग मध्य में पडता है। शाह की प्रशसा में कवि का कथन है—

साहि सलीम छत्रपति छोनी। दल के मार कँवल दल दोनी ।।

ज्ञानदीपक के प्रारम्भ में कवि ने परमात्मा की स्तुति की है और इसी ग्रन्थ मे अपनी हीनता को चित्रित करते हुए कवि ने अन्य भक्त-कवियों की परम्परा से साम्य-सा उपस्थित किया है। काव्य के उद्देश्य और रचना-प्रक्रिया के विषय मे कवि का कथन भी अन्य कई भक्तिकालीन कवियो से तुलनीय हो सकता है। काव्य-पाठको से निवेदन करते हुए अपने काव्य के विपय मे कवि कहता है कि गुण-ग्राहक लोग इसे पढ़कर अपनाएँ, क्योकि इसका उद्देश्य पवित्र है।

पढ़वइकन से विनती मोरी । आखर समुझि पढ़ेउ मति फेरी ।।
बूझ विचारि दोष मोहि लाएहु । घोष होइ तो मेटि बनाएहु ।।
ललित रूप जो आखर गढ़े । चुनि चुनि अमर कोष से काढ़े ।।
सब रस पाइ किह्हेउ सनमाना । जो आनंद हिय होइ निदाना ।।
विनती एक किहेउ विधि पाँही । मिटै पाप पुनि उपजै ताही ।।
आषर चारि पढ़िहि सब कोई । जासों मोष मुकुति मोहि होई ।।
आपर तव नगलीस पुराना । जिनि जनहु एक आषर आना ।।
नवी-नवी नित रटत हौं नितहि नवी की आस ।
करता करिहि से होइहीं चित मति करो उदास ।।

कवि ने अपने अनुभव से जो कुछ भी अर्जित किया उसे उद्देश्यवश अभिव्यक्त करने से अपने-आपको रोक न सका।

बीर सिंगार विरह किछु पावा । पूरन पद लै जोग सुनावा ।।
जोग जुगुति वेद अच्छर हीए । रहि न गया विनु परगट कीए ।।

कासिमशाह का 'हस जवाहिर' प्रसिद्ध सूफी प्रेमाख्यान है। कवि ने अपने विपय मे इस काव्य मे वहुत कम कहा है, लेकिन इसके अन्त.साक्ष्य से निश्चित रूप से कुछ प्रकाश पडता है। कवि ने अपने प्रेमाख्यान के रचना-काल के अतिरिक्त जन्म-स्थान आदि का भी उल्लेख किया है।

मुहम्मद साह देहली सुलतानू । × × × ।।
है लखनऊ अवध मँझियारा । दरियावाद नगर उजियारा ।।

की वर्णन-परम्परा से यह कवि भी दिल्ली के अधिपति मुहम्मद शाह का समकालीन-ठहरता है।

करौं मुहम्मद साह बखानू। है सूरज देहली सुलतानू॥
धरम पंथ जग बीच चलावा। निबर न सबरे सो दुख पावा॥
बहुते सलातीन जग केरे। आइ सहास बनें हे चेरे॥
सब काहू पर दाया धरई। धरम सहित सुलतानी करई॥

'इन्द्रावती' कवि का प्रथम प्रेमाख्यानक काव्य है, जिसका रचना-काल कवि के अनुसार ही० सं० १८०१ है। यह रचना कवि के यौवन काल की और प्रारम्भिक कृति है।

है कवि समय नई तरुनाई। छूट न अबही कवि लरिकाई।
विनवत कवि जन कहँ कर जोरी। है थोरी बुधि पूँजिय मोरी॥
हौं मै लरिकाई कौ चेला। कहौं न पोथी खेलहुँ खेला॥
सन ग्यारह सौ रहेउ, सत्तावन उपनाह।
कहै लगउ पोथी तबै पाय तपीकर बाँह॥

कवि के अन्त.साक्ष्य से ही पता चलता है कि उसने 'अनुराग वाँसुरी' के पूर्व 'नल दमन' के प्रेमाख्यान को आधार बनाकर एक काव्य की रचना की थी जो सम्भवतः उपलब्ध नही है।

आगे हिन्दी समुद्र तिराना। भाखा इन्द्रावति जो जाना॥
फेर कहा नल दमन कहानी। कौन गनावै दूसरि बानी॥

'इन्द्रावती' नामक प्रेमाख्यान मे कवि ने कालिंजर को राजकुमार राजकुँवर और आगमपुर की राजकुमारी 'इन्द्रावती' की प्रेम-कहानी को उत्कृष्ट काव्य-रूप दिया है। कथा की पृष्ठभूमि ने ही कवि ने प्रेमाख्यान के स्वरूप की ओर स्पष्ट सकेत कर दिया है।

मन दृग सों इक राति मझारा। सूझि परा मोहि सव संसारा॥
देखेऊं एक नीक फुलवारी। देखेउँ तहाँ पुरुष औ नारी॥
दोउ मुख सोभा वरनि न जाई। चंद सुरज उतरे भुइँ आई॥
तपी एक देखेउँ तेहि ठाऊँ। पूछेउँ तासौं तिन्ह कर नाऊँ॥

कहा अहैं राजा औ रानी। इन्द्रावति औ कुँवर गियानी॥
आगमपुर इन्द्रावती कुँवर कालिंजर राय।
प्रेम हुँतो दोउन्ह कह दीन्हा अलख मिलाय॥

कवि की दूसरी उपलब्ध रचना है 'अनुराग बाँसुरी'। यह अन्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की अपेक्षा अधिक सस्कृत-गर्भित शैली मे लिखा हुआ है। इस काव्य का रचना-काल स० १८२१ है। कवि इस काव्य के माध्यम से अपने मत का प्रचार करने में अभिमुख है। उसका हिन्दी भाषा मे लिखना उसके सम्प्रदाय से सम्वद्ध लोगो को वुरा लगता था, लेकिन मत के प्रति कट्टर होते हुए भी कवि ने उसको अपनी रचना मे प्रचार हेतु प्रश्रय दिया।

जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा।
हिन्दू मग पर पाँव न राखेउँ। कापौं बहुतै हिन्दी भाखेउँ॥
मन इसलाम मसल कै माँजेउँ। दीन जेवरी करकस भाजेउँ॥

कवि उर्दू-फारसी मे 'कामयाव' के उपनाम से रचना करता था, यद्यपि उसका हिन्दी के प्रति आकर्षण भी हमेशा रहा।

शेख निसार का प्रेमाख्यान 'यूसुफ जुलेखा' शामी परम्परा मे रचित हुआ है। कवि ने इस काव्य मे अपने विषय मे वहुत सी वाते कही है—

शेखपुर अति गाँव सुहावा। शेख निसार जनम तँह पावा॥
शेख हवी वुल्लाह सोहाए। शेखपुर जिन्ह आय वसाए॥
पातसाह अकवर सुलताना। तेहि के राजकर जगत वखाना॥
अवध देस सूवा होइ आए। बीस वरस लहि रहे सोहाए॥
तेहि के शेख मुहम्मद वारा। रूपवंत भू पर अवतारा॥
ता सुत गुलाम मुहम्मद नाऊँ। सो हम पिता सो ताकर गाऊँ॥

आधुनिक खोजों से यह शेखपुर फैजावाद मे सिद्ध हुआ है और जन-श्रुति से तत्सम्वद्ध कवि की वहुत सी वातो का पता भी यहाँ चलता है। वस्तुत. कवि का नाम गुलाम अगरफ था और शेख निसार उसका उपनाम था। अपने काव्य के प्रारम्भ में कवि ने तत्कालीन राजाओ और उनसे

दरियाबाद माँझ मम ठाऊँ। इमानुल्लाह पिता कर नाऊँ॥
तहँवा मोहि जनम विधि दीन्हा। कासिम नाम जाति का हीना॥

× × ×

ग्यारह सै उनचास जो आजा। तब यह प्रेमकथा कवि साजा॥

अस्तु ! 'हस जवाहिर' का रचना-काल स० १७९३ माना जा सकता है जो मुहम्मद शाह के आस-पास का समय है। सूफी प्रेमाख्यान-काव्य के उत्तरार्द्ध-काल मे रचित इस रचना मे कथा की दृष्टि से कोई विशेष नवीनता नही है। परम्परा का पिष्टपेषण ही अधिक मिलता है और उन्ही प्रतीक-विधानो और अभिप्रायो का प्रयोग हुआ है जो एक तरह से रूढ-से हो चले थे। सैद्धान्तिक दृष्टि से कवि का आग्रह तात्त्विक मान्यताओ को अधिक प्रश्रय देने मे है। सूफी मतावली मे प्रेम के क्षेत्र मे अनन्यता की जो भावना है वह इनके काव्य मे साकार है। परमात्मा प्रियतम है और आत्मा, जगत् या सृष्टि उसकी प्रेयसी स्वरूपा। प्रेमी और प्रेमिका मे आश्रित सम्बन्ध है। प्रेमिका का प्रेम प्रिय मे अपने अस्तित्व को सन्निविष्ट कर देने में ही सार्थक है, क्योकि वह एक ऐसा फूल है जो उसके सुवास से सुवासित है। वह एक ऐसी ज्योति है जो उससे ज्योतित है।

सुनु मम कन्त मै दासी तोरी। छुटतो नेह और नहिं मोरी॥
आप मै खोय मिलों तुम पोही। छुटतो नेह और नहिं मोही॥
आप मै खोय मिलौं तुम पाँही। दूसर कौन लखै परछाहीं॥
तुम ते नेह कन्त मम लागा। और मिल्यो जस कनक सोहागा॥
मिलौं तुम्हें समुद्र होइ मोती। मोती प्राण कन्त तुम जोती॥
तुम सरवर हम कंवल की गोई। तुम विनु प्राण और कित होई॥
तुम जग भानु चन्द्र होय वारी। तुमही जोति रहै उजियारी॥
हों घन फूल वास तुम पीऊ। तुम बिन नारि होय बिन जीऊ॥
मन मोरा कंचन विमल, और मिला तुम माँह।
सो मोहि कसो कसौटि पर, खेय लिह्यो अव नाँह॥

कवि ने सारी काव्य-कथा को प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत किया है।

उसकी कथा में प्रयुक्त सारे पात्र अपना एक दूसरा स्वरूप लिये हुए आये हैं, ऐसा कवि का स्वतः का सकेत है। कवि का अपना मन्तव्य है कि कथा-वोध के लिए उनमे प्रयुक्त अर्थों को द्विविध समझना अपेक्षित है। कवि की प्रेम-कथा का रहस्यात्मक स्वरूप निश्चित रूप से लौकिक भित्ति पर पारलौकिक सकेत किये चलता है।

कासिम कथा जो प्रेम बखानी। बूझै सो जो प्रेमी-ज्ञानी॥
कौन जवाहिर रूप सोहाई। कौन शब्द जो करत बड़ाई॥
कौन हंस जो दरसन लोभा। कौन देस जेहि ऊँचे सोभा॥
कौन पंथ जो कठिन अपारा। कौन शब्द जो उतरैं पारा॥
कौन मीत जिन संग जिय दीना। कौन सो दुर्जन अति छल कीना।
को ज्ञानी जो बरनि सुनावा। कौन पुरुष जो सुनि चित लावा॥
कौन दुष्ट जेहि दरशन जूझा। कौन भेद जेहि शब्दहि बूझा॥
जाँच कथा पोथी जुपद, परसन तेहि जगदीस।
हमहिं वोलि सुमिरैं सोई, कासिम देइ असीस॥

कवि ने कथा को काव्य-रूप दिया है। इनके काव्यत्व मे कही-कही अनुकृति की प्रधानता की झलक पाकर कुछ आलोचकों ने इनको वहुत महत्त्व नही दिया, जो वास्तव मे उचित नही।

'नूरमुहम्मद' को प० रामचन्द्र शुक्ल ने सूफी प्रेमाख्यानक परम्परा के अन्तिम प्रसिद्ध कवि के रूप मे गिनाया है। कवि के अन्त.साक्ष्य से उसकी जीवनकालीन कई वातो पर प्रकाश पडता है। उसने अपने को 'सवरहद' नामक स्थान से सम्वद्ध वताया है, यद्यपि यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि यही स्थान उसकी जन्मभूमि थी।

कवि अस्थान कीन्ह जेहि ठाऊँ। सो वह ठाँउ सवरहद नाँऊ॥
पूरव दिस कइलास समाना। अहै नसी-सही को थाना।

सम्भव है कि कवि ने अपने जीवन-काल मे कुछ समय वाद इस स्थान को अपनाया हो। यह स्थान जौनपुर ज़िले मे मिलता है। कवि ने अपने जीवन-काल का कुछ समय अपनी ससुराल मे भी विताया था। शाहेवक्त

सम्बद्ध सामाजिक दशाओ का भी एक परिचय प्रदान किया है।

आलमशाह हिन्दु सुलताना। तेहि के राज यह कथा वखाना॥
देहली राज करे ऊ नीता। उमरावन तेह कीन्ह अनीता॥

कवि अपने को स्वत: कई रचनाओ का कर्त्ता कहता है; लेकिन उसका सबसे सुन्दर काव्य-ग्रन्थ यूसुफ एव जुलेखा की प्रेम-कथा से सम्बद्ध है, जिसे उसने अपने दु.ख के आविल क्षणों मे रचा था। कवि के अन्त.साक्ष्य से इसका रचना-काल स० १८४७ है जो उसकी प्रौढ वय की कीर्ति है।

हिजरी सन बारह सै पाँचा। वरनौं प्रेमकथा यह साँचा॥
अट्ठारह सै सैतालीसा। संवत् विक्रम सेन नरेसा॥
सत्तरह सै बारह पुनि साका। सत्तरह सै नव्वे ईसाका॥
सत्तावन वरख बीते आऊ। तव उपजेउ यह कथा कै चाऊ॥

कवि के इस काव्य की सबसे बडी विशेषता है कि इसके सभी पात्र अलौकिकत्व की ओर सकेत करते है। शामी परम्परा मे शुद्ध रूपेण लिखित होने पर भी कवि के मन मे किसी भी पूर्वग्रह का अभाव है। समकालीन अन्य प्रचलित प्रेम-कथाओं को कवि काल्पनिक समझता है और वास्तविक कथा के निर्माण मे अपने को आयोजित करता है। वह अपनी कथा का भाषा मे आयोजन इसलिए करता है कि वह सर्वजन-सुलभ हो सके और इसके लिए उसके मन मे कोई अन्यथा भावना नही है। प्रेम-वर्णन मे कवि ने सीधी-सादी शैली मे भावाभिव्यक्ति की है। नायिका को नायक के स्वप्न मे दर्शन होते हैं और उसके प्रति उसका मन अनुरक्त हो उठता है।

एक राति जो आइ सोहावनि। प्रेम स्वरूप विरह उपजावनि॥
प्रेम भरी रजनी उजियारी। सखिन साथ सोवै सो नारी॥

× × ×

सब सोवा कोउ जागत नाहीं। जागत एक प्रेम जग माहीं॥
सोवै लागि तेहि समय जुलेखा। यूसुफ कहँ सपने मँह देखा॥
मीठी नींद जगत सब सोवा। प्रेम तेज हिय जाइन गोवा॥

इस काव्य का कथानक कुरान मे भी उपलब्ध होता है और उर्दू-

फारसी के वहुत से कवियो ने अपने काव्य मे इसको वर्ण्य विषय वनाया है।

'नूरजहाँ' नामक प्रेमाख्यान के लेखक ख्वाजा अहमद का जन्म सं० १८८७ वि० के आसपास प्रतापगढ जिले के वाबूगज नामक ग्राम मे हुआ था। इन्होने जायसी और कासिमशाह की अनुकृति पर इस काव्य की रचना की, जैसा कि स्वत. उनका कथन है कि काव्य के क्षेत्र मे वे उपर्युक्त व्यक्तियों से अधिक प्रभावित थे।

मलिक मुहम्मद पुरुख सयाना। कथा पदुमिनी कीन्ह वखाना ॥
गढ़ चितउर औ' सिंघल दीपा। लिखेउ वखान सो प्रेम सनीपा ॥
औ' कासिम जस दरियावादी। लिखेउ हंस कै कथा सो आदी ॥
वलख सो चीन प्रेम रस वोवा। लिखेउ अरथ जनु समुद विलोवा ॥
अहमद तुम्ह येन सवके चेला। येन के संघ चरन छै खेला ॥

नूरजहाँ नाम से ख्यात इस प्रेमाख्यान का ऐतिहासिक नूरजहाँ से कोई सम्वन्ध नही दिखलाई पडता। इसमें राजकुमार खुरशेद और राजकुमारी नूरजहाँ की प्रेम-कहानी को वर्णित किया गया है। राजकुमार की अनुरक्ति राजकुमारी के प्रति यहाँ भी स्वप्न-दर्शन से ही प्रारम्भ होती है।—

सोवत सपन देखि कै, लखेसि भेद निरथाइ।
कंचन पाट सिंघासन वैठि नारि इक आइ ॥
वाउर भयउ राय लखि, मूरति आइ हिय लागि।
भए अलोप दे दरसन उठा सोइ जव जागि ॥

सूफी प्रेमाख्यानक काव्य की परम्परा आधुनिक काल तक चलती रही है और आधुनिक काल मे भी वहुत से कवियों ने अच्छे सूफी प्रेमाख्यान लिखे हैं। कवि आधुनिक काल से सम्वद्ध है और उसकी प्रसिद्ध रचना 'भाषा-प्रेमरस' का रचना-काल सन् १६०० ई० के आस-पास है। पचम जार्ज के समकालीन होने का उल्लेख स्वयं कवि ने किया है। कवि ने अपने से सम्वद्ध कई अन्य वातो पर भी प्रकाश डाला है।

नाम रहीम मोर जग जाना। जखल नगर जनम स्याना ॥
जाना चाहो जाति हमारी। हनफी मता शेख अनसारी ॥

कवि ने एक जगह अपने अध्ययन, शिक्षा-दीक्षा के विषय मे भी लिखा है।

उर्दू फारसी कुछ-कुछ सीखों। भाषा स्वाद तनिक इस धीखों॥
पद्मावत देखो निरथाई। मलिक मुहम्मद केर बनाई॥
हंस जवाहिर कासिम केरी। पढ़ौं सुनौं पुस्तक बहुतेरी॥
तँह से मोहु भयो यह जोगा। भाखा भाख कहूँ संजोगा॥

इस काव्य मे नायिका चन्द्रकला और नायक प्रेमसेन की प्रेम-कथा वर्णित है। कवि ने भारतीय काव्य-परम्परा तुल्य नायक को नारी-रूप में नायिका से मिलाया है, जैसे चन्द्रावली से कृष्ण का सम्मिलन हुआ था।

भेटौ मिलो कहो जो बीती। आपन आपन थापो नीती॥
तब चन्द्रावलि चीन्हीं श्यामा। आये कृष्ण राधिका धामा॥
नारि भेष लख नारि लजानी। रूप विमल सोभा की खानी॥
उठी धाइ चरनन तें लागी। बोली वचन प्रेमरस पागी॥
औ' परान तोहि कंठ लगाऊँ। सुघर सरूप के मैं वलि जाऊँ॥
जो तुम हो तो नारि करारी। तीन लोक जाते बलिहारी॥
होयके पुरुष हमें बर आयो। पीत रोग दे लाज नसायो॥
बन के नारि छलन का आयो। धन्य भाग जो दरस दिखायो॥
घूंघट खोलो लाड़िली चितवो हमरी ओर।
मुख दिखलौनी मैं करूँ प्रान निछावर तोर॥

कवि नसीर ने यूसुफ-जुलेखा की कथा को 'प्रेम-दर्पण' नाम से लिखा है। यह कवि गाजीपुर मे जमानियो का रहने वाला था। इसका जीवन गार्हस्थ्य के दुखो से आविल था। वह विक्षिप्त होकर घर से निकल पड़ता है और कलकत्ता में एक सौदागर से उसे इस प्रेमाख्यान को सुनने का अवसर मिलता है और उसे कुछ आन्तरिक शान्ति मिलती है। इनके रचना-काल की स्थिति का पता इनके स्वत कथन से लगता है—

हिजरी तेरह सौ पैंतीसा। था जैकीद मास चौबीसा॥
संवत. उन्नीस सौ चौहत्तर। भादों वदी दुवादस अंतर॥

जुमा का दिन जानो तुरकाना। सुक का दिन जानो हिंदवाना।।
करके बहुत ही कष्ट कलेसा। यह दिन कथा कियो मैं सेसा।।

अस्तु ! इस प्रेमाख्यान का रचना-काल सं० १९७४ ठहरता है। कथा की दृष्टि से काव्य में कोई नवीनता नही है। लेकिन काव्य की वर्णनात्मकता मौलिक है।

सगुण धारा

राम-भक्ति शाखा

यद्यपि राम-भक्ति तथा कृष्ण-भक्ति का आविर्भाव ई० पू० मे ही हो गया था, पर अपने वास्तविक रूप मे वह ग्यारहवी शताब्दी मे ही आया, जब दक्षिण में स्वामी रामानुजाचार्य ने आदिगुरु जगत्स्वामी श्री शंकराचार्य के वेदान्तीय 'अद्वैतवाद' को भक्ति के हेतु अपूर्ण जानकर, भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिए 'विशिष्टाद्वैतवाद' को आधार बनाकर श्री सम्प्रदाय को चलाया और 'विष्णु' तथा 'नारायण' की उपासना पर जोर दिया। 'विशिष्टाद्वैतवाद' के अनुसार समस्त प्राणी ब्रह्म से उत्पन्न होते है और उसी मे फिर मिल जाते हैं। अत. जीवोद्धार के लिए उसका सामीप्य-लाभ अनिवार्य है, जो भक्ति द्वारा ही हो सकता है। 'प्रेम और श्रद्धा के संसर्ग से ही भक्ति की निष्पत्ति होती है।' 'सत्' ब्रह्म के सत् स्वरूप की वह क्रियात्मक अभिव्यक्ति है, जिसका आभास सम्पूर्ण विश्व मे विद्यमान है। भक्त इस संसरणशील संसार में 'सत्' की इसी शक्तिशाली प्रवृत्ति के उदय-स्वरूप प्रकटित आनन्दमयी ज्योति के दर्शन हेतु सर्वदा लालायित रहता है तथा इसी ज्योति के प्रकाश मे उसे अनन्त सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है। आन्तरिक 'चित्' को जब बाह्य 'सत्' के दर्शन प्राप्त होते है तभी आनन्द का अनुभव जीव करता है। इसी कारणवश भगवान् को 'सच्चिदानन्द' कहा जाता है।

स्वामी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार चिद्चिद्विशिष्ट ब्रह्म ही इस विश्व के कण-कण मे व्याप्त है और वे ही भक्तों के सर्वस्व

है। उन्हीं की परम कृपा से जीव को मोक्ष प्राप्त हो सकता है, पर वह कृपा भक्ति-मार्ग पर चलने से ही वांछनीय है। अतः रामानुज के भक्ति-मार्ग ने जनता को अधिक संख्या में अपनी ओर आकर्षित किया। यह सम्प्रदाय 'विष्णु' अथवा 'नारायण' की उपासना को लेकर चला था। इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई।

आगे चलकर १५वीं शती के मध्य भाग में इसी परम्परा के अन्तर्गत प्रसिद्ध वैष्णव-सन्त बाबा राघवानन्दजी के शिष्य स्वामी रामानन्दजी हुए, जिन्होंने चतुर्भुज नारायण के स्थान पर विष्णु के द्विभुजधारी मानव-लीलाकारी राम-रूप को अपनाया, क्योंकि मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने ही समान स्वरूप के प्रति विशेष-रूपेण आकृष्ट होता है। इसी राम-नाम के सहारे निर्गुण-पन्थियों ने ज्ञान-प्रधान तथा सात्विक सदाचारों से युक्त अपने सम्प्रदायों को जन्म दिया तथा दूसरी ओर राम-भक्ति शाखा का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण भक्ति के शुष्क क्षेत्र में सरसता एवं मधुरता का सचार हुआ।

यद्यपि तत्त्वतः स्वामी रामानन्दजी रामानुजाचार्य के ही मतावलम्बी थे, पर कुछ लोग मन्त्र-भेद, तिलक-भेद तथा त्रिदण्डी स्वामी न होने के कारण उन्हें 'श्री वैष्णव' सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं मानते हैं। पर 'श्री रामार्चन-पद्धति' में रामानन्दजी ने अपनी पूरी गुरु-परम्परा बतलाकर अपने को श्री रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में ही रखा है। इन्होंने हर्ष, शोक तथा विपत्ति से युक्त विष्णु के लोक-कल्याणकारी राम-रूप को अपनाया तथा देश-भेद, वर्ण-भेद और जाति-भेद आदि के विचारों को भक्ति-मार्ग से दूर रखकर सबकी भलाई के लिए राम-भक्ति का द्वार खोल दिया। इन्होंने एक सबल वैष्णव-सम्प्रदाय का सघटन किया जो 'वैरागी' के नाम से प्रसिद्ध है तथा इस दल का अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा बाहुल्य है। राम के विषय में यह कहते हैं—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अविगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल विकार रहित गत भेदा । कहि नित नेति निरूपहिं वेदा ॥
भगत, भूमि, भूसर, सुरभि, सुरहित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुज तन, सुनत मिटहिं जग जाल ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि राम की उपासना उन्हे परब्रह्म मानकर ही की गई । रामानन्दजी का यह भक्ति-आन्दोलन अत्यन्त उदारपूर्ण था और उन्होने जटिल कर्मकाण्डो की अपेक्षा सरल भक्ति की साधना को प्रधानता दी । उन्होने शूद्रों को भी अपना शिष्य वनाया तथा कवीरदासजी भी, जो मुसलमान थे, इनके शिष्य थे । पर यह विलकुल नही समझना चाहिए कि ये वर्णाश्रम-धर्म के विरोधी थे । हिन्दुओं का वर्ण-विभाग सामाजिक कार्य-विभाग की दृष्टि से चला था, तात्त्विक दृष्टि से तो सभी समान थे । अतः समाज के लिए वर्ण तथा आश्रम की व्यवस्था को मानकर भी उपासना के क्षेत्र मे उन्होंने सवके समान अधिकार को माना और भगवद्भक्ति से भेद-भाव को सर्वथा दूर रखा ।

रामानन्दजी के केवल दो ग्रंथ सस्कृत मे मिलते है—(१) 'वैष्णव-मताब्ज भास्कर', (२) 'श्री रामार्चन-पद्धति' । इनके कुछ पद हिन्दी में भी प्राप्य है । वाद मे साम्प्रदायिक झगड़े के कारण कुछ ग्रंथों को लिखकर लोगों ने इनके नाम से प्रसिद्ध किया तथा 'योग चिन्तामणि' एवं 'राम-रक्षा' जैसे वेकार ग्रन्थों के भी रचयिता यह गिनाये गए । पर यह सव निर्मूल है । 'ग्रन्थ-साहव' मे भी निर्गुण-उपासना के दो-एक पद उनके नाम से मिलते हैं, पर वे किसी दूसरे रामानन्द के है । इनका कोई प्रामाणिक वृत्त न मिलने के कारण अनेक प्रकार की कहानियाँ इनके विषय मे गढ़ी गई हैं, तथा लोगों ने इन्हे योगी तथा गिरनार मे सिद्धि प्राप्त करने वाला कहा है । इसका मूल स्रोत वैरागियो की 'तपसी शाखा' है, जिन्होंने अपनी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए स्वामी रामानन्दजी को भी सिद्ध ठहराया है । पर रामानन्दजी के जो वास्तविक दोनों ग्रन्थ है तथा उनके द्वारा चलाये हुए सम्प्रदाय मे जिस प्रकार की परमपिता की उपासना प्रचलित है, उससे

यही प्रकट होता है कि वे इस ससार में भगवान् की कला का अनुभव करने वाले विशुद्ध वैष्णव भक्ति-मार्ग के अनुयायी थे, योगमार्गी नही। उनकी शिष्य-परम्परा मे अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत मतो का सम्मिश्रण हुआ है। कवीर, पीपा, रैदास, सेना तथा मलूक आदि सन्तो पर उनकी विशिष्ट छाप है। आगे चलकर उन्ही की शिष्य-परम्परा मे हिन्दी-साहित्याकाश के सूर्य श्री गोस्वामी तुलसीदासजी का उदय हुआ, जिनका जगत्प्रसिद्ध 'रामायण' हिन्दी-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रत्न है।

कुछ भी हो, 'राम-भक्ति शाखा' हिन्दी-साहित्य की प्राण है। इसने लोक-धर्म की स्थापना करके सस्कृति, मर्यादा एव समाज को विशृंखल करने मे सहायक तथा लोक-धर्म की अवहेलना करने वाली नाथपथियो, गोरखपथियो तथा निर्गुणपथियो की वानी को झूठा कर दिया, तथा हृदय-पक्ष और रागात्मिका-वृत्ति से सम्बन्ध स्थापित करने वाली सच्ची भक्ति की भावना को उद्दीप्त किया। साथ ही इस काल मे भाषा का एक शिष्ट तथा सामान्य रूप कविता के लिए आया और परिष्कृत भाषा में भारतीय सस्कृति, शिष्टता तथा सभ्यता की झाँकी हमे देखने को मिली। इस धारा के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसीदास है।

गोस्वामी तुलसीदास—हिन्दी-गगन के दैदीप्यमान सूर्य गोस्वामी तुलसीदासजी सगुणाश्रयी राम-भक्ति धारा के प्रतिनिधि कवि है। इनकी रचनाओ मे हम अद्भुत प्रतिभा तथा अलौकिक कवित्व-शक्ति का पूर्ण समावेश पाते है। साथ ही इन्ही की वाणी द्वारा भक्ति का वास्तविक प्रकाश जनता को दृष्टिगोचर हुआ है। फलत: उनकी यश तथा कीर्ति की पताका आज भी अदम्य उत्साह तथा वेग के साथ हिन्दी-गगन मे फहरा रही है।

गोस्वामीजी के जीवन-चरित के विषय मे अनेक प्रकार के मत-मतान्तर प्रचलित हैं। प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवसिंह-सरोज' में वेनीमाधवदास-कृत 'गोसाई-चरित' का उल्लेख है। यह पुस्तक अब प्राप्य है। यद्यपि इसमे वर्णित कुछ घटनाएँ इतिहास-सम्मत नही हैं फिर भी इसके अन्दर दी हुई

अधिकतर बातें परम्परागत है, अत. उन पर विश्वास किया जा सकता है, क्योंकि वे पूर्णतया वेसिर-पैर की नही हो सकती।

दूसरी पुस्तक, जिसके द्वारा गोस्वामीजी के जीवन-वृत्त पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, महात्मा रघुवरदास-कृत 'तुलसी-चरित' है। दोनो की वातो में परस्पर विरोध है। 'गोसाई-चरित' मे दिया है कि तुलसीदासजी के पिता जमुना के किनारे दुवे-पुरवा नामक गाँव के निवासी थे तथा उनके पूर्वज 'पत्योजा' गाँव से वहाँ आये थे। परन्तु 'तुलसी-चरित' के अनुसार तुलसीदास के पिता मुरारि मिश्र थे तथा तुलसीदास के पूर्वज गाना के मिश्र थे और सरवार में मझौली से तेईस कोस पर कसया ग्राम के रहने वाले थे।

'तुलसी-चरित' तथा 'गोसाई-चरित' दोनों मे उनका जन्म-सवत् १५५४ दिया हुआ है। 'गोसाई-चरित' मे तो तिथि का भी स्पष्ट उल्लेख है—

पन्द्रह सौ चौवन विषे, तरणि तनूजा-तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धर्यो शरीर॥

इसको मान लेने से उनकी आयु १२६-१२७ वर्ष की हो जाती है, जिस पर कुछ लोग शका कर वैठते है। पर गोस्वामीजी-सरीखे वीतराग तथा पुनीत आचरण वाले महात्मा की इतनी दीर्घ आयु होना कोई वडी वात नही है। 'शिवसिंह-सरोज' मे इनका जन्म-सवत् १५८३ दिया हुआ है। प्रसिद्ध रामायणी पं० रामगुलाम द्विवेदीजी ने जनश्रुतियो के आधार पर उनका जन्म-संवत् १५८९ ठहराया है तथा इसी को डॉ० ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है। उक्त श्रुति के अनुसार इनके पिता का नाम आत्माराम दुवे तथा माता का नाम हुलसी था, जिनका उल्लेख 'रहीम' ने भी किया है।

इनकी मृत्यु के सम्बन्ध मे यह दोहा प्रचलित है—

संवत् सोलह सौ असी, असो गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

पर बाबा बेनीमाधवदास के 'गोसाईं-चरित' मे उक्त तिथि इस प्रकार दी हुई है—

संवत् सोलह सौ असी, असी गग के तीर।
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर।।

यही तिथि प्रामाणिक है, क्योकि गोस्वामीजी के अनन्य मित्र 'भदैनी' के ठाकुर टोडर के वशज अब भी इसी तिथि को गोस्वामीजी के नाम पर सीदा दिया करते है।

इनके जन्म-स्थान को लेकर भी वाद-विवाद खडा हो गया है। यद्यपि 'गोसाईं-चरित' मे राजापुर (बाँदा) का स्पष्ट उल्लेख है, फिर भी स्व० लाला सीतारामजी के इशारे को लेकर लोग उनके जन्म-स्थान को 'सोरो' सिद्ध करने का सतत प्रयत्न कर रहे है। इसकी पुष्टि वे 'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत' से करते है तथा सूकर-खेत को 'सोरो' ठहराया है। इनमे श्री रामनरेश त्रिपाठी आदि के नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। पर शुक्लजी ने इस सूकर-खेत को गोडा जिले मे ठहराया है तथा इसे एक पवित्र तीर्थ वतलाया है जहाँ अब भी मेला लगता है। सोरो की पुष्टि लोग नरहरिदासजी से करते है जिन्हे तुलसीदासजी का गुरु होना वतलाया जाता है। परन्तु जव हम तुलसीदासजी की भापा पर विचार करते है तो वह स्पष्ट रूप से पूरवी अवधी है, जो पच्छिम के रहने वाले के लिए असंगत-सी जान पडती है। साथ ही तुलसीदासजी ने अपने 'रामचरितमानस' के अयोध्या-काण्ड मे राजापुर के पास ही जमुना के किनारे एक तापस को अपने इष्टदेव राम से मिलाया है, जिसका कथा-प्रसंग से कोई सम्वन्ध नहीं है। वह एकाएक आता है तथा इष्टदेव का दर्शन पाकर उसी भाँति चला भी जाता है। कुछ लोगो का अनुमान है कि यह तापस स्वयं गोस्वामीजी ही थे। यह उल्लेख 'मानस' मे इस प्रकार है—

तेहि अवसर एक तापस आवा। तेज पुन्ज लघु वयस सुहावा।
कवि अलपित गति वेप विरागी। मन क्रम वचन राम-अनुरागी।।

सजल नयन तन पुलक निज, इष्ट देव पहिचानि।
परेउ दण्ड जिमि धरनि तल, दसा न जाइ बखानि।।

जो हो इस अनुमान को पुष्ट करने के लिए अभी पर्याप्त प्रमाण अपेक्षित हैं। हाँ, यह तो कहा ही जा सकता है कि सोरों की प्रामाणिकता राजापुर की अपेक्षा अधिक सदिग्ध है। सच वात तो यह है कि तुलसीदासजी-जैसे कवि को सकीर्ण जातीयता तथा साम्प्रदायिकता मनोभाव से खीचकर किसी विशेष वर्ग अथवा स्थान का व्यक्ति ठहराना एक अनाधिकार चेष्टा ही है। उनके जीवन-चरित के विषय मे नवीन उद्भावनाओ की सृष्टि न करके उनके ग्रन्थो का अधिकाधिक अनुशीलन करके प्रचलित वस्तुओ को प्रामाणिकता की कोटि तक पहुँचाने की कोशिश करनी चाहिए।

कहा जाता है कि इनके गुरु वावा नरहरिदासजी थे जो रामानन्दजी के वैरागियो की परम्परा के प्रसिद्ध सन्त थे। इसके प्रमाण मे गोस्वामीजी का निम्नाकित दोहा दिया जाता है—

बंदउँ गुरुपद कञ्ज, कृपासिन्धु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुञ्ज, जासु वचन रविकर निकर।।

पर वैरागियो की उक्त परम्परा में गोस्वामीजी का नाम कही भी नहीं है। यह रामोपासक अवश्य थे, पर वैरागी न होकर स्मार्त्त वैष्णव थे। स्मार्त्त वैष्णव स्मृति से प्रतिपादित धार्मिक रीतियों को मानते है तथा पंच देवो की उपासना को मानते हुए प्रधानता अपने इष्टदेव को ही देते है। यह भी प्रच-लित है कि उनके अध्यापक काशी के परम विद्वान् महात्मा शेष सनातनजी थे, जो रामानन्दजी के आश्रम मे रहते थे। इन्होने ही तुलसीदासजी को वेद-वेदान्त तथा इतिहास इत्यादि में प्रवीण किया था। इनका साक्षा-त्कार उन्हे वावा नरहरिदास द्वारा ही हुआ था, क्योकि वे ही राम-कथा का पान कराते इन्हे काशी ले गए थे।

यह भी प्रसिद्ध है कि इनका जन्म अभुक्त मूल में हुआ था, इस कारण माता-पिता ने इन्हे जन्म लेने के वाद ही त्याग दिया था। 'गोसाईं-चरित' मे यह भी वर्णित है कि जन्म के समय उनके पूरे दाँत भी थे तथा पैदा होते

अनुसार आपने अपने प्रसिद्ध प्रवन्ध-काव्य 'रामचरितमानस' की रचना की है, जिस पर हिन्दी-साहित्य को गर्व है तथा जिसे ससार की महान् पुस्तको मे गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। पर इसमे आपने ठेठ अवधी का माधुर्य प्रदर्शित करते हुए सस्कृत पदावली का अपूर्व सम्मिश्रण भी दिखलाया है। इस प्रकार अपने समय की प्रचलित सभी शैलियो को अपनाकर सब पर आपने अपना समान अधिकार दिखलाया है।

वीर-काल के कवियों ने उत्साह तथा जोश को, भक्ति-काल के अन्य कवियो ने प्रेम तथा ज्ञान को, तथा रीति-काल के कवियो ने शृंगार को ही प्रधानता प्रदान की, पर गोस्वामीजी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इन्होने मानव-जीवन के समस्त अगों का प्रतिपादन करते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के भीतर मानवता के उदात्त आदर्शो को उपस्थित किया तथा साधना के मार्ग मे विरागयुक्त शुद्ध भगवद्-भक्ति का उपदेश देते हुए लोकपक्ष मे पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्य-पालन की शिक्षा दी।

निर्गुण-धारा के कवियो की वानी मे लोक-सग्रह की भावना का पूर्ण अभाव था। इनके उपदेशो द्वारा समाज मे विशृङ्खलता आ रही थी तथा उसकी मर्यादा भी नष्ट-सी हो रही थी। हृदय-पक्ष-शून्य 'नाथ पन्थ' का हठयोग जनता को अन्धकार की ओर ले जा रहा था तथा उनकी रहस्य-युक्त वानियो द्वारा जनता की भक्ति-भावना दब-सी गई थी। ईश्वर केवल कुछ इने-गिने रहस्यवादियों का ही विषय रह गया था। पर तुलसी की भक्ति-पद्धति सर्वाङ्गपूर्ण है, जीवन के सभी पक्षो तथा कर्म, धर्म और ज्ञान से उसका गहरा सम्वन्ध है। साथ ही चित्त को एकाग्रता प्रदान करने के लिए इन्होने योग का भी नाम लिया है। इन्होने किसी सम्प्रदाय-विशेप अथवा सिद्धान्त-विशेष का समर्थन अथवा प्रतिपादन न करके सम्पूर्ण भारत की भावनाओं का प्रतिनिधित्व किया है। भारतीय सस्कृति के आधारभूत तत्त्वो को गोस्वामीजी ने विविध शास्त्रो के अध्ययन द्वारा ग्रहण करके अपनी कृतियो द्वारा सम्यक् रूप से व्यक्त किया। भारत की तीन प्रमुख विशेप-ताएँ उदारता या सहिष्णुता, कर्मण्यता या निष्काम कर्म तथा त्याग या

कष्ट-सहन को साहित्य के सच्चे अर्थ मे प्रकट करके यह भारतीय साहित्य के वास्तविक अधिकारी हैं। इन्होंने हिन्दू धर्म के सच्चे स्वरूप को राम के चरित्र में उपस्थित करके एक आदर्श दुनिया के सामने रखा है। धर्म और समाज की व्यवस्था, राजा-प्रजा का सम्वन्ध, माता-पिता, गुरु-शिष्य तथा भाई इत्यादि का एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य तथा व्यवहार इत्यादि का सच्चा स्वरूप इन्होने ऐसा खडा किया है जो सवके लिए अनुकरणीय तथा मगल-प्रद है। साथ ही प्रेम तथा शृङ्गार का ऐसा पवित्र वर्णन किया है, जो सबके सामने वेखटके पढा जा सकता है। इस तरह उनके काव्य लोक-सग्रह की भावनाओ से भरे पड़े है। यदि ये विचार जनता की हृदय-स्थली से पयान कर जाते हैं, तो निश्चय ही उनमे विशृङ्खलता आ जाती है। इस तरह जनता का ध्यान लौकिक कर्तव्यो की ओर मोड़कर ये उसे कल्याण-पथ की ओर लाए।

प्राचीन भक्ति-मार्ग के अन्दर भी तुलसी के समय में काफी बुराई आ गई थी। शैवों तथा वैष्णवो के वीच काफी विद्वेष फैल चुका था तथा दक्षिण भारत मे यह काफी जोर पकड चुका था। पर तुलसी ने सामजस्य और व्यवस्था को स्थापित करके इसकी विलकुल समाप्ति ही कर दी। उन्होंने कवीर आदि सन्तो द्वारा प्रचलित सकीर्णता को दूर करके परम उदारता का पाठ पढाया तथा हिन्दुओ के सव देवताओ और रीति-नीति को अपना-कर उपास्य देव के नाम पर होने वाले झगड़ो का अन्त कर दिया। 'शिव' उनके लिए उतने ही पूज्य है जितने 'राम'। इस प्रकार भक्त के मन से विलकुल भेद-भाव को दूर रखते हुए ही आपने जन-साधारण को शुद्ध भग-वद्भक्ति का उपदेश दिया है। आप कहते है—

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन नाहीं॥
सिव समान मोहि प्रिय न दूजा।
सिव द्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न भावा॥

उन्होने राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश आदि प्रभु के नाना रूपो में समान विश्वास तथा आस्था प्रकट कर तात्त्विक दृष्टि से शकराचार्य के

अद्वैतवाद को स्वीकार करते हुए विशिष्टाद्वैत को हीं व्यावहारिक रूप मे स्वीकार किया। अत. उनमे दार्शनिक उदारता का भी हम पूर्ण आभास पाते हैं। भक्ति के चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर भी आपने लोकपक्ष का पूर्ण विधान रखा। साधु-सन्त की सगति, बुरे पक्षो की विषमता इत्यादि की पहचान को देखकर यही ज्ञात होता है कि आपने ससार को भी आँखें खोलकर देखा था। जिस सृष्टि के कण-कण मे उन्होंने परब्रह्म राम की सत्ता को विद्यमान पाया है, उसके अनेकरूपात्मक स्वरूप को भी उन्होने पूर्णरूपेण पहचाना है। सन्त-समाज का जो लम्बा रूपक मानस की प्रस्तावना मे स्थित है इसी बात का द्योतक है—

मुद मंगलमय सन्त समाजू। ज्यों जग जंगम तीरथ राजू॥
राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा॥

पर इसके साथ ही लोक-पक्ष की भावना से प्रेरित होकर आपने इसी प्रस्तावना के अन्दर दुष्टों की भी वन्दना की है—

बहुरि बन्दि खल गन सत भाये। जे बिनु काज दाहिने बाये॥
परहित हानि लाभ जिन केरे। उजरे हर्ष विसाद बसेरे॥

और इस सृष्टि को सम तथा विषम मानकर अपने मन का भी समाधान कर दिया है—

जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हस गुन गहहि पय, परिहरि वारि विकार॥

इन्होने विशिष्टाद्वैत का ही प्रतिपादन किया है तथा जगत् को सियारामभय कहा है—

सियाराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥
गिरा अर्थ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
वदौं सीता राम पद, जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

सीता प्रकृति-स्वरूपा तथा राम परब्रह्म है। यद्यपि तुलसी के राम विष्णु के अवतार है पर वे लोक-रजन तथा लोक-रक्षक रूप में ही। कबीर की भाँति वे रहस्यवादी नही, प्रत्युत् मानव-रूप में होते हुए भी विश्व-

व्यापी हैं। साथ ही निष्काम कर्म की ओर उत्तरोत्तर क्षीण होती हुई हमारी प्रवृत्ति को साहस प्रदान करके उसकी ओर उन्होने हमारा ध्यान विशेषरूपेण आकर्षित किया और इस तरह कर्म-मार्ग का प्रतिपादन किया है——

कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा।

पर इसके साथ ही वह यह भी कहते है——

विधि कर लिखा को मेटन हारा।

तथा

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिहँसि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभ जीवन मरन, यश-अपयश विधि हाथ।।

तप और त्याग के स्थान पर समाज मे फैलती हुई विलासप्रियता का भी इन्होने घोर विरोध किया और इसी भावना को लेकर इन्होने कृष्ण के लिए यह कहा था——

कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण लेहु हाथ।।

इस तरह उन्होंने धनुष-बाण लेकर कर्मवीर होने की ही बात कही है। हिन्दू तथा मुसलमान दोनो के सम्मिश्रण से विमनस्क हुए समाज को वर्णाश्रम धर्म की दीक्षा देते हुए आपने उसको ऐक्य के आदर्श की ओर मोड़ दिया। रामायण मे भ्रातृ-भक्ति, पति-पत्नी का कर्तव्य, सेवक-स्वामी-सम्बन्ध तथा राजनीति आदि का चित्रण मनन करने योग्य है। कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान तुलसी मे बहुत अधिक है और इन स्थानों के वर्णनो को इन्होने अपनी अपूर्व लेखनी द्वारा सम्यक्रूपेण व्यक्त किया है। ये वर्णन मनुष्य-मात्र के हृदय पर अमिट छाप करने वाले हैं तथा इनका एक स्थायी प्रभाव हमारे अन्तस्तल पर पड़ता है। इनमे फुलवारी-वर्णन, राम-वन-गमन, दशरथ-मरण, भरत की आत्मग्लानि इत्यादि प्रमुख हैं। साथ ही रचना-कौशल, प्रबन्ध-पटुता तथा वर्णन करने की अपूर्व शैली का 'रामचरितमानस' में समावेश है। अयोध्या-वर्णन, बाललीला-वर्णन इत्यादि

इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। प्रबन्ध-काव्य के अवयवो का समीकरण, कथा इत्यादि के मार्मिक स्थलो की पहचान, प्रसंगानुकूल भाषा, रसो की शिष्ट मर्यादा तथा लोकपक्ष एव आदर्श के विद्यमान होने से ही उनका रामचरित-मानस एक उच्च कोटि का प्रवन्ध-काव्य हुआ है।

'कवितावली' मे व्रजभाषा का यथेष्ट पुट है। इसमें भी भाषा का मधुर प्रवाह, भावानुभावो की व्यंजना तथा हास्य-रस के साथ वीर-रस का प्रभाव दर्शनीय है। इसमे कवित्त तथा सवैया का ही अधिक व्यवहार किया गया है और इसमे वर्णित अग्निकाण्ड का चित्रण पूर्ण सजीव है। तुलसी-दासजी ने अपने आराध्य तथा इष्टदेव राम का गुणगान करते हुए तथा जीवन मे इस तरह शान्ति प्राप्त करके अन्त मे उनके ही अन्दर अपनी सत्ता को खो दिया, और इसी उद्देश्य की पूर्ति मे अपनी 'विनय-पत्रिका' की रचना की। इसमे सरस तथा गेय पद हैं तथा यह उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। इस तरह जीवन और साहित्य, भाव और भाषा तथा सभी दृष्टि से तुलसी हिन्दी तथा भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ कवि हैं। इनकी रचनाओ मे उपदेशो की भरमार है। अलंकार जबरदस्ती नही लाये गए है, वल्कि वे स्वयं विद्य-मान है। उन्होने सभी अलंकारो मे कुशलता दिखाई, पर रूपक तथा उपमा इत्यादि विशेषरूपेण प्रशसनीय हैं। सांगरूपक वाँधने मे ये अद्वितीय है।

गोस्वामीजी की रचना सर्वांगपूर्ण तथा काव्य-कुशलता से ओत-प्रोत है। इनके और ग्रन्थ भी उत्तम कोटि के है। आपने पात्रो के चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक दृष्टि को ही अपनाया है, पर रचना की निपुणता में भद्दा-पन रंचमात्र भी नही पाते हैं तथा यह शव्द खिलवाड़ के जाल से भी कोसो दूर है। प्रकृति-वर्णन भी हिन्दी मे उनका वेजोड है। इन्होने जाति, धर्म तथा सस्कृति तीनो को अक्षुण्ण रखने का भरसक प्रयत्न किया है और वरा-वर इसकी रक्षा मे ही सलग्न रहे हैं। ऐसी भाषा का प्रयोग इन्होने किया है जो भावो तथा विचारो को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर सकी है। शब्दो के मरोड़ इत्यादि का इसमें नितान्त अभाव है तथा यह मानसिक वृत्तियो से युक्त आत्मा के स्वच्छ प्रवाह को लेकर ही चली है। इतना सव होते हुए

भी इनकी रचना सर्वत्र मर्यादा के अन्दर ही है। इनके द्वारा हिन्दी की सर्वतोन्मुखी उन्नति हुई तथा हिन्दी-साहित्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था।

हम यह स्पष्ट कह सकते है कि "हिन्दी-कविता के कीर्ति-मन्दिर में गोस्वामीजी का स्थान सबसे ऊँचा और विशिष्ट है।"

साहित्य का विकास, प्राय: ऐसा देखा गया है कि एक क्रम के अनुसार ही होता है। राम-भक्ति शाखा, जिसने श्री रामानुजाचार्य द्वारा एक निर्दिष्ट मार्ग का आश्रय लिया, तुलसी द्वारा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई और यही उसका पूर्ण विकसित रूप था। राम-भक्ति-शाखा का वृक्ष, जो तुलसी के पूर्ववर्ती कवियो के समय में ही फूलो से युक्त हो गया था, अब फलाच्छादित भी हो गया, पर तुलसी के पश्चात् इस वृक्ष की डालियाँ कुछ कमजोर-सी होती नजर आई और वह क्रमिक विकास कुछ रुकता-सा दृष्टिगोचर हुआ, जिसका प्रारम्भ तुलसी के पहले से ही हुआ था। यह विकास अब ह्रास की ओर ही उन्मुख हुआ। कविता के क्षेत्र मे राम-भक्ति धारा प्राय..क्षीणतर ही होती चली गई और इसके अन्दर साम्प्रदायिकता का भी पर्याप्त मात्रा मे सन्निवेश हो गया। यह सम्प्रदाय तुलसी के काव्य-प्रचार मे जुट गया, पर इसके काव्य तथा साहित्य के विकास मे एक प्रकार की वाधा ही उपस्थित हुई।

रामानन्द जी की शिष्य-परम्परा मे ही सवत् १६३२ के लगभग कृष्ण-दास जी पयहारी के शिष्य अग्रदासजी हुए, जिनकी कृतियो मे 'हितोपदेश उपखाणां वावनी', 'ध्यान-मजरी', 'रामध्यान-मंजरी' तथा 'कुण्डलियाँ' इन्ही चार पुस्तको का पता है। ये तुलसीदासजी के समकालीन ही थे। इनकी कविता की शैली कृष्ण-भक्ति-शाखा के प्रसिद्ध कवि नन्ददास से मिलती-जुलती है।

कुण्डल-ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा।
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा।।

अग्रदास तुलसीदास के उपरान्त राम-भक्ति को लक्ष्य कर जो रसिक

परम्परा चली उसके प्रारम्भिक एवं प्रतिनिधि कवि हैं। इन्होंने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की अपेक्षा कृष्ण-काव्य की अनुकृति मे उनके मधुर रूप की उपासना को ही श्रेयस्कर समझा। 'ध्यान मजरी' की पदावली से आपकी माधुर्यमयी राम-भक्ति का पता चलता है। सम्पूर्ण काव्य-ग्रन्थ मे कुल अस्सी पद हैं जो राम, सीता और उनके पार्षदों के ध्यानादि को लक्ष्य करके लिखे गए हैं। राम के निवास स्थान और वहाँ के रहने वाले उनके स्वजनों का विस्तृत वर्णन कवि ने किया है। अवधपुरी से बहने वाली सरयू का मनोरम वर्णन बड़ी विशदता एवं रसमयता से कवि ने किया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से राम और सीता युगल सरकार का ध्यान इन कवियो का इष्ट वर्ण-विषय रहा।

यह दम्पति वर ध्यान रसिक जन नित प्रति ध्यावैं।
रसिक बिना यह ध्यान और सपनेहुँ नहि पावैं॥

सीता का ध्यान करते हुए इन कवियो ने उन्हे शृगार के सारे साधनो से सयुक्त चित्रित किया है। कविवर अग्रदास ने भी सीता के रूप-लावण्य की चर्चा करने के उपरान्त उन्हें शृगारिक सम्भारों से परिपूरित चित्रित किया है।

बर अंगद छबि देति बाहु अस लगति सुहाई।
करन चुरी रंग भरी ललित मंदरी बनि आई॥
पद्म राग मणि नील जटित युग कंकण राजैं।
मनहुं बनज के फूल दुरे फनि पंक्ति विराजैं॥
लहँगा कटि परदेस भाँति अति शोभित गहरी।
अरुण असित सित पीत मध्य नाना रंग लहरी॥
हरित नगन कर जरित युगल जेहरि अस राजैं।
तिन पर घुंघरु और अग्र बिछिया सुविराजैं।

इन्ही के शिष्य प्रसिद्ध भक्त कवि हुए नाभादास जिन्होंने 'भक्तमाल' की रचना की। यह संवत् १६५७ के लगभग विद्यमान थे। 'भक्तमाल' मे इन्होने २०० भक्तो के चरित्र ३१६ छप्पयो मे गाये है, पर जीवनवृत्त न

देकर केवल भक्ति की महिमा ही दी हुई है। इससे उत्तर भारत के समाज के अन्दर साधुओ को विशेष आदर प्राप्त हुआ तथा जनता भक्ति की महिमा देखकर भक्ति की ओर आकृष्ट हुई। इस पर सवत् १७६९ में प्रियादास जी ने प्रसिद्ध टीका लिखी। इनको कुछ लोग डोम बतलाते है तथा कुछ लोग क्षत्रिय। ये गोस्वामी जी के प्रसिद्ध मित्र कहे जाते हैं और इनकी ऐसी प्रसिद्धि थी कि इन्ही से भेट करने के लिए गोस्वामी जी ने वृन्दावन की यात्रा की थी। तुलसी के विषय मे इन्होने लिखा है—

संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियौ।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीकि तुलसी भयौ ॥

ब्रजभापा पर इनका अच्छा अधिकार था। भक्तमाल के अतिरिक्त इन्होने दो 'अष्टयाम' भी लिखे—एक ब्रजभाषा गद्य मे, दूसरा रामचरित-मानस की शैली पर दोहा और चौपाइयो मे—

उदाहरण गद्य—तब श्री महाराजकुमार प्रथम श्री वसिष्ठ महाराज के चरन छुई प्रनाम करते भये।

अवधपुरी की सोभा जैसी। कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति तैसी ॥
रचित कोट कलधौत सुहावन। विविध रंग मति अति मन भावन ॥
परिखा प्रति चहुँ दिसि लसति, कंचन कोट प्रकास।
विविध भाँति नग जगमगत, प्रति गोपुर पुर पास ॥

'भक्तमाल' मे हमे सच्ची सहृदयता तथा गुणग्राहकता के दर्शन होते हैं, और इसमे इन्होने साम्प्रदायिक विभेद परित्यक्त करके अनेक महात्माओं की रचना तथा भक्ति के विषय मे लिखा है और सूत्र-शैली का अनुकरण करके कवि की प्रत्येक विशेषता का दिग्दर्शन कराया है।

अपने गुरु अग्रदास की भाँति ही नाभादास ने भी 'रामाष्टयाम' की रचना की थी जिसमे सीता की सखी-रूप में राम की रसिक-उपासना की गई है। इन्होंने राम का अन्त पुर मे—सखियों से सेवित एवं केलि तथा शयनरत रसिक रूप चित्रित किया है। शृङ्गार से ओत-प्रोत राम का जीवन नाभादास ने व्रजभापा काव्य-परम्परा मे दोहे-चौपाई की शैली मे ही चित्रित

किया है। राम-महल के अन्तःपुर का, जहाँ सीता का निवास है, मनहर एवं रसमय वर्णन कवि ने किया है।

पुनि तहँ ते षोडस सहचरी। गाइ उठीं प्रीतन रंग भरी॥
तिनते अलिनव अपर सुहाई। निज-निज थल गावत छवि छाई॥
अंतःपुर जहँ सियपिय राजै। शोभा कहत शेष श्रुति लाजै॥
रतन जड़ित पर्यंक सुहावा। स्वर्ण रतन मणि खचित सुपावा॥
विविध विचित्र चित्र रंग राजै। निरखन अलिवल सहित समाजै॥
अति उपमा अद्भुत छवि छाये। श्रुति संहिता पुराणन गाये॥
तेहि ऊपर अति ललित बिछौना। क्षीर फेन सम कोमल लोना॥
तेहि ऊपर सुमनन की शोभा। कहन न बनै देखि मन लोभा॥

नाभादास तुलसीदास के उपरान्त उनके समकालीन कवियो मे एक प्रसिद्ध कवि है। इनकी ख्याति का आधार ऊपर निर्दिष्ट भक्तमाल है जो वैष्णव-भक्ति-धारा से सम्बद्ध व्यक्तियो और विचारों का प्रतिपादन करने वाला अनूठा ग्रन्थ है। उनके रामाष्टयाम की मधुर भक्ति-शाखा मे तो अभूतपूर्व महत्ता है ही इसके अतिरिक्त उसका काव्यशास्त्रीय महत्व भी अक्षुण्ण है। यह समस्त काव्य विविध अलकारो, रसो के लिए प्रचुर अध्ययना-सामग्री प्रस्तुत करता है।

रामचरित को लेकर संस्कृत मे नाटको की रचना हुई, जिनमे कुछ नाटक तो साहित्य के नियमानुसार लिखे गए और कुछ का नामकरण केवल सवाद-रूप मे ही होने के कारण नाटक हुआ। प्राणचन्द चौहान ने इसी शैली का अनुकरण करके सवत् १६६७ मे 'रामायण महानाटक' लिखा। इस तरह इस शैली से प्रभावित होकर नाटकों की भी रचना हुई—

कातिक मास पच्छ उजियारा। तीरथ पुण्य सोम कर वारा।
ता दिन कथा कीन्ह अनुमाना। शाह सलेम दिलीपति थाना॥
सवत् सोरह सै सत साठा। पुण्य प्रगास पाप भय नाठा॥

इसी शैली का आश्रय लेकर हृदयराम ने सवत् १६८० मे संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के आधार पर 'भाषा हनुमन्नाटक' की रचना की। इनकी

कविता अनुपम तथा परिमार्जित है। यद्यपि ये दोनो नाटक रंगशाला के लिए उपयुक्त नही हैं और केवल सवाद-रूप मे होने से ही इनको नाटक की सज्ञा प्रदान की गई है। इससे पहले तुलसी ने यद्यपि अपने समय की प्रचलित सभी शैलियों पर अपनी अद्भुत लेखनी उठाकर राम-गाथा से हिन्दी-साहित्य को भर दिया था, पर नाटक अथवा रूपक के ढग पर उन्होने कोई रचना नही की। इस तरह राम-भक्ति-शाखा मे दृश्य-काव्य की शैली का अभाव था। इसे प्राणचन्द चौहान तथा हृदयराम ने पूरा किया। हृदयरामजी पंजाव के रहने वाले थे। इनका 'हनुमन्नाटक' कवित्त तथा सवैयों की प्रौढ तथा प्रसिद्ध रचना है। इनके कुछ कवित्त तथा सवैये उदाहरण-स्वरूप नीचे दिये जाते हैं—

देखन जौं पाऊँ तौ पठाऊँ जमलोक, हाथ
दूजो न लगाऊँ, वार करौं एक कर को।
मीजि मारौं उर ते उखारि भुजदण्ड, हाड़
तोरि डारौं बर अविलोकि रघुबर को॥
कासो राग द्विज को, रिसात भहरात राम,
अति थहरात गात लागत है धर को।
सीता को सन्ताप मेटि प्रगट प्रताप कीनो
को है वह आप चाप तोर्‍यो जिन हर को॥

एहो हनू! कह्यौ श्री रघुवीर कछू सुधि है सिय की छिति माँही।
है प्रभु लंक कलंक बिना सुबसै तहँ रावन बाग की छाँही॥
जीवति है? कहिबेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमते बिछुराहीं?
प्रान बसै पद पंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं॥

इस तरह राम-भक्ति के अन्तर्गत हनुमान् की उपासना भी चल पड़ी। स्वयं गोस्वामीजी ने हनुमान की स्तुति मे कई पद गाये है, और 'हनुमान-वाहुक' की रचना की है। भक्ति-मार्ग मे किसी पहुँचे हुए भक्त की ओर भक्त-वर्ग का विशेष आकर्षण होता है और इसी से हनुमान-भक्ति का भी राम-भक्ति-शाखा मे आविर्भाव हुआ। गोस्वामीजी के पश्चात् अनेक

लोगो ने रामायणे लिखी, पर तुलसी के 'रामचरितमानस' के सामने वे फीकी साबित हुई और ठहर न सकी। केशव को कुछ लोग राम-भक्ति के अन्तर्गत ही मानते है, पर इनकी रचना भक्ति से ओत-प्रोत बिलकुल नही है, अत. इन्हे राम-भक्ति के अन्तर्गत नही रखा जा सकता।

राम-भक्ति-शाखा के कवियो ने मुक्तक का आश्रय न लेकर प्रबन्ध को ही अधिक अपनाया और सब प्रकार की रचना-पद्धतियो को अपनाकर हिन्दी-साहित्य के अंगो की पूर्ति की। भक्ति का पूर्ण विकास राम-भक्ति-शाखा द्वारा ही हुआ और इन्होने श्रद्धा तथा प्रेम दोनो को भक्ति के लिए ग्रहण किया। कृष्ण-भक्ति शाखा के कवि केवल प्रेम को ही लेकर चले थे, अतः भक्ति-मार्ग में विलासिता तथा इन्द्रियासक्ति आदि ने प्रवेश किया। बाद मे कृष्ण-भक्ति का अवलम्बन लेकर अयोध्या के कुछ भक्तो ने इधर कुछ दिनों से 'पति-पत्नी' भाव की उपासना को जन्म दिया जिनमे राम-चरणदासजी ही प्रमुख थे। इनके नाम का दल 'स्वसुखी' हुआ, तथा ये शृंगार इत्यादि करके सीता को अपनी सपत्नी ही मानने लगे। राम के लिए भी रामलीला की कल्पना की गई। इसी शाखा का आश्रय लेकर जीवा-रामजी ने 'तत्सुखी शाखा' को चलाया जिसमे पति-पत्नी के स्थान पर 'सखी-भाव' की ही उपासना रखी गई। इस रसिक-पन्थ ने अयोध्या मे काफी प्रभाव जमा रखा है और ये राम की 'चितवन' इत्यादि की प्रशसा मे अनेक गीत गाया करते हैं।

जीवरामजी को पं० रामचन्द्र शुक्ल ने छपरा का निवासी बतलाया है। ये राम की मधुर उपासना मे 'तत्सुखी शाखा' के प्रतिष्ठापक थे। राम की शृंगार-रूप उपासना मे पति-पत्नी का रूप न ग्रहण कर उन्होने सखी-भाव को प्रधानता दी। उनके काव्य-ग्रन्थ के रूप में इनकी पदावली उपलब्ध होती है जिसमे सीताराम का प्रणय-व्यापार, विहार, रासकेलि, भूला इत्यादि चित्रित हैं। सैद्धान्तिक तथ्य सहित इनकी भक्ति-भावना या उपासना पद्धति का स्वरूप इनको इस पद मे मिलता है—

आजा पियरवा रसिक रघुनन्दन
रसिक राय रसिकन हिय चन्दन।
याहि कुंज मिलि रसिक रंगीली।
आनि जुरी विमलादि छबीली।
हमरो कुंज मग माहि रसीलो।
तनिक विलंवि सरस रस पीलो।
सुनि अलि वचन लाल मुसकाये।
मिलि तेहि संग लली ढिग आये।
याही में तत् सुख स्व सुख लखाओ।
जुगल प्रिया सेवा मन भायो।

जुगल प्रिया इनका साम्प्रदायिक उपनाम था। पद की अन्तिम पंक्तियों मे उन्होंने स्व सुखी और तत्सुखी शाखा की उपासना का वैशिष्ठ्य प्रदर्शित किया है। स्पष्ट है कि 'लाल' प्रियतमराज के प्रति इनका आकर्षण सखी-भाव का है—पत्नी-भाव का नही। हाँ, वे सखी-रूप में मिलकर 'लली' के ढिग आने की वात अवश्य अभिव्यक्त करते हैं।

इनकी भाषा मे पूर्वीपन की स्पष्ट छाप है। इनके पदो में भी हित हरि वंश के पदो के तुल्य मिठास है।

रसिक दोउ झूलत सरयू तीर।
रघुनन्दन औ जनक नंदिनी श्यामल गौर शरीर।
राजत छवि में रतन हिंडोरा तरुवर वोलत कीर॥

वालकृष्ण नायक वाल अली मधुरोपासक राम कवियो मे अग्रगण्य है। इनकी 'ध्यानमंजरी' का रचना-काल स० १७२६ वि० माना जाता है जिसकी अभिव्यक्ति इस रचना मे हुई है।

सभइ सै षर्डविश वरष मास फाल्गुनि।
शुक्ल पक्ष पंचमी अमर शुभवार लग्नपति।
तेहि अवसर यह 'ध्यान-मंजरी' प्रकट भई है।
परम सुमंगल करनि वरनि वर मोदमयी है।

'ध्यानमंजरी' का वर्ण्य-विषय अभिनव दम्पति के रूप मे सीताराम का ध्यान है। भगवान राम और उनकी वल्लभा के रूप-लावण्य-अलकृति आदि का सैद्धान्तिक दृष्टि से अनूठा वर्णन इस काव्य मे हुआ है। सैद्धान्तिक मान्यताओ को सरस काव्य के रूप मे प्रस्तुत करने के कारण इस काव्य का अक्षुण्ण साम्प्रदायिक महत्व है। राम के सौन्दर्य का वर्णन सरल एव सरस शैली मे अधिक विस्तार के साथ कवि ने किया है।

सुद्ध सच्चिदानन्द कन्द वर विग्रह जाको।
देही देह विभाग आहि सोनाहित ताको।
ताही तन की प्रभा ब्रह्म व्यापक जग जोहे।
घनीभूत जिमि तरति तेज सब तिमिर विपोहे।
श्रीमुख पर लिय झलक अलक असल में घुघरारे।
रहे घेरि नव कंज मधुप सौरभ मतवारे ॥

उनके दूसरे ग्रन्थ 'नेह प्रकाश' का रचना-काल स० १७४९ वि० माना जाता है। राम की वल्लभा सीता को शक्ति का स्रोत मानते हुए उनके दाम्पत्य-क्रीडा, नख-शिख एव सीता की सखियो की विभिन्न कोटियो का वर्णन किया गया है। सखी और दासी मे भेद की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कवि कहता है—

तुल्य वेश गुण रूप सखि न्यून किंकरी जानि।
गति बल धन सुख सबनि को एक मैथिली मानि।
दया दृष्टि सर्वोष्पृटी दउ सेवा जो जाहि।
भरी प्रेम आनन्द रस सखी करत सोताहि ॥

रामचरणदास राम-भक्ति-शाखा मे मधुर उपासना के प्रतिष्ठापको मे है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थो मे 'पचशतक', 'रस मालिका' 'अष्टयाम पूजा विधि' पर नया प्रकाश पडा है। इसके पूर्व साहित्यिक जगत का ध्यान इस ओर अधिक आकृष्ट नही हुआ था। इनकी अन्य रचनाओ को पडित रामचन्द्र शुक्ल ने उपेक्षा की दृष्टि से देखा था और उनका विचार था कि "रामचरणदासजी ने अपने मत की पुष्टि के लिए अनेक नवीन कल्पित

ग्रन्थो मे सर्वाधिक प्रसिद्ध है 'उभय प्रबोधक रामायण'। इस काव्य के सात काण्ड तुलसी के काण्डो से नितान्त भिन्न हैं। और इनका नामकरण भी मौलिक, साम्प्रदायिक एव स्पृहणीय है। ये सात काण्ड क्रमशः मूल-खण्ड, गुण-खण्ड, नाम-खण्ड, अयोध्या-खण्ड, विपिन-खण्ड, विहार-खण्ड, ज्ञान-खण्ड, शान्ति-खण्ड। विविध प्रकार के छन्दों का आश्रय ग्रहण कर कवि ने कथा का स्वारस्ययुक्त शैली मे निर्वाह किया है और कई नवीन मौलिक स्थापनाएँ भी की है। इनके काव्य वैशिष्ठ्य के विषय मे पडित भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र, माधव जो इस सम्प्रदाय से सम्बद्ध साहित्य के विशिष्ट अध्येता है, का अभिमत है कि "वनादास एक पहुँचे हुए सन्त थे यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट है और इनकी शैली बड़ी ही मनोहर एवं प्रभावमयी है। पाठक के मन को वह सहज ही गिरफ्तार कर लेती है। और कालरिज के 'ऐंसियंट मैरिनर' की भाँति पाठक पर कथा का जादू का-सा असर होता है।" वनादास की भक्ति का बाह्य आवरण चाहे दास्य-भक्ति का हो लेकिन उसके अन्तर मे मधुरोपासना का राग गुजरित है। फुलवाडी मे राम-सीता-मिलन की मन.स्थिति का चित्रण करते हुए कवि कहता है—

सिया राम हिय मध्य राम सिय के उर माहीं :
थप्यो पुष्ट तेहि काल तुष्ट आयो दोउ पाही।
नख-शिख देख तरु पउमय जनु मुकुरहि छाया।
तद दिन मानत तृप्त काल अति अलि लख पाया।
युक्ति वचन सखियन कहिये ऐहैं यहि बेर नित।
आजु ते प्रतिदिन नेम करि गिरिजा पूजिन लाय चित।

रामप्रियाशरण का 'सीतायन' जो सम्भवतः वि० सं० १७६० की रचना है राम-रसिकोपासना-साहित्य का आकर ग्रन्थ समझा जाता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे कुल सात काण्ड है—बाल काण्ड, मधुर काण्ड, जयमाल-काण्ड, रसमाल काण्ड, सुखमाल काण्ड, रमाल काण्ड एव चन्द्रिका काण्ड। इस काव्य में सीता-राम का परिणय तक का जीवन-चरित्र अधिक विस्तार से वर्णित है। सीता के अतिरिक्त जनक के भाइयों की कन्याओ, अर्थात्

उर्मिला, श्रुतिकीर्ति, माण्डवी आदि का वर्णन भी इस काव्य मे हुआ है। 'सीतायन' के रचयिता ने स्वतः अपने वारे मे भी इस काव्य मे कुछ कहा है जिस कथन से उसकी गुरु-परम्परा और सैद्धान्तिक विचारधारा पर प्रकाश पड़ता है।

प्रिया शरण गुरु भावना अरु निज भाव समेत।
युगल नासिका करि कहौं प्राप्ति भाव के हेत।
नेह कली आचार्य मम प्रेम लली मम रूप।
युगल सुनयना की सुता अद्भुत युगल स्वरूप।
वय सन्धिनि मधुराननी परम मनोहर अंग।
गौर वर्ण सिय कुञ्ज में रहत सदा सिय सग।
मधुर भावना युगल की अरु सिंगार रस रीति।
सो सब वर्णन करत हौं अति प्रसन्न अति प्रीति।

आगे के अपने वर्ण्य-विषय का सकेत करते हुए कवि ने कहा है—

द्वितीय मधुरता में कहब सीता जन्म प्रसग।
जवन हेतु जिहि दिन भयो शिशु चरित्र बहु रंग।
बहुरि तेहि दिन जन्म है उर्मिलादि सुकुमारि।
तिन सवको वर्णन करति सुन्दर चरित विचारि।

कवि ने सीता का वाल चरित दोहे-चौपाई मे रमणीय रूप से वर्णित किया है—

नखशिख मंजु मनोहरताई। कहि न जाइ अंगन रुचिराई।
विहरति महल सकल मन भावति। कवहूँ हँसि हँसि ताल बजावति।
कवहुँ परस्पर नाच नचावति। कवहुँ मधुर स्वर मंगल गावति।
कवहुँ परस्पर वचन उचारति। कवहुँ मुकुर लैं वदन निहारति।
लखि छवि मगन होइ पुनि जाहीं। मुकुर हाथ ते त्यागत नाहीं।
प्रतिविम्बहिं पूछत तुम को है। इतें कहां ते आनि वसो है॥

प्रेम सखी ने 'सीताराम नखशिख' की रचना सं० १७९१ वि० में की। कवि ने सीता का नख-शिख-वर्णन करते हुए उनके नितम्ब, उरोजादि का

उर्मिला, श्रुतिकीर्ति, माण्डवी आदि का वर्णन भी इस काव्य मे हुआ है। 'सीतायन' के रचयिता ने स्वत. अपने वारे मे भी इस काव्य मे कुछ कहा है जिस कथन से उसकी गुरु-परम्परा और सैद्धान्तिक विचारधारा पर प्रकाश पड़ता है।

प्रिया शरण गुरु भावना अरु निज भाव समेत।
युगल नासिका करि कहौं प्राप्ति भाव के हेत।
नेह कली आचार्य मम प्रेम लली मम रूप।
युगल सुनयना की सुता अद्भुत युगल स्वरूप।
वय सन्धिनि मधुराननी परम मनोहर अंग।
गौर वर्ण सिय कुञ्ज में रहत सदा सिय संग।
मधुर भावना युगल की अरु सिंगार रस रीति।
सो सब वर्णन करत हौं अति प्रसन्न अति प्रीति।

आगे के अपने वर्ण्य-विषय का संकेत करते हुए कवि ने कहा है—

द्वितीय मधुरता में कहब सीता जन्म प्रसंग।
जवन हेतु जिहि दिन भयो शिशु चरित्र बहु रंग।
बहुरि तेहि दिन जन्म है उर्मिलादि सुकुमारि।
तिन सबको वर्णन करति सुन्दर चरित विचारि।

कवि ने सीता का वाल चरित दोहे-चौपाई में रमणीय रूप से वर्णित किया है—

नखशिख मंजु मनोहरताई। कहि न जाइ अंगन रुचिराई।
विहरति महल सकल मन भावति। कवहूँ हँसि हँसि ताल बजावति।
कवहुँ परस्पर नाच नचावति। कवहुँ मधुर स्वर मंगल गावति।
कवहुँ परस्पर वचन उचारति। कवहुँ मुकुर लै वदन निहारति।
लखि छवि मगन होइ पुनि जाहीं। मुकुर हाथ ते त्यागत नाहीं।
प्रतिविम्बहि पूछत तुम को है। इतै कहाँ ते आनि वलो है॥

प्रेम सखी ने 'सीताराम नखशिख' की रचना स० १७६१ वि० मे की। कवि ने सीता का नख-शिख-वर्णन करते हुए उनके नितम्ब, उरोजादि का

वर्णन किया है। साथ ही सीता का प्रमोद, वन-विहार, सखियों के साथ विवि॰ प्रकार की क्रीड़ा तथा होली आदि का वर्णन किया है। साहित्यिक स्तर पर सुन्दर शब्दावली मे नख-शिख-वर्णन की परम्परा का चित्रमय रूप इस काव्य मे प्रस्तुत हुआ है। लीला की भावभूमि मे भी नाना प्रकार की भगिमाएँ है। सखियाँ राम को लहँगा-चोली पहना लेती है और सीता के समक्ष गौने से आयी हुई नव-वधू के रूप मे हाजिर करके हास-परिहास का वातावरण उपस्थित करती हैं। सीता और राम का प्रणय ही उस काव्य का वर्णनीय विषय है। काव्य की दृष्टि से इसमे अधिक उत्कृष्टता है—

प्रेम बसुधा से सिय अधर सुधा से बैन ललित सुधा से प्रिय अधिक सुधा से हैं।
सहज हँसो है अनखो हैं न कदापि होत बिंबा से अरुन हैं कमलमोद बासे हैं।
माधुरी अनूप जाने प्रीतम के मन नैन रहत निरजन जो पियत पियासे हैं।
देखि देखि प्रेम सखी वारने करत प्रान जनम अनेक के अखिल अघ नासे है।

× × ×

प्रेम सखी तरु सबै फूलन के भारन सो लता वेलि अरुझानी झुकि भूमि आई है।
विविध बहत बात सीतल सुगन्ध मंद कुहुँ कुहुँ बोलै कारी कोकिला सुहाई है।
अलिनी अलिन संग नलिनी निकुञ्जनि में मत्त मधुपान फिरै दशो दिशा छाई है।
जनक सुता के अंश भुज दीन्हे रघुनाथ तिन बन वीथिन में रमत सदाई है।

प्रेम सखी रसिक परम्परा के उत्कृष्ट कवि है। 'सीताराम-नखशिख' के अतिरिक्त इनके अन्य दो काव्य ग्रन्थो का उल्लेख भी मिलता है। 'होरे हन्दादि प्रवन्ध' की रचना इन्होने स० १७६० वि० मे ही की और दूसरा ग्रन्थ 'कवित्तादि प्रवन्ध' भी उसी समय का है। इन काव्यो का वर्ण्य विषय भी सीता-राम का नख-शिख-वर्णन एवं होलिकोत्सव के अवसर पर विविध प्रकार का क्रीडा-विलास है।

राम सखे रसिक भाव से रामोपासना करने वाले कवियो मे अपना विशिष्ट स्थान रखते है। श्री भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' ने हाल की खोजो के आधार-स्वरूप इनके द्वारा रचित ग्रन्थ क्रमश. 'जानकी नौ रत्न माणिक्य', 'राम सखे पदावली' एव 'नृत्य राघव मिलन' माने हैं। इनकी ख्याति का

आधार ग्रन्थ 'नृत्य राघव मिलन' है जिसमे इसका रचना-काल स० १८०४ निर्दिष्ट है।

सम्वत् अष्टादश चतुर शुक्ल मधुर मधु तीज।
भयो नित्य राघव मिलन उद्भव सब रस बीज।।

उनका यह काव्य साम्प्रदायिक दृष्टि से अभूतपूर्व महत्व रखता है। इसमे लीला विलास की वर्णना की अपेक्षा सैद्धान्तिक बातो का प्रतिपादन अधिक है, जिससे इस वर्ग के साधको को प्रेरणा मिलती रही है। भक्ति के रूप का विवेचन करते हुए साम्प्रदायिक दृष्टि से उसके जितने भी प्रकार और सम्भाव्य रूप हो सकते थे सबकी विवेचना उन्होने की। साथ ही रसिकों का लक्षण करते हुए उनके आचरण पर भी इस काव्य मे प्रकाश डाला गया है। रसिक वह है जो—

चित सन्तोष महाधन लीने। रघुवर की लीलइ अति भीने।
रसिक अनन्य न सोमि लिलोमै। उनके पगन धोइ मन छोमै।
जानि नात निज बारहि वारा। राम समान करौं उपचारा।
सखा सखी ह्वै भाव जु राखे। मधुर चरित राम के भाखे।

उनकी काव्य-भाषा अत्यन्त सरल एव हृदयग्राही है। अपनी पदावली में राम और सीता का होली खेलना सरलतम शब्दों मे रस सिक्त-रीति से कवि ने वर्णित किया—

प्यारे संग होली खेलत प्यारी।
बन प्रमोद रासमण्डल में रंग मच्यो अति भारी।।
डारैं सिया गुलाल पिया पर पिय छोड़ैं पिचकारी।
राम सखे लखि यह छवि उन पर प्राणन ते बलिहारी।।

राम और सीता की प्रेम-लीलाओ से कवि का हृदय साधना के स्तर पर ही सही सराबोर-सा लगता है।

स्वामी युगलानन्य शरण—इनका सम्बन्ध अयोध्या से था और ऐसा अनुभव किया जाता है कि रसिक भावना के इनके पदो ने उसे अधिक लोकप्रिय बनाया। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ क्रमश. 'उज्ज्वल उत्कंठा विलास',

'अर्थ पचक', 'श्री जानकी सनेह हुलास शतक', 'सन्त सुख प्रकाशिका पदावली', 'श्री सीता राम नाम परत्व पदावली' एवं 'श्री प्रेम परत्व प्रभा दोहावली' माने जाते है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उनके विषय मे कहा है कि "सखी-भाव को उपासना का खूब प्रचार लक्ष्मण फला (अयोध्या) के युगलानन्य शरण ने किया। रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह इन्हे बहुत मानते थे। इन्ही की सम्मति से इन्होने चित्रकूट मे 'प्रमोदवन' आदि कई स्थान बनवाये। चित्रकूट की भावना वृन्दावन के रूप से की गई और वहाँ के कुज भी व्रज-के से क्रीडा-कुंज माने गए।" 'उज्ज्वल उत्कंठा विलास' रसिक-समाज का बहुचर्चित ग्रन्थ है। इसका रचना काल सं० १९७२ वि० है। 'अर्थ पचक' मे क्रमश. जीव, ईश्वर, उपाय, फल एव विरोध का विवेचन किया गया है। 'श्री जानकी सनेह हुलास शतक' मे राधावल्लभीय सम्प्रदाय की भाँति राम से अधिक ध्यान, उनकी प्रिया सीता पर स्थिर किया गया है। 'सन्त सुख प्रकाशिका' मे राम के प्रति प्रणय-सयुता-भक्ति का निवेदन है। 'सीता राम नाम परत्व पदावली' एव 'श्री प्रेम परत्व प्रभा पदावली' मे क्रमश नाम-स्मरण और प्रेम का भक्ति के दृष्टिकोण से विवेचन है। अपने इष्टदेव के प्रति सूफियाना ढंग से प्रेम निवेदन इन्होने किया है।

केहि विधि बिरह बुझावों सखीरी केहि विधि प्रीतम दर्शन पावों।
शिथिल रहत अंग-अंग बिरह बस दरद भरी अकुलावों।
औचक उठि बेहोश दिवानी पिय पिय कहि बिलखावों।
कबहूँ अचानक हाथ हिये करि जीवन स्मृतक कहावों।

कृपानिवास रसिक-पथ के एक सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि है। प० रामचन्द्र शुक्ल का इनको और इनके अनुयायियो के विपय मे अभिमत है कि "ये लोग सीता-राम को युगल सरकार कहा करते हैं और अपना आचार्य 'कृपा निवास' नामक एक कल्पित व्यक्ति को बतलाते है, जिसके नाम पर एक 'कृपानिवास पदावली' स० १९०१ मे छपी (प्रिंटिग प्रेस लखनऊ)।" आगे चलकर वही पं० शुक्ल ने उनके अश्लील शृगार-वर्णन की चर्चा की है। रसिक-पथी-साहित्य के गवेपमणात्मक विद्वान पं० भुवनेश्वर मिश्र

'माधव' ने इस विषय में अपना मत प्रस्तुत करते हुए अपनी 'राम-भक्ति-साहित्य मे मधुर उपासना' पुस्तक मे लिखा है कि "रसिकोपासक कवियो में कृपा निवास जी विशिष्ट पद के अधिकारी है। उन्हे उतने हलके ढग से नही लिया जा सकता जिस ढंग से आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास मे लिया है। अपने निजी आग्रह (दुराग्रह ?) के कारण भी कभी-कभी उत्तम-से-उत्तम वस्तु कुरूप और अभद्र दीखती है। इसीलिए यह वैज्ञानिक एवं निष्पक्ष दृष्टि नही कही जा सकती। अस्तु, श्री कृपानिवास के पदों से स्पष्ट है कि वे इस रस-रहस्य के एक परम अनुभवी सत एवं सफल कवि है। भाषा वहुत ही सुथरी, भाव वडे ही सरस!"

कृपानिवास के नाम से ख्यात ग्रन्थो के आधार पर सचमुच ही उनका साहित्य उपेक्षणीय नही है। उनके नाम से उपलब्ध रचनाओ मे क्रमशः 'लगन पचीसी', 'अनन्य चितामणि', 'रामरसामृत सिधु', 'रास पद्धति', एव कृपा-निवास पदावली, का उल्लेख हुआ है। रसिक भावना से ओत-प्रोत उनके एक पद का रसास्वादन किया जा सकता है।

हरि बिन को जाने मेरे मन की।
आठ पहर मोहि कल न परत है प्यास बढ़ी दरसन की॥
लगन चोट लागी तन बल की हलकी चोटैं घनकी।
कृपानिवास श्रीराम रसिक अब सुधि लयै विरहन की॥

महाराज रघुराजसिंह ने वहुत से विषयों से सम्बद्ध काव्य-रचनाएँ की है। साथ ही इनके आश्रय मे वहुत से कवियो ने अनूठी काव्य-रचना भी की हैं। इनका प्रसिद्ध रामकाव्य 'रामाष्टयाम' है जिसमें युद्ध, आखेट और भक्ति-भावना का वर्णन है। इनकी काव्य-रचना पर यत्र-तत्र तुलसी-दासजी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इनकी भक्ति-भावना को दास्य-कोटि का माना जाता है। इनकी भाषा-शैली विषयानुकूल ओजपूर्ण वन पडी है। लंका-दहन के समय की अवस्था का वर्णन इसी कोटि का है—

अनल उदंड को प्रकाश नव खण्ड छायो,
ज्वाला चंड मानो ब्रह्माण्ड फेरे जाय जाय।

पुरी न लखात ज्वाल मालै दरसाति एक,
लोहित पयोधि भयो छाया एक छाय छाय।
देवता मुनीस सिद्ध चारण गन्धर्व जेते,
मानि महा प्रलै वेगि व्योम ओर धाय धाय।
देखि रामराय हेत दीन्ही लंक लाय सवै,
चाय भरे चले कपि राम यश गाय गाय ॥

श्री रघुराजसिंह जी द्वारा रचित 'रघुराज विलास' की चर्चा भी विद्वानो ने की है। यह ग्रथ राम-काव्य की रसिक उपासना से सम्वद्ध है और इसमे माधुर्य-भाव को प्रश्रय दिया गया है। काव्य के अन्तिम पृष्ठो मे विनय जो प्रेम पर आधारित है, से सम्वद्ध कुछ पद भी मिलते है। माधुर्य के सदर्भ मे आपने सरस पदो की रचना की है।

मेरो मन राम लला सों अटको।
अब तौ वरवस जाय मिलोंगी कोउ किते को हटको।
श्याम सरूप नैन रतनारे कुटिल अलक मुख लटको।
लखि रघुराजहि आजु लाजं को टूटि गयो री फटको ॥

परम भक्त बैजनाथ कुर्मी—एक अच्छे कवि, पण्डित एव साधक थे। उन्होने तुलसीदास के विभिन्न गन्थो पर व्याख्यात्मक शैली मे लिखा है। अध्यात्म रामायण पर भी इन्होने अपने विचार प्रकट किये है। इनको एक सफल कथावाचक के रूप मे भी लोक मे ख्याति मिली थी। इन्होने भी रसिक-भावना से अनुप्राणित हो अपने वहुविधि पद रचे है, जिनका प्रकाशन 'सीताराम सयोग पदावली' के नाम से हुआ है। इस काव्य मे राम और जानकी के जन्म पर मगल-वधाइयो के अतिरिक्त राम-कथा का सक्षिप्त सदर्भ मे वर्णन प्रस्तुत किया गया है। राम और सीता का सौन्दर्य वर्णन, युगल-विहार-वर्णन इनकी पदावली के विपय है। राम की लीला का वर्णन करते हुए भक्त कवि ने लिखा है—

देखु सखी छवि राम वने की।
कंचन मौर खौर चंदन सिर जगमग द्युति मणिमाल घने की।

पत्र जावक ककण कर राजत भूषण सकल सुदेश ठने की।
बैजनाथ कहि कौन सकै गनि मृदु कटि पर पटपीत तने की॥

महाराज रीवाँ नरेश विश्वनाथसिंह ने सं० १७९० वि० के आसपास आनन्द रघुनन्दन, सगीत रघुनन्दन, आनन्द रामायण, रामचन्द्र की सवारी और रामायण नामक रामभक्ति से सम्बन्वित काव्य लिखे है।

इनके अतिरिक्त तुलसी के परवर्ती वहुत से रसिक कवियो की रचनाओ का पता चला है जिन्होने राम-कथा को शृ गारिक वातावरण प्रदान किया है और उनकी भक्ति को माधुर्य भावना से सरावोर कर दिया है। अधिकाश कवि सखी सम्प्रदाय से सम्वद्ध हैं और साधना के पथ मे इन्होने अपने नामो के उपनाम भी सखी तुल्य ही चुने है। इनकी रचनाओ मे क्रमशः कृष्ण-भक्ति की मधुरता और शृ गारिकता का जोर दिखाई पडता है, जो मर्यादा पुरुषोत्तम राम की भक्ति के समक्ष अवश्य ही खटकने योग्य वस्तु है। लेकिन इस साधना से सम्वद्ध कवियो मे नवीनता का आग्रह होते हुए भी इनका साहित्यिक महत्व है और उसके मूल्यांकन की अपेक्षा है।

पिय हँसी रस रस कंचुकि खोलै।

इस तरह राम-भक्ति की परम्परा भी श्रद्धा तथा प्रेम के सामंजस्य को छोड़कर केवल प्रेम का आश्रय लेकर ही पतन की ओर उन्मुख हुई। जिस लोक-सग्रह-भावना तथा मर्यादा का अपूर्व विधान गोस्वामीजी ने किया था, उसने इस तरह इन दोनो का परित्याग कर दिया तथा समाज को विशृङ्खलता की ओर ले जाने का प्रयत्न करने लगी। इन्होने माधुर्य-भाव का आश्रय लिया और 'रहस्य' इत्यादि को अपनाकर भक्ति-मार्ग के वास्तविक रहस्य से दूर हो गए।

राम-भक्ति की परम्परा वरावर चलती गई और आधुनिक युग मे श्री रामचरित के प्रसगो को लेकर कई खण्ड-काव्यो की रचना हुई, जिनमे मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' तथा 'पचवटी' आदि और रामचरित उपाध्याय के 'रामचरित चिन्तामणि' आदि उल्लेखनीय हैं।

कृष्ण-भक्ति शाखा

यद्यपि कृष्ण की उपासना की उत्पत्ति ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी, पर बौद्ध-धर्म के विशेष प्रचार के कारण राम की उपासना की भाँति यह जोर न पकड़ सकी। हालाँकि महाभारत के प्रारम्भिक पर्वों में श्रीकृष्ण को अवतार-रूप मे स्वीकार नही किया गया था, पर गीता में, जो महाभारत के अन्तर्गत ही मानी जाती है, उनको ईश्वर की सम्पूर्ण कलाओं से युक्त मानव-अवतार माना गया, जो पृथ्वी का भार उतारने के लिए आये थे। साथ ही 'भागवत पुराण' के कारण कृष्ण-भक्ति का स्रोत वेग से वह निकला और कृष्ण-भक्ति ने एक निर्धारित मार्ग पकड़ लिया। आगे चलकर इस शाखा में भी अनेक सम्प्रदाय हो गए।

शकराचार्य जी ने निर्गुण रूप को ही ब्रह्म का वास्तविक रूप स्वीकार किया था तथा सगुण रूप को व्यावहारिक माया या मिथ्या-ज्ञान से युक्त ही माना था। अतः उनके अद्वैतवाद मे भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था। पर शकर के बाद जितने आचार्य हुए उन्होने शकर के मायावाद से अपना पिण्ड छुड़ाना प्रारम्भ किया और भक्ति को प्रमुख स्थान प्रदान किया। यद्यपि रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत से भक्ति-सम्प्रदाय को स्थिर करना प्रारम्भ किया, पर वह भी भक्ति-मार्ग के लिए उतना ठीक नही था और भागवत पुराण ने भक्ति के वास्तविक रूप को प्रकट किया। मध्वाचार्य जी, जो दक्षिण के रहने वाले थे तथा जिन्होंने शंकर मत का पूर्णरूपेण अध्ययन किया था, उसके ज्ञान-रूप के विरुद्ध हो गए और भागवत के सिद्धान्तों का समर्थन करके उन्होने भक्ति-मार्ग का निरूपण किया। इसी समय कृष्णोपासना मे राधा तथा गोपिकाओं का समावेश हुआ, जिसके प्रवर्त्तक निम्वार्काचार्य और विष्णुस्वामी आदि थे। इन्होने कृष्ण को परब्रह्म मानते हुए राधा और गोपिकाओ को उसी परब्रह्म कृष्ण का रूप स्वीकार किया। भक्ति द्वारा पृथक् सत्ता वाले जीव का भी ब्रह्म रूप होना इन्होने स्वीकार किया और इस तरह ये 'सायुज्य मुक्ति' के प्रवर्त्तक हुए। जयदेव

इन्ही के शिष्य थे, जिन्होने सस्कृत मे 'गीत-गोविन्द' की रचना करके अपूर्व भाषा का सौन्दर्य, मार्दव, माधुर्य तथा कोमलकान्त पदावली उपस्थित की। विद्यापति पर भी निम्बार्काचार्य की स्पष्ट छाप है। यद्यपि इनका वर्णन वीरगाथा-काल मे हो चुका है और वस्तुत. ये कृष्ण-भक्त न होकर शैव ही थे, पर अपनी भक्ति के प्रेमोद्गार को प्रकट करने के लिए गीत-गोविन्द के आधार पर राधा तथा कृष्ण को नायक तथा नायिका मानकर इन्होने अपने पदो तथा गेय गीतो की रचना की। इनका नख-शिख वर्णन वड़ा ही सजीव तथा मार्मिक है। विष्णुस्वामी मध्वाचार्यजी के शिष्य होते हुए भी शुद्धाद्वैत-वाद के मूल प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। आगे चलकर इन्ही के सिद्धान्तो को चैतन्य महाप्रभु तथा वल्लभाचार्य आदि ने स्वीकार किया।

चैतन्य ने मध्व सम्प्रदाय के सिद्धान्तो से प्रभावित होकर वाद मे निम्बार्क तथा विष्णुस्वामी के मत को ग्रहण करके तथा शाक्तों की उपासना से प्रभावित होकर कृष्ण तथा राधिका की उपासना को चलाया तथा कीर्तन-प्रणाली को जन्म दिया। ये वगाल मे वैष्णव-धर्म तथा राधाकृष्ण की उपासना के प्रमुख प्रवर्त्तक थे और कीर्तन करते-करते आत्मविभोर हो संज्ञाशून्य हो जाते थे। वृन्दावन मे इनके शिष्यो ने एक अलग 'गौडीय-सम्प्रदाय' स्थापित कर दिया तथा वल्लभ-सम्प्रदाय पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा।

इस समय देश की राजनीतिक परिस्थिति भी कुछ विचित्र ही थी। देश मे मुसलमानी साम्राज्य अच्छी तरह जम गया था और दक्षिण मे हिन्दुओ का टिमटिमाता सूर्य केवल विजयनगर राज्य अवशेष रह गया था। जनता मे इस्लाम के सस्कारों का प्रभाव प्रचुर मात्रा मे पड़ रहा था और सूफियो ने भी माधुर्योपासना का विशेप प्रचार किया था तथा चारो ओर इसकी धूम थी। निर्गुण-पन्थ वाले भी जनता का ध्यान वेद-शास्त्रो की मर्यादा से हटाने मे संलग्न थे। दक्षिण के वल्लभाचार्य जी ने, जो वैष्णव-धर्म के प्रधान प्रवर्त्तकों मे से थे, इस परिस्थिति का सम्यक् अध्ययन करके स्वामी शकराचार्य के अद्वैतवाद का, जिसमे केवल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म

की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की गई थी, खण्डन करते हुए ब्रह्म के साकार रूप का समर्थन किया तथा उसमे सब धर्मो का आरोप करते हुए सारी सृष्टि को ही लीलारूपेण ब्रह्म की आत्मकृति माना। माया को इन्होने कोई स्थान नही दिया तथा जगत् को मिथ्या नही माना। श्रीकृष्ण को ही इन्होंने परब्रह्म माना तथा उन्हे ही 'पुरुपोत्तम' की संज्ञा प्रदान की। भक्ति के प्रतिपादन के लिए महत्त्व की भावना मे निमग्न करने वाली 'श्रद्धा' का परित्याग करके इन्होने 'प्रेम-भावना' के महत्त्व को स्वीकार किया तथा इसमे लोक-मर्यादा तथा वेद-मर्यादा का पुट देते हुए उन्होने अपना 'पुष्टि-मार्ग' चलाया। उनका यह मत था कि सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप ब्रह्म अपने रूपों को इच्छानुसार कभी तो व्यक्त करता है और कभी अव्यक्त कर देता है। मायामय जगत् भी ब्रह्ममय है, क्योकि माया तो एक उसकी शक्तिमात्र है। जीव मे जब इन तीनो रूपो का आविर्भाव होता है तब वह अपने शुद्ध ब्रह्मस्वरूप मे आ जाता है। ऐसा ईश्वर की कृपा-मात्र से ही होता है। उसी से जीव को ऐसी पुष्टि मिलती है और इसकी प्राप्ति के लिए भक्तिमयी उपासना ही उपयुक्त है। यही 'पुष्टि-मार्ग' का सार है।

वल्लभाचार्य जी ने समस्त भारत का पर्यटन करके अपने मत का प्रचार किया तथा जीव को कृष्ण-रूपी परब्रह्म की लीलामयी सृष्टि मे प्रवेश करने का उपदेश दिया। अन्त मे आपने अपने आराध्यदेव कृष्ण की जन्मभूमि मथुरापुरी मे जाकर अपना आसन जमाया तथा गोवर्द्धन पर्वत पर कृष्ण का मन्दिर बनाकर भजनोपदेश करने लगे। इनकी रचित पुस्तकों 'पूर्व-मीमांसा-भाष्य', 'उत्तर-मीमासा-भाष्य' अथवा 'अणु-भाष्य', 'श्रीमद्-भागवत् की सूक्ष्म टीका', अथवा 'सुबोधिनी टीका', 'तत्त्व दीप निबन्ध' तथा सोलह छोटे-छोटे प्रकरण ग्रन्थ हैं।

वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित यह कृष्ण-भक्ति शाखा भगवान् के धर्म-स्वरूप तथा लोक-रक्षक और लोक-रंजन रूप को छोड़कर केवल मधुर स्वरूप तथा प्रेम-भावना को प्रधानता देकर ही चली, जिसमे कृष्ण की प्रेम-मयी मूर्ति की विशद व्यंजना की गई। समाज का प्रवाह किधर जा रहा है,

इसकी रंचमात्र भी परवाह न करके रसोन्मत्त तथा विषय-वासना की ओर आकर्षित करने वाली शृङ्गारमयी छटा की ही अभिव्यजना हुई। गोपी के साथ कुञ्जो में अठखेलियाँ करने वाले कृष्ण की प्रशंसा मे ही गीत गाये गए। इस शाखा के कवियो ने लोक-व्यवस्था, सामाजिक मर्यादा तथा पारिवारिक जीवन की उपेक्षा की। इन्होने कृष्ण के मधुर रूप को ही अपनाया तथा इसमें प्रवन्ध-काव्य के लिए आवश्यक जीवन की अनेकरूपता इत्यादि विद्यमान नही है। जीवन की जितनी विविधरूपता तथा सर्वाङ्गीणता कृष्ण के जीवन मे विद्यमान थी, उतनी सम्भवत. विश्व के अन्य किसी महापुरुष में न होगी। हिन्दी की इस शाखा के कवियो ने ऐसे महान् तथा व्यापक चरित-नायक को स्वीकार करके भी उनके इन गुणो से कुछ भी लाभ नही उठाया और अपने अनुसार उस व्यापक रूप को सकीर्णता के साँचे मे ढाल दिया। फलतः फुटकल तथा शृङ्गारी पदो की ही रचना हो पाई। अतः कृष्ण तुलसी के राम की भाँति सुशील, मर्यादा पुरुषोत्तम तथा सदाचार के रूप न वन सके, तथा हास-विलास की तरगों से परिपूर्ण होकर अनन्त सौन्दर्य के सागर-रूप कृष्ण महाभारत के कृष्ण की भाँति लोक-रक्षक तथा धर्म-सस्थापक न हो सके। अत. वल्लभ द्वारा प्रतिपादित इस शाखा मे भोग-विलास तथा राग ही प्रचुर मात्रा मे प्रविष्ट हुआ तथा मन्दिरो की प्रगसा 'केसर की चक्कियाँ चलै हैं' कहकर होने लगी। पर इन कवियों ने सगीत का सरस पुट देकर शेष पदो मे जो हिन्दी-साहित्य का प्रेम-सम्पन्न स्रोत वहाया, उसने मुरझाते हुए हिन्दू-जीवन को सरस और प्रफुल्लित वना दिया।

कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियो ने अपनी रचना के लिए व्रजभाषा को ही अपनाया। कोमलता की दृष्टि से संस्कृत तथा वँगला के पश्चात व्रजभापा का ही स्थान है। पर उस समय समाज मे प्रचलित तथा व्यवहृत विदेशी भापाओं के शब्द भी ग्रहण किये गए। इनके काव्य ने भावो की अपेक्षा लय या स्वरो के आरोहावरोह को प्रधानता प्रदान करके संगीत का रूप ग्रहण किया और इस तरह अर्थ की अपेक्षा नाद-सौन्दर्य के विशिष्ट होने से इस

साहित्य मे अनेकरूपता न आकर एकरूपता का ही अधिक समावेश रहा। इस साहित्य पर सूफियो की तन्मयता तथा उन्माद इत्यादि का भी प्रभाव पडा और इसके दर्शन हमे मतवाली मारा तथा चैतन्य महाप्रभु आदि मे होते है।

वल्लभ के सामने कृष्ण-भक्ति के अन्य छोटे-वड़े सम्प्रदाय न ठहर सके और इसके वेग मे विलीन हो गए। इनकी शिष्य-परम्परा का यह नियम है कि गुरु-पुत्र ही गद्दी का अधिकारी हो सकता है। इनके पुत्र तथा शिष्य श्री विट्ठलनाथजी ने अपने चार शिष्य चतुर्भुजदास, नन्ददास, गोविन्द स्वामी और छीतस्वामी तथा गुरु तथा पिता वल्लभाचार्यजा के चार शिष्य श्री सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास और कुम्भनदास, इन सवको लेकर प्रसिद्ध अष्टछाप की स्थापना की, जिसने कृष्ण-काव्य का एक सुन्दर महल रच दिया। राधावल्लभीय, गौडवैष्णवीय एव सखी आदि अन्य सम्प्रदायो के भक्त-कवियो ने भी अपने-अपने सम्प्रदायो की विशेषताओ के न्यूनाधिक रूप मे उक्त 'अष्टछाप' का अनुकरण किया और कृष्ण-काव्य को विषद रूप दे दिया। कृष्ण-काव्यकारो मे सूरदासजी सर्वाग्रगण्य है।

सूरदास—वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी तथा अपनी शाखा के प्रतिनिधि कवि तथा शृगार और वात्सल्य-वर्णन मे विशिष्ट सूरदासजी का जीवन-वृत्त भी अन्धकार के गर्त मे पड़ा है, तथा इनके जन्म इत्यादि के विषय मे अनेक मत प्रचलित है। इनका जीवन-वृत्त सम्भवतः वल्लभ के पौत्र गोकुलनाथ जी के समय मे लिखा हुआ 'चौरासी-वैष्णवो की वार्ता', 'भक्तमाल' तथा इनकी रचित पुस्तकें 'सूर-सारावली' तथा 'साहित्यलहरी' और इनकी शाखा मे प्रचलित परम्पराओ से प्राप्त होता है। यद्यपि परम्परानुसार इनका जन्म सवत् १५२९ माना जाता है, पर सूर-सारावली मे एक पद है—

गुरु प्रसाद होत यह दर्शन, सरसठि वरस प्रवीन।
शिव विधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन॥

इससे यही स्पष्ट प्रकट होता है कि सरसठ वर्ष की आयु मे सूर ने सूर-सारावली लिखी। साहित्य-लहरी मे इनके दृष्ट-कूट पदो का संग्रह भी है। इसमे संवत् १६०७ का उल्लेख मिलता है। इसका रचनाकाल सूर ने इस तरह दिया है—

मुनि सुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुबल संवत् प्रेख॥

अर्थात्, मुनि—७, रसन—०, रस—६, दसन गौरीनन्द—१, यानी संवत् १६०७, इस भाँति सवत् १६०७ विक्रमी में इन्होने 'साहित्य-लहरी' समाप्त की। सूर ने पहले 'सूरसागर' लिखा, उसके वाद 'सूर-सारावली' और अन्त मे 'साहित्य-लहरी' की रचना की। साहित्य-लहरी उन्होने सवत् १६०७ मे लिखी, जब वह सरसठ वर्ष के हो चुके थे। अतः इस अनुमान के आधार पर इनका जन्म-संवत् १५४० निश्चित किया जाता है। मृत्यु के विषय मे 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' से यही पता चलता है कि इनकी मृत्यु गोस्वामी विट्ठलनाथजी के सामने 'पारसोली' नामक गाँव मे हुई। विट्ठलनाथजी की मृत्यु सवत् १६४२ में हुई। यदि हम सूर की अवस्था का अन्दाज़ा यह लगाएं कि ये अस्सी या बियासी वर्प जीवित रहे होगे तो इनकी मृत्यु सवत् १६२० के आसपास ही पड़ती है। इनके जन्म-स्थान के विषय मे भी मतभेद ही है और यह 'रुनकता' अथवा 'सीही' माना जाता है। 'साहित्य-लहरी' के एक पद मे उनकी वश-परम्परा दी हुई है, जिसके अनुसार ये चन्द वरदाई के वंशज तथा ब्रह्मभट्ट ठहरते है। पर विद्वान् इस पद को बाद का जोडा हुआ मानते हैं। पर कुछ विचारक 'भक्तमाल' तथा 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' से प्रभावित होकर इन्हे सारस्वत ब्राह्मण रामदास का पुत्र मानते हैं। उक्त वार्ता से यह भी पता चलता है कि ये पहले गऊघाट पर एक वैरागी साधु के वेप मे रहा करते थे और वही पर सर्वप्रथम इन्हे आचार्य वल्लभ से भेट हुई थी तथा इन्होने अपना एक पद उन्हे गाकर सुनाया था। उनकी निपुणता तथा भक्ति से आचार्यजी अत्यधिक प्रभावित तथा प्रसन्न हुए और उन्हे भागवत का अनुवाद भापापदो मे

करने की आज्ञा दी और पूरनमल खत्री द्वारा निर्मित गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ मन्दिर मे कीर्तन करने का सेवा-भार दिया। यही से ये वल्लभ-सम्प्रदाय मे आये। तब से बराबर ये इसी मन्दिर की सेवा मे रहे। कुछ लोग इनका सम्बन्ध विल्वमगल वाली किंवदन्ती तथा अकबर से जोडते है, जो असगत-सी जान पडती है।

इनके विस्तृत ज्ञान तथा प्रकृति-निरीक्षण एव अपूर्व शृंगार तथा रूपादि का वर्णन विद्वन्मण्डली के समक्ष यही सिद्ध करने का सतत प्रयत्न करता है कि ये जन्मान्ध नही थे, हालाँकि प्रसिद्ध ऐसा ही है। ऐसा भी कहा जाता है कि ये जन्म से अन्धे थे तथा एक दिन कुएँ मे गिर पड़े थे। तब इनके आराध्यदेव श्रीकृष्ण ने इन्हे हाथ पकडकर बाहर निकाला था और उस समय इन्हे दृष्टि भी प्राप्त हो गई थी, पर इन्होने अपनी यही कामना प्रकट की कि जिन आँखो से इन्होने परमब्रह्म 'कृष्ण' का दर्शन किया वे आँखे इस ससरणशील ससार की कृत्रिम वस्तुओ का दर्शन न कर सके। ऐसा भी प्रसिद्ध है कि इनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैली हुई थी और तानसेन से भी इनकी भेट हुई थी और इनके विषय मे उन्होने कहा था—

किधौ सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बँधै सकल सरीर॥

इसका उत्तर इन्होने यह दिया था—

विधना अस जिय जानि कै, सेषहि दिये न कान।
धरा मेरु सब डोलतो, तानसेन की तान॥

इन्हे 'अष्टछाप' के प्रमुख कवियो में प्रधान स्थान दिया गया।

यद्यपि इनके द्वारा रचित पुस्तको मे 'सूरसागर', 'सूर-सारावली', 'साहित्य-लहरी', 'नल-दमयन्ती', 'पद सग्रह', 'नागलीला' इत्यादि बताई जाती है, पर प्रथम तीन तो निश्चित ही इनकी रचनाएँ है और दूसरी कृतियो के विषय मे मतभेद है। 'सूरसागर' ही इनकी प्रधान रचना है तथा ऐसी प्रसिद्धि है कि इसमे सवा लाख पद है, पर अभी तक पाँच हजार के

लगभग ही पद प्राप्त हो सके हैं। इनको विनय, वाललीला, रूप-माधुरी, मुरली-माधुरी तथा भ्रमरगीत इत्यादि मे बाँटा जाता है। ये 'श्रीमद्भागवत' का अविरल अनुवाद-मात्र नही है, प्रत्युत उसका केवल कथा के लिए आधार-मात्र लिया गया है और उसे कवि ने अपनी स्वतन्त्र भावना से निराले साँचे मे ढालकर अलकृत और सुसज्जित किया है। पहले नौ स्कन्धो का हम केवल चलता ही वर्णन पाते है, किन्तु दशम स्कन्ध की कथा विस्तार के साथ गायी गई है। इसमे कृष्ण-जन्म से प्रारम्भ करके मथुरा जाने तक की कथा अत्यन्त मनोहर पदो की धारा मे वहाई गई है। यह व्रजभाषा का सवसे महान् काव्य है तथा इसमे रस, रस का परिपाक तथा काव्य के शास्त्रीय गुणो का सन्निवेश जिस पूर्णता तक पहुँचा है, उसके सामने रीति-कालीन आचार्यों की शृ गार और वात्सल्य की उक्तियाँ फीकी लगती है।

सूर ने अपने समय की चलती हुई व्रजभापा को अपनाया। यद्यपि यह परिपक्व तथा साहित्यिक भापा है, फिर भी इसमे यत्र-तत्र मुहकम, मसकत, ताजी, कुलही तथा जहाज आदि विदेशी शब्दो का प्रयोग हुआ है। तव भी हम इसे विशुद्ध व्रजभाषा कह सकते हैं। कुछ थोडे से स्थलो को छोड़कर, जिनमे कवि की शव्द-चातुरी के कारण कठिनाई पैदा हो गई है, शेप भाग प्रसाद गुण-सम्पन्न, मधुर और सरस है। सगीत की लय और ध्वनि इसमे वरावर गूंजती रहती है। यद्यपि व्याकरण की अशुद्धियो का भी समावेश है, फिर भी सयत, परिष्कृत और स्वाभाविक भाषा का प्रवाह मन्द, मन्थर किन्तु गम्भीर गति का सूचक है, और जयदेव तथा विद्यापति की कोमल-कान्त पदावली का अनुसरण किया है। राधा और कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य मे निमग्न महाकवि की भापा भी जैसे उसी रस मे निमग्न हो उठी है। इनकी रचना मे अलकारों का भी समावेश प्रचुर मात्रा मे है तथा अनु-प्रास, श्लेष, यमक इत्यादि शव्दालंकार तथा उपमा, सांगरूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की भी कमी नही है। इन्होने गीत-शैली का ही अनुसरण किया है तथा विद्यापति की स्पष्ट छाप इनके ऊपर लक्षित होती है। विद्यापति के 'राधाकृष्ण-प्रेम'-सम्वन्धी गीतो मे नायिका-भेद,

करने की आज्ञा दी और पूरनमल खत्री द्वारा निर्मित गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ मन्दिर मे कीर्तन करने का सेवा-भार दिया। यही से ये वल्लभ-सम्प्रदाय मे आये। तब से बराबर ये इसी मन्दिर की सेवा मे रहे। कुछ लोग इनका सम्बन्ध बिल्वमगल वाली किंवदन्ती तथा अकबर से जोड़ते है, जो असगत-सी जान पडती है।

इनके विस्तृत ज्ञान तथा प्रकृति-निरीक्षण एव अपूर्व शृ गार तथा रूपादि का वर्णन विद्वन्मण्डली के समक्ष यही सिद्ध करने का सतत प्रयत्न करता है कि ये जन्मान्ध नही थे, हालाँकि प्रसिद्ध ऐसा ही है। ऐसा भी कहा जाता है कि ये जन्म से अन्धे थे तथा एक दिन कुएँ मे गिर पडे थे। तब इनके आराध्यदेव श्रीकृष्ण ने इन्हे हाथ पकडकर बाहर निकाला था और उस समय इन्हे दृष्टि भी प्राप्त हो गई थी, पर इन्होंने अपनी यही कामना प्रकट की कि जिन आँखो से इन्होने परमब्रह्म 'कृष्ण' का दर्शन किया वे आँखे इस ससरणशील ससार की कृत्रिम वस्तुओ का दर्शन न कर सके। ऐसा भी प्रसिद्ध है कि इनकी प्रसिद्धि चारो ओर फैली हुई थी और तानसेन से भी इनकी भेट हुई थी और इनके विषय मे उन्होने कहा था—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बँधं सकल सरीर॥

इसका उत्तर इन्होने यह दिया था—

विधना अस जिय जानि कै, सेषहिं दिये न कान।
धरा मेरु सब डोलतो, तानसेन की तान॥

इन्हे 'अष्टछाप' के प्रमुख कवियो मे प्रधान स्थान दिया गया।

यद्यपि इनके द्वारा रचित पुस्तको मे 'सूरसागर', 'सूर-सारावली', 'साहित्य-लहरी', 'नल-दमयन्ती', 'पद सग्रह', 'नागलीला' इत्यादि बताई जाती है, पर प्रथम तीन तो निश्चित ही इनकी रचनाएँ है और दूसरी कृतियो के विषय मे मतभेद है। 'सूरसागर' ही इनकी प्रधान रचना है तथा ऐसी प्रसिद्धि है कि इसमे सवा लाख पद हैं, पर अभी तक पाँच हजार के

लगभग ही पद प्राप्त हो सके है। इनको विनय, बाललीला, रूप-माधुरी, मुरली-माधुरी तथा भ्रमरगीत इत्यादि में बाँटा जाता है। ये 'श्रीमद्भागवत' का अविरल अनुवाद-मात्र नही है, प्रत्युत उसका केवल कथा के लिए आधार-मात्र लिया गया है और उसे कवि ने अपनी स्वतन्त्र भावना से निराले साँचे मे ढालकर अलकृत और सुसज्जित किया है। पहले नौ स्कन्धो का हम केवल चलता ही वर्णन पाते है, किन्तु दशम स्कन्ध की कथा विस्तार के साथ गायी गई है। इसमे कृष्ण-जन्म से प्रारम्भ करके मथुरा जाने तक की कथा अत्यन्त मनोहर पदो की धारा मे वहाई गई है। यह व्रजभाषा का सवसे महान् काव्य है तथा इसमे रस, रस का परिपाक तथा काव्य के शास्त्रीय गुणो का सन्निवेश जिस पूर्णता तक पहुँचा है, उसके सामने रीति-कालीन आचार्यों की शृगार और वात्सल्य की उक्तियाँ फीकी लगती है।

सूर ने अपने समय की चलती हुई व्रजभापा को अपनाया। यद्यपि यह परिपक्व तथा साहित्यिक भापा है, फिर भी इसमे यत्र-तत्र मुहकम, मसकत, ताजी, कुलही तथा जहाज आदि विदेशी शब्दो का प्रयोग हुआ है। तव भी हम इसे विशुद्ध व्रजभापा कह सकते हैं। कुछ थोडे से स्थलो को छोड़कर, जिनमे कवि की शब्द-चातुरी के कारण कठिनाई पैदा हो गई है, शेप भाग प्रसाद गुण-सम्पन्न, मधुर और सरस है। संगीत की लय और ध्वनि इसमे वरावर गूँजती रहती है। यद्यपि व्याकरण की अशुद्धियो का भी समावेश है, फिर भी संयत, परिष्कृत और स्वाभाविक भापा का प्रवाह मन्द, मन्थर किन्तु गम्भीर गति का सूचक है, और जयदेव तथा विद्यापति की कोमल-कान्त पदावली का अनुसरण किया है। राधा और कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य मे निमग्न महाकवि की भापा भी जैसे उसी रस मे निमग्न हो उठी है। इनकी रचना मे अलकारों का भी समावेश प्रचुर मात्रा मे है तथा अनु-प्रास, श्लेष, यमक इत्यादि शब्दालकार तथा उपमा, सांगरूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलकारो की भी कमी नही है। इन्होने गीत-शैली का ही अनुसरण किया है तथा विद्यापति की स्पष्ट छाप इनके ऊपर लक्षित होती है। विद्यापति के 'राधाकृष्ण-प्रेम'-सम्बन्धी गीतो में नायिका-भेद,

नखशिख-वर्णन तथा अभिसार आदि को ही प्रधानता प्रदान की गई है, पर सूर के गीत प्रेमपूर्ण होते हुए भी भक्ति की भव्य भावनाओ से भूषित हैं।

कृष्ण-भक्ति शाखा के कवि कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर चले थे। ये तो अपने ही रंग में रँगे थे। अत. सूर में भी तुलसी की भाँति अपूर्व लोक-भावना का समावेश न हो सका। साथ ही गीत और मुक्तक काव्य के योग्य इन्होने भी अपने आराध्यदेव कृष्ण की वाल-लीला तथा यौवन-लीला को ही अपनाया तथा शृ गार एवं वात्सल्य-वर्णन को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। इस तरह ये हिन्दी-गगन के सूर्य कहलाने के अधिकारी हुए, यद्यपि इनका काव्य-क्षेत्र इतना विस्तृत न हो पाया, जिसमें मानव-जीवन की प्रत्येक दशा का सन्निवेश हो सके, पर जीवन के जिस भाग को इन्होने अपनाया, उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन किया। इनका वाल-वर्णन बहुत ही वास्तविक है। लडको का मणि के खम्भो मे अपनी परछाईं देखना, मचलना, स्वाभाविक चेष्टाओ इत्यादि का वडा ही सजीव वर्णन है—

सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावति, डगमगाय धरै पैयाँ॥

तथा

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
कितिक बार मोहि दूध पियत भये यह अजहूँ है छोटी॥

वाल-वर्णन के समान ही शृंगार भी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। उसमे सयोग तथा वियोग दोनो का विस्तृत पुट है। श्रीकृष्ण के गोकुल तक रहने का वर्णन पूर्ण सयोग का है तथा इसमे चीर-हरण-लीला, माखन-लीला इत्यादि मुख्य है। इसके साथ-ही-साथ राधा तथा कृष्ण का रूप-वर्णन भी अद्वितीय है तथा इसके विषय मे अनेक पद कहे गए हैं और गोपियों के अतुलनीय प्रेम का भी वर्णन है। आँख, मुरली इत्यादि पर भी अनेक उक्तियाँ कही गई हैं। इस सम्बन्ध मे सूर ने वास्तविक स्वर्गलोक की स्थापना की है।

सयोग के पश्चात् वियोग-वर्णन भी अत्यन्त सुन्दर है। यह वर्णन कृष्ण के मथुरा चले जाने के वाद होता है। कृष्ण गोपियों को भूल जाते है और इधर गोपियाँ विरह मे व्याकुल हो जाती हैं। विरह की प्रत्येक दशा का मार्मिक चित्रण हम सूर की रचनाओ मे पाते है, यहाँ तक कि वृन्दावन की प्रकृति भी गोपियों के साथ विरहोन्मत्त हो उठी है। सूर का वियोग-वर्णन 'भ्रमरगीत' कहा जाता है, जो सूर-सागर का ही एक अश है। इसमे गोपियो के मुख से निर्गुण मत की नीरसता का प्रतिपादन करके सगुण को उससे श्रेष्ठ कहा गया है तथा निर्गुण के प्रतिपादक उद्धव को बिलकुल मूक-सा कर दिया गया है—

निर्गुण कौन देस को बासी
मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।

उद्धव के निर्गुण ब्रह्म से गोपियो को सगुण कष्ण ही अच्छे लगते है, अत श्रीकृष्ण के लोक-रक्षक रूप को ही इन्होने स्वीकार किया है।

सूर का गोपी-विरह-वर्णन-प्रसग अनुपम है। गोपियो का कृष्ण के प्रति अनुरागमय आकर्षण है और उनके विछोह से उनका हृदय व्याकुल हो उठा है। गोपियो के विरह से उनके आसपास का वातावरण भी प्रभावित हुआ है। गोपी-कृष्ण के अभाव मे सयोग समय की सुखद परिस्थितियाँ गोपियो के लिए घातक सिद्ध हो रही है—

बिनु गोपाल वैरिन भई कुंजै।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजै॥
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूलै अलि गुंजै।
पवन पानि घनसार सजीवन दधि सुत किरन भानु भई भुंजै॥
ए उधो कहियो माधव सो विरह करद कर मारत लुंजै।
सूरदास प्रभु कौ मग जोहत अँखियाँ भई बरत ज्यो गुंजै॥

सूर ने गोपियो की विरह-अवस्था मे प्रकृति को उनके प्रति सम्वेदनशील चित्रित किया है। लेकिन परम्परा के पोषण मे प्रकृति का उद्दीपन रूप मे चित्रण करते हुए प्रकृति को प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाला भी चित्रित

किया गया है। प्रियतम के वियोग मे काली-रात साँपिन तुल्य चित्रित की गई है और रात्रि मे छिटके हुए चन्द्रिका के उजाले को साँपिन के डसकर उलट जाने से उपमित किया गया है। विरह के क्षणो मे हरा-भरा वृन्दावन विरहिणी के लिए प्रतिकूल वातावरण तैयार कर रहा है अत वे उसके हरे वृक्ष पादपो को कोसती है।

मधुबन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग श्यामसुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे॥
तुम हो निलज लाज नहि तुमको फिर सिर पहुप धरे।
ससा स्यार औ बनके पखेरू धिकधिक सबन करे॥
कौन काज ठाढ़े रहे बन में काहे न उकठि परे।

इस प्रकार प्रकृति के विविध रूपो को अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो मे रखते हुए सूर ने गोपियो के विरह को अभिव्यजित किया है।

इस भाँति मनोविज्ञान के अनुसार हृदय के कोनो को सूर ने अछूता नही छोडा है। साथ ही इनका काव्य तात्कालिक परिस्थिति से भी अपूर्व प्रभावित है तथा समाज को ईश्वर का माधुर्य रूप दिखाकर अपने को उसमे डुबो देने का आदेश दिया गया है। यह अपने क्षेत्र मे बेजोड तथा अद्भुत प्रतिभा वाले कवि है। साथ ही भाषा की माधुरी भी इनकी कृतियो मे पूर्ण प्रतिष्ठित है। हिन्दी-काव्य इन्ही के प्रभाव से अमर हुआ। अत. चित्त-वृत्तियो के चातुर्यपूर्ण चित्रण, भक्ति की अनन्यता, काव्यानन्द की माधुरी, निर्मल भावो की अनवरत धारा, सरसता का अपूर्व प्रवाह तथा भाव-चित्रण की यथार्थता के कारण सूरदास हिन्दी-कविता के प्राण है एव कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रमुख कवि है। इन्ही की राधा-कृष्ण-सम्बन्धी भक्ति रीतिकालीन कवियो के शृगार-वर्णन की उत्तरदायी हुई।

सूरदास ने भक्ति के क्षेत्र में राधा और कृष्ण के प्रेम-प्रसग को ही अधिक वर्णति प्रदान की है। कृष्ण के अन्य रूपो की ओर उनकी दृष्टि आकृष्ट नही हुई। कृष्ण के बाल-सौन्दर्य और यौवन के प्रणय-व्यापारो का तो चित्रण सूर ने किया, लेकिन उनके लोक-रक्षक रूप की ओर ध्यान

नही गया। वर्णन की प्रवहमान धारा मे कही-कही कृष्ण के अलौकिक कर्मो का उल्लेख सूर ने किया है। उनका सम्पूर्ण कृष्ण-साहित्य भागवत की परम्परा से अनुप्राणित है।

वात्सल्य और सख्य-भाव की भक्ति के पूर्व सूर का ध्यान दास्य-भाव की भक्ति पर ही लगा था। अपने इष्टदेव के समक्ष दैन्य का सहज-चित्रण उनका उस वक्त तक अभीष्ट था। वस्तुत यही कारण है कि सूर ने अपने इष्टदेव के प्रति अपनी भक्ति निवेदित करते हुए अपने को नाना प्रकार की बुराइयो से भरा चित्रित किया है।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
तुम सौं कहाँ छिपी करुनामय सबके अन्तरयामी।
जो तन दियो ताहि बिसरायो ऐसो कनम हरामी।
भरि भरि द्रोह बिषै को धावत जैसे सूकर ग्रामी।

× × ×

पापी परम अधम अपराधी सब पतितन में नामी।
सूरदास प्रभु अधम उधारन सुनिए श्रीपति स्वामी।।

विनय की सारो पदावली मे यही दैन्य भावना दिखाई देती है जिसके प्रसिद्ध उदाहरण है—**'प्रभु सब पतितन कौ टीकौ'** एव **'हौं हरि सब पतितन को नायक।'** लोक प्रचलित है कि सूर की यह दैन्य-भावना महाप्रभु वल्लभाचार्य को अच्छी नही लगी और जिस भावना से भक्त ने तादात्म्य के सम्बन्ध स्थापित कर लिया है—उसके प्रति घिघियाने की कोई अपेक्षा उन्होने नही समझी तभी उन्होने सूर से कहा—

"है जो सूर ह्वै कें ऐसो घिघियात काहे को है ?"

नन्ददास—प्रायः सूरदासजी के समकालीन ही नन्ददासजी 'अष्टछाप' के कवि हुए, जिनका वर्णन दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता मे भी मिलता है। इन्होने गोस्वामी विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली थी। इनकी रचित पुस्तको मे 'रासपंचाध्यायी' और 'भ्रमरगीत' अत्यन्त प्रसिद्ध है, यद्यपि आपने 'भगवान दशम स्कन्ध', 'रुक्मिणी-मंगल', 'सिद्धान्त-पचाध्यायी', 'रूप-

मजरी', 'मान-मंजरी', 'विरह्-मजरी', 'नाममाला' इत्यादि अनेक ग्रन्थो की रचना की। इनका 'भ्रमरगीत' विरह्-वर्णन मे सर्वोत्कृष्ट है तथा निर्गुण का खण्डन करके सगुण ही की प्रतिष्ठा इसमे की गई है। इनके उद्धव मूक न होकर तार्किक है। इन्होने सूर भी भाँति चलती भाषा को न अपनाकर अनुप्रास तथा सस्कृत के वाक्य-विन्यासो से युक्त भाषा को ही ग्रहण किया है तथा इसमे माधुर्य, लालित्य और मार्दव पूर्णरूपेण विद्य-मान है। इनका हृदय वडा ही स्वच्छ, सरस तथा भावुक था, इसलिए रचना मे भी हम इसका सरस पुट पाते हैं। अत यह ठीक ही कहा गया है कि, 'सव कवि गढिया नन्ददास जड़िया।'

नन्ददास की ख्यति के आधार पर उनके दो ग्रथ है—'रास पचाध्यायी' और 'भ्रमरगीत'। उनके काव्यो मे उनकी रागात्मकता की अभिव्यक्ति हुई है। 'रास पचाध्यायी' मे रास का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण के सौन्दर्य और उसके प्रति आकर्षण की विविध मनस्थितियो का चित्रण है।

ताहीं छिन उडुराज उदित रस रास सहायक।
कुंकुम मण्डित वदन प्रिया जनु नागरि नायक।
कोमल किरन असन मानो बन व्यापि रही यो।
मनसिज खेल्यो फाग घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यो।

'भ्रमरगीत'-प्रसग पर नन्ददास ने स्वतन्त्र काव्य-सृष्टि की है। यह प्रसंग अपने विशिष्ट रूपो मे इनके पूर्व 'ब्रह्मवैवर्त पुराण', 'श्रीमद्भागवत' एवं 'सूर सागर' मे उपलब्ध होता है। नन्ददास के भ्रमरगीत काव्य की अपनी कुछ अभिनव विशेषता है। वह यह कि नन्ददास की गोपियाँ तर्क परायण है और वे उद्धव के उपदेशो का, जो निर्गुण ब्रह्म के इष्ट है, खण्डन करती है। उद्धव और गोपियो के सम्वाद को प्रश्नोत्तर-शैली के रूप मे रखकर नन्ददास ने गोपियो के हृदय की विदग्ध स्थिति का परिचय कराया है।

जो उनके गुन होय वेद की नेति बखानै।
निरगुन सगुन आतमा रुचि ऊपर सुख जानै।

वेद पुराननि खोजि के पायो कवहुँ न एक।
गुन ही के गुन होहि तुम कहौ अकासहि टेक।।
सुनौ ब्रजनागरी।

इस पर गोपियो का उत्तर है—

जो उनके गुन नाहि और गुन भए कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमै तुम कहौ कहाँ ते।
वा गुन की परछांइ री माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भए अमल वारि जल कीच।
सखा सुनु श्याम के।।

नन्ददास की गोपियो का कृष्ण के प्रति अनन्य अनुराग है और व उसके प्रेम मे तन्मय हैं—

सुनत श्याम कौ नाम ग्राम गृह की सुधि भूली।
भरि आनन्द रस हृदय प्रेम बेली द्रुम फूली।
पुलकि रोम सब अंग भये भरि आए जल नैन।
कण्ठ घुटे गद्‌गद् गिरा बोले जात न बैन।

परमानन्ददास का समय सम्भवतः सं० १५५० से १६४० वि० के आसपास का था। ये कन्नौज के ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे। वल्लभाचार्य जी द्वारा दीक्षित होने के पूर्व ये विरह भावना से ओत-प्रोत कीर्तन के पद रचा करते थे। इन पदो ने वल्लभाचार्य जी को भी अपनी ओर आकर्षित किया। उन्होने अष्टछाप मे इनको भी सम्मिलित किया और इनसे कृष्ण के वाल लीला के वर्णन करने को कहा। कवि परमानन्ददास ने सूर की वाल लीलाओ को और उनके प्रति गोपियो के प्रेमाकर्षण को सरस एव सरल शैली मे चित्रण किया है।

भाजि गयौ मेरौ भाजन फोरि।
कहा कहौं सन मात जसोदा अरु खायौ माखन सब चोरि।
लरिका सात पांच संग लीन्हे रोकै रहत गांव की खोरि।
मारग में कोउ चलन न पावत लेत दाहिनी हाथ मरोरि।

समुझि न परै है या ढोटा की रीति घोष गोरस टेटोरि।
आनन्द फिरत फागु सी खेलत तारी दै दै हँसत मुख मोरि।
को यह कुँवर कौन को ढोटा सब ब्रज बाँध्यो प्रेम की डोरि।
परमानन्ददास कौ ठाकुर लेत बलैया अंचर छोरि।

परमानन्ददास ने कृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन के अतिरिक्त उनके बाल पौगंड एव कैशोरावस्था की लीलाओ का भी चित्रण किया है। उनकी रचनाओ मे दास्य, सख्य, वात्सल्य एव माधुर्य भाव की भक्ति का स्वरूप दिखलाई पडता है। इनके पदो की सरसता के विपय में साम्प्रदायिक विश्वास है कि स्वत वल्लभाचार्य इनका एक पद सुनकर कई दिनो तक अपनी सुध-बुध खो बैठे थे। कई साम्प्रदायिक भक्त साधको की भाँति गोलोकवास के समय उन्होने भी अपना ध्यान राधा और कृष्ण की जुगल लीला के प्रति केन्द्रित कर रखा था।

राधे बैठी तिलक सँभारति।
मृगनैनी कुसुमायुध कर धरि नन्द सुवन को रूप विचारति॥

कुम्भनदास का जन्म व्रज प्रदेश के क्षत्रिय परिवार मे हुआ था और इनका समय स० १५२५ से १६३९ वि० के आसपास माना जाता है। ये कृषक जीवन व्यतीत करके अपने लम्बे परिवार का भरण-पोषण करते थे। इनका मत वैराग्य की ओर आकृष्ट था और सासारिक प्रलोभनो के प्रति इनकी कोई आसक्ति नही थी। इनकी इस मनस्थिति को स्पष्ट करने वाला निम्नलिखित पद अपनी लोकप्रियता के लिए अनुपम है।

सन्तन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पनहिया टूटीं विसरि गयौ हरि नाम।
जिनको मुख देखे दुख उपजत तिनको करिवे परी सलाम।
कुम्भनदास लाल गिरिधर विनु और सबै बेकाम।

ये भी अष्टछाप के एक प्रसिद्ध कवि हैं और इनके काव्य का वर्ण्य विषय है कृष्ण की वाल-लीला और प्रेम-लीला। कृष्ण के सौन्दर्य के प्रति वालपन से ही गोपियो के मन मे आकर्षण है। वे उनकी साहचर्य की

अभिलाषिणी है। अत नाना प्रकार की क्रीडाओ के लिए उन्हे लक्षित किया करती हैं, जिनसे उनका संयोग सुख प्राप्त हो। राधा और कृष्ण का कुज-विहार इनके आकर्षण का मूल केन्द्र था। कृष्ण की निकुज मे सम्पन्न की जाने वाली लीलाओ के प्रति गोपियो के मन मे जो लगाव था उसके प्रति आपकी दृष्टि केन्द्रित है। अस्तु, यह भी ख्यात है कि इनके गोलोकवास के समय 'कनकवेतिन वृषभानुनदिनी स्याम तमाल चढी' की सुरम्य लावण्यमयी मूर्ति इनकी आँखो मे समाविष्ट थी। और उसी का चिन्तन करते हुए इन्होने परमगति की प्राप्ति की थी।

कृष्णदास अष्टछाप के एक अन्य कवि है। इनका समय स० १५५२ से १६३२ वि० के आस-पास का था। इनका जन्म शूद्र कुल मे हुआ था, लेकिन इनकी प्रतिभा से परितुष्ट हो वल्लभाचार्य ने इन्हे अपनाया था और ये श्रीनाथ मन्दिर के विशिष्ट कर्मचारियो मे से थे। पुष्टिमार्ग के सैद्धातिक पक्ष का इन्हे अच्छा ज्ञान था और बहुत से लोग इनके इस विषयक प्रवचन से लाभ उठाते थे। इनके काव्य का वर्ण्य विषय भी राधा और कृष्ण का प्रेम एवं शृंगार है। इनके द्वारा रचित ग्रथ क्रमश. 'भ्रमरगीत,' प्रेम तत्त्व-निरूपण और 'जुगलमान-चरित्र' बताए जाते हैं। कृष्ण का सुरम्य रास-वर्णन आपके काव्य मे प्राधान्य पा सका है—

रास रस गोविंद करत विहार।
सूर सुता के पुलिन रम्य मँह फूले कुन्द मँदार।
अद्‌भुत सतदल विकसत कोमल मुकुलित कुमुद कहार।
मलय पवन वह सारद पूरन चन्द मधुप झंकार।
सुधर राय संगीत कलानिधि मोहन नंदकुमार।
व्रजभामिनि संग प्रमुदित नाचत तनचर चित घनसार।
उभै स्वरूप सुगमता सी वो कोक कला सुख सार।
कृष्णदास स्वामी गिरधर पिय पहिरैं रस में हार॥

भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से शृगारपरक काव्य को कवि ने पूर्णता प्रदान की है। अवसान-काल मे इनका भी ध्यान गिरधर के प्रति आकृष्ट

था, जिसकी चरितार्थना निम्नलिखित पद से सिद्ध होती है—

जो मन गिरिधर छवि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै चिवुक चारि गड़ि ठरक्यो।
सजल स्याम घन वरन लीन है फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किए प्रान निछावर यह तन जगसिर पटक्यो।

इस प्रकार कवि ने भक्ति-परायणतासहित अन्तिम काल मे अपने आराध्य का ध्यान करते हुए ही अपने प्राण विसर्जित किए थे।

चतुर्भुज स्वामी कुम्भनदास के सुपुत्र थे और इनका समय लगभग स० १५८४ से १६४२ के आसपास का है। ये गार्हस्थ जीवन व्यतीत करते हुए श्रीनाथजी की सेवा में निमग्न रहते थे। ये भी अष्टछाप के कवियो मे सम्मिलित किये गए है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थो मे क्रमश 'द्वादश यश', 'भक्ति प्रताप' तथा 'हितजू के मगल' का उल्लेख मिलता है। कृष्ण की वाल-लीलाओ और प्रेमादि का इन्होने भी हृदयग्राही चित्रण किया है—

जसोदा! कहा कहौं हौं वात?
तुम्हरे सुत के करतव मो पै कहत कहे नहिं जात।
भाजन फोरि डारि सब गोरस लै माखन दधि खात।
जौं वरजौं तौं आँखि दिखावै रँचहु नाहि सकात।
और अटपटी कहें लौं वरनौं छुवत पानि सो गात।
दास चतुर्भुज गिरिधर गुन हौं कहति-कहति सकुचात॥

इनके कृष्ण-भक्ति-विधायक पदो में भक्ति की उदात्त भावना एव शृंगार का उत्कृष्ट निर्वाह हुआ है। इनके पदो मे वे पद, जो कीर्तन के लिए रचित है, अधिक मधुर एव संगीतात्मक है। भक्त कवि ने व्रज प्रदेश मे कृष्ण-जन्म से लेकर उनकी विविध लीलाओ का वर्णन किया है। गोपियो की विरह-भावना को अधिक रसाप्लावित कर कवि ने चित्रित किया है। नन्दकिशोर की लीलाओ का मधुर वर्णन कवि ने सुन्दर शैली मे प्रस्तुत किया है।

खेलत नन्द किशोर व्रज म हो-हो होरी।
गौरी राग अलापत गावत मधु मुरली कल घोरी।
करि पियरो पट पीत बनी छबि सास चन्द्रिका मोर।
मनमथ मान हरत मन चितवनि चपल नैन की कोर।
बालक-वृन्द स्याम घन सोमित उत समूह ब्रज नारि।
विविध सिंगार सजे मिलि झुंडन देत भामिनि गारि।
देखि समाज मदन मोहन कौ धाई सब मिलि सहित हुलास॥

गोविन्द स्वामी—इनका जन्म सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनका समय लगभग स० १५६१ से १६४२ वि० तक का है। पुष्टिमार्गी वल्लभ सम्प्रदाय मे आने के पूर्व से ही एक अच्छे कवि एव गीतकार के रूप मे इनकी ख्याति थी। विट्ठलनाथ ने, जिनके ये शिष्य थे, इनको अष्टछाप में सम्मिलित किया। लोक-प्रचलित है कि एक श्रेष्ठ कवि के अतिरिक्त ये एक उच्च कोटि के गायक भी थे। स्वत· प्रसिद्ध गवैया तानसेन सगीत विद्या को सीखने हेतु इनके यहाँ आया करता था। लोक-प्रचलित विश्वास है कि सम्राट् अकवर इनके संगीत के वहुत वड़े प्रेमी थे और अपना वेश वदलकर इनका सगीत सुनने के लिए इनकी सगीत-गोष्ठी मे आया करते थे। प्रचलित है कि अकवर ने इनके एक गीत पर साधुवाद दिया और पुन. उस गीत को 'जूठा' घोषित कर इन्होंने गाया ही नही। ये एक वड़े सहृदय व्यक्ति थे। श्रीनाथजी की वड़ी आत्मीयतापूर्ण रीति से सेवा किया करते थे और उनके समक्ष वे एक प्रेमी मित्र की भाँति आचरण किया करते थे। इन्होने अपने एक प्रसिद्ध पद मे माता यशोदा द्वारा वालकृष्ण का शृंगार वर्णित किया है—

प्रात समय उठि जसुमति जननी गिरिधर सुत को उबरि न्हावति।
करि सिंगार वसन भूषन सजि फूलन रचि-रचि पाग्र बनावति।
छुटे बन्द बागे अति सोमित विच विच चोव चखि अरगजा लावति।
सूक्ष्म लाल फूदना सोभित अजु की छवि कछु कहति न आवति॥

विविध कुसुम की माला उर धरि श्री कर मुरली बैन गहाति।
लै दरपन देखे श्रीमुख को गोविन्द प्रभु चरननि सिर नावति ।।

छीतस्वामी—इनका जन्म मथुरा के पंडा कुल मे हुआ था। पारिवारिक सस्कार-स्वरूप इनका प्रारम्भिक जीवन छल-छिद्रो से भरा हुआ था। इनका समय लगभग सं० १५६७ से १६४२ वि० तक मान्य है। ये भी एक प्रसिद्ध गायक थे। विट्ठलनाथ ने इन्हे भी सम्प्रदाय मे दीक्षित किया और इनको एक भक्त के रूप मे परिवर्तित किया, अन्यथा ये एक उतावली प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। इन्हे आर्थिक चिन्ता नही थी, स्वत॰ बीरवल-जैसे धनाढ्य व्यक्ति इनके चेले थे। इनके कुछ पदों में भी ब्रज प्रदेश के प्रति अनुराग कूट-कूटकर भरा है, जिनमे एक बहुचर्चित पद है —

हे बिधना तो सों अँचरा पसारि माँगो।
जनम जनम दीजो याही ब्रज बसिवो ।।

इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, वरन् इनके द्वारा रचित पद प्राय. जन-साधारण तक मे गाते हुए सुने जाते हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी रचना-काल का प्रारम्भ स० १६१२ वि० के आस-पास का माना है। इन्होने अपनी 'सरस पदावली' मे भक्ति के स्वरो मे कृष्ण-कथा को गाया है और उनके सद्गुणो का बखान किया है। ये अष्टछाप के अन्तिम कवि है। कृष्ण का केलिमय जीवन इनके काव्य मे स्फुरित हो सका है।

भोर भये नवकुंज सदन तें आवत लाल गोवर्द्धन धारी।
लट पर पाग मरगजी माला शिथिल अंग डगमग गति न्यारी ।।
बिनु गुन माल विराजति उर पर नखछत द्वैजचंद अनुहारी।
छीत स्वामि जब चितए मोतन तब हौं निरखि गए बलिहारी ।।

हित हरिवंश ने राधावल्लभ सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। इसके पूर्व उन्हे भी माध्व-सम्प्रदाय से सम्बद्ध बतलाया गया था। लोक या साम्प्रदायिक विश्वास है कि वे कृष्ण की वंशी के अवतार थे। राधा द्वारा स्वप्न मे प्रेरित होने पर ही राधावल्लभ के विग्रह-स्वरूप की ओर इनका आकर्षण हुआ।

हित हरिवंश का जन्म-काल स० १५५६ से १६०६ वि० तक मान्य है। इनका जन्म वादगाँव मे हुआ वतलाया जाता है। इनके माता-पिता देववन के निवासी थे। इनका स्वत. का पारिवारिक जीवन भी वड़ा सुख-मय रहा। ये एक साधक भक्त के अतिरिक्त उच्च कोटि के पण्डित और कवि भी थे। इनको पाण्डित्य एव साधना-प्रणाली से प्रभावित हो इनके शिष्यो की एक परम्परा चली, जिनमे हरिराम व्यास, ध्रुवदास, सेवक, चाचाहित वृन्दावन तथा हठीजी के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके दो ग्रन्थ सस्कृत मे उपलब्ध हैं—'राधा सुधानिधि' एव 'यमुनाष्टक'। व्रजभाषा मे विरचित इनके ललित पदो का स्वरूप हित हरिवंश के चौरासी पदो मे, जिन्हें 'हित चौरासी' कहते है, मिलता है। इनके सम्प्रदाय के लोगो का आकर्षण कृष्ण की अपेक्षा राधा की ओर अधिक था और प्रिय-ध्यानरता राधा की उपासना इन लोगो की इष्ट वस्तु थी। वस्तुत इसी को दृष्टिगत करते हुए 'राधा सुधानिधि' मे हित हरिवंश ने लिखा है—

वीणां करे मधुमती मधुर स्वरां ता
माधाय नागर शिरोमणि भावलीलाम्।
गामन्त्यहो दिनमपार मिवाश्रु वर्षे
दुःखात्र यन्त्यहह साहृदिमेस्तु राधा॥

कवि अपने हृदय मे ऐसी दु.खकातरा राधा का निवास चाहता है, जो वीणा की सगति पर चतुर प्रियतम श्रीकृष्ण की लीलाओ का गान करती हो और उनकी मधुर स्मृति में प्रेम की अश्रु-वर्षा कर रही हो।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय मे राधा और कृष्ण की कुज-लीलाओ का ध्यान सवसे वढ़कर वस्तु है और इस सम्प्रदाय के लोगो ने इसी को 'परम रस माधुरी' की संज्ञा दी है। श्री राधा के रूप-लावण्य और उसके प्रति कृष्ण के प्रेममय आकर्पण का वर्णन इस सम्प्रदाय के कवियो ने किया है। परस्पर के लीला-विलास को इन भक्त कवियो ने अपना वर्ण्य-विपय वनाया। कवि ने राधा के लोचनो की लावण्यता का वर्णन किसी सखी के माध्यम से कराया है, जिसमे केलि की रात्रि की सुषमा भी आ सन्निविष्ट हुई है।

अति ही अरुण तेरे नैन नलिन री।
आलस युत इतरात रंगमगे भये निशि जागत मलिन मलिन री।
शिथिल पलक में उठति गोलक गति विंध्यो मोहन मृग
सकत चलिन री।

इसी प्रकार राधा के मुख की सौन्दर्य-शोभा का वर्णन कवि वूते के वाहर की वस्तु समझता है, क्योकि उसका विवस है—

जो कोउ कोटि कलप लगि जीवै रसना कोटिक गावै।
तऊ रुचिर वदरान विन्द की सोभा कहत न आवै॥

कवि ने राधा और कृष्ण के मिलन, लीला-भाव, हास-विलास, झूलन, रास, रति-क्रीडा एवं सयोग-दान, वशी-वादन तथा प्रेम के अन्य व्यापारो का रसमय चित्रण किया है। कृष्ण के प्रति अनुरक्ति का उनका अपार लावण्य है, जिसमे चित्ताकर्पण की अद्‌भुत क्षमता है—

नंद के लाल हर्‌यो मन मोर।
हौं अपने मोतिन लर पोवति काँकर डारि गयो सखि मोर॥
बंक विलोकनि चाल छवीली रसिक शिरोमणि नन्दकिशोर।
कहि कैसे मन रहत स्रवन सुनि सरस मधुर मुरली की घोर॥
इन्दु गोविन्द वदन के कारण चितवत को भये नैन चकोर।
श्री हरिवंश रसिक रसयुवती तू ले मिलि सखि प्राण अँकोर॥

वचपन की वालसुलभ च्वेष्टाएँ प्राण अँकोर दिलाने का कारण वनती है।

राधा और कृष्ण के प्रेम-मिलन-व्यापार का सुन्दर काव्यात्मक चित्रण कवि ने किया है और हर्प और पुलक भरे उनके मन को चित्रमय वना दिया है—

आजु प्रभात लता मन्दिर में
सुख वरसत अति हरप जुगलवर।
गौर श्याम अभिराम रंग भरि
लटकि लटकि पग धरत अवनि पर।

राधा और कृष्ण झूला झूल रहे हैं। इस वक्त जो एक शृंङ्गार-सयुक्त वातावरण प्रस्तुत हुआ है उससे इनके प्रगाढ प्रेम एवं रति का परिचय मिलता है।

झूलत दोऊ नवल किशोर।
रजनी जनत रग सुख सूचत अंग-अंग उठि भोर ॥
अति अनुराग भरे मिलि गावत सुर मंदर कल-घोर।
बीच बीच प्रीतम चित चोरत प्रिय नैनन की कोर ॥
अवला अति सुकुमारि डरत मन वर हिंडोर झकोर।
पुलकि पुलकि प्रीतम डर लागत है नव उरज अँकोर ॥

कवि का इष्ट है राधा और कृष्ण के प्रेम का सजीव वर्णन। इन दोनो मे प्रगाढ प्रेम है और ऐसी अवस्था मे विरह की अनुभूति बडी ही दर्दनाक है। राधा ने मान किया है, लेकिन कृष्ण को उसकी पीड़ा असह्य हो रही है। दूती के माध्यम से कवि ने इनकी पारस्परिक स्थिति का वर्णन कराया है।

चलहिं किन मानिनि कुञ्ज कुटीर।
तो विनु कुँवरि कोटि वनितायुत मथत मदन की पीर ॥
गद्‌गद सुर विरहाकुल पुलकित स्रवत विलोचत नीर।
क्वासि क्वासि वृषभाननन्दिनी विलपत विपिन अधीर ॥
वंशी निसिष काल मालावलि पंचानन धिक कीर।
मलयज गरल हुतासन नासत साखामृग रिपु चीर ॥

कवि ने अपने पदो द्वारा यह भी सिद्ध किया है कि प्रेम के महत्त्व को जानने वाला कृष्ण से वढकर कोई प्रेमी नही हुआ। वे प्रीति की रीति और नीति के पारखी हैं।

प्रीति की रीति रँगी लोई जानै।
जद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानै ॥

इस तरह हित हरिवश के भक्ति-भाव की यह विशेषता है कि इसमे राधा और कृष्ण प्रेमी-प्रेमिका के रूप मे चित्रित हैं। दोनों एक-दूसरे को

प्राणप्रिय हैं, अस्तु भक्तो के वे प्राणधन हैं।

गदाधर भट्ट महाप्रभु चैतन्य के सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे। ये दक्षिण मे ब्राह्मण कुल मे पैदा हुए थे। इनके जन्मकाल के विषय निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। भक्तमाल के अन्तः साक्ष्य पर ये महाप्रभु चैतन्य के समकालीन ठहराए जाते हैं। लोक तथा सम्प्रदाय मे प्रचलित विश्वास है कि ये महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे। इनके द्वारा भागवत-पाठ की पुष्टि भक्तमाल से होती है।

भागवत सुधा वरखै बदन काहू को नाहिन दुखद ।
गुण निकर गदाधर भट्ट अति सबहिन को लागै सुखद ॥

ये सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। हिन्दी में भी इन्होने काव्य-रचना की है। इनके काव्य की विशेषता यह है कि उसमे भाव-गाम्भीर्य की सस्कृत पदावली मे अभिव्यक्ति हुई है। सहृदय भक्ति-परायण कवि के हृदय ने भक्ति-भाव से भरे अमोघ पदो की सृष्टि की है। राधा और कृष्ण के प्रेम का इन्होने भी जीवन्त वर्णन संस्कृत-गर्भित भाषा-शैली मे किया है—

नंद कुल चंद वृषभानु कुल कौमुदी
उदित वृन्दाविपिन विमल अकासे।
निकट वेष्टित सखी वंद वरतारिका
लोचन चकोर तिन रूप रस प्यासे।
रसिक जन अनुराग उदधि तजी मरजाद।
भाव अगनित कुमुदिनीगन विकासे।
कहि गदाधर सकल विघ्न असुरति विना
भानु भव ताप अग्यान न विनासे।

कभी-कभी कवि की भाषा महाकवि तुलसीदासजी की 'विनय-पत्रिका' को स्तोत्रो की भाषा से साम्य-सा उपस्थित करती है। इसमे निश्चित रूप से कवि का सस्कृत का गम्भीर अध्ययन कारण-स्वरूप है। कृष्ण-भक्ति-काव्य के अन्य कवियो से उनका भाषागत पार्थक्य स्पष्ट जाहिर हो जाता है।

श्रीकृष्ण की अनन्य सेविका मीराबाई ने लोक-समाज तथा परिवार के वन्धनों को तोडकर अपने को श्रीकृष्णमय कर दिया। इसका जन्म सवत् १५७३ तथा मृत्यु-संवत् १६०३ माना जाता है। यह भारत के प्रसिद्ध भक्तो मे से है। इनका विवाह उदयपुर के ज्येष्ठ राजकुमार श्री भोजराज के साथ हुआ था, पर विवाह के थोडे समय के पश्चात् ही यह विधवा हो गई। अव इन्होने अलौकिक प्रेम को अपनाया तथा श्रीकृष्ण को अपना आराध्य-देव स्वीकार किया। इनके भावो मे हम एक प्रकार की विदग्धता पाते है। इनके ऊपर सूफियो की उपासना की स्पष्ट छाप है तथा रहस्य-वादी योजना का भी पुट है। अतः इनकी भी उपासना माधुर्य भाव की हो गई और कृष्ण को इन्होने अनन्य पति माना। 'गर वस्ल की ख्वाहिश हो हस्ती को फना करना' इसकी यह स्पष्ट-वक्ता थी।

गगन-मण्डल पै सेज पिया की किस विधि मिलना होय।

यह स्वय वियोगिनी थी। अत यह स्पष्ट-वक्ता तथा प्रियतम की खोज मे दीवानी थी।

हे री मै तो प्रेम दीवाणी मेरा दरद न जाने कोय।

इनके हृदय का सच्चा उद्‌गार है। इनका प्रिय अथवा ईश्वर-वियोग अपनी अन्तिम सीमा तक जा पहुँचा है—

तुम देखे बिन कल न परत तलफ तलफ जिय जासी।
तोरे खातिर जोगिन हूँगी, करवट लूँगी कासी॥

इनकी तड़पती हुई प्रेम की पीर-युक्त रचनाओ मे वचन-विदग्धता तथा प्रेम की मार्मिक अभिव्यजना है।

मीरा कृष्ण की उपासिका ही थी। कविता करना इनका मुख्य उद्देश्य नही था, अत इनकी रचना सच्चे हृदय की आन्तरिक अनुभूतियो का संग्रह ही है, फिर भी भापा मे सरसता, मधुरता एवं प्रवाह है। इनके कुछ पदो की भापा तो शुद्ध साहित्यिक व्रजभापा है और कुछ की राजस्थानी-मिश्रित। समस्त पद गेय है। संगीत के क्षेत्र मे इनके भजनो का अधिक आदर है। इनकी रचना मे विप्रलम्भ शृंगार का प्राधान्य है। इनके द्वारा

लिखित चार ग्रन्थ प्रसिद्ध बताए जाते हैं—'नरसीजी का मायरा', 'गीत-गोविन्द-टीका', 'राग-गोविन्द' और 'राग सोरठ के पद'। स्त्री कवियो मे इन्हे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है।

मीरा की भक्ति का स्वरूप-विवेचन करते हुए आलोचको मे मतैक्य का अभाव है। उनकी भक्ति को विभिन्न सम्प्रदायो से सम्बद्ध प्रतिपादित किया जाता है। प्राय: उन्हे निम्बार्क सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय और निर्गुण सम्प्रदाय से सम्बद्ध बतलाया जाता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि मीरा किसी सम्प्रदाय से आबद्ध होकर सैद्धान्तिक स्तर पर भक्ति का विवेचन करने नही बैठी थी। उनकी भक्ति ने अपने भक्ति के आवेश मे भक्ति की दृष्टि से जो-जो अनूठा पाया उसका चयन किया। बहुत से लोगों ने भक्ति के जीवन-क्रम का विवेचन करते हुए उसकी सरणि में मीरा की भक्ति को प्रतिपाद्य माना है। इस तरह से निष्कर्ष निकलता है कि बाल्य-काल मे मूर्ति-मात्र पर आकर्पित मीरा का मन यौवन के क्षणो मे नागर कृष्ण के अवतारी रूप मे विराम लिया और उससे भी आगे बढकर जब उन्होने साधना के क्षेत्र मे परम सत्ता की भगिमा परखनी चाही तो उनका निर्गुण के प्रति आकर्षण हुआ। जो भी हो, मीरा की भक्ति मे अपने इष्टदेव के प्रति अनुरक्ति है। वह अनुरक्ति काम की गन्ध से हीन है और गोपी-भाव की है, क्योकि वह 'प्रेम स्वरूपा' और 'अमृत स्वरूपा' है। मीरा की भक्ति का स्वरूप माधुर्य-भाव का है। परमात्मा प्रियतम से मीरा ने दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित किया है और इस सम्बन्ध मे आत्मा-परमात्मा की अभिव्यजना के हेतु रहस्यात्मक अभिव्यक्ति की है। प्रेम उनके काव्य का जीवन है और उसमे कसकती हुई विरहानुभूति से स्पन्दन मिला है। मीरा का काव्य निश्छल भक्ति-रस से आप्लावित है। उसमे बनाव-निखार की अपेक्षा सहज अभिव्यक्ति पर बल है। हृदय की गहरी भावात्मक संवेदना को मीरा ने सगीत के स्वाभाविक स्वरो मे गुम्फित कर दिया है।

मीरा की भक्ति की विविधता मे भी एकता है, उनका प्रियतम एक है, उसकी वे विविध नामों या रूपो मे मनुहार करती हैं, पर उन सबकी आन्त-

रिक महत्ता मीरा के लिए एक है। मध्यकालीन अन्य भक्त-कवियों
भाँति मीरा ने विनय के पद रचे हैं। आत्महीनता का बखान करते
इष्टदेव की शरणागति की आकांक्षा उन्होने की है—

राम नाम रस पीजै मनुआ राम नाम रस पीजै।
तज कुसंग सतसंग बैठ नित हरि चरचा सुण लीजै॥
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ चित से बहाय दीजै।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर ताहि के रंग में भीजै॥

पौराणिक परम्परा मे लीला-पुरुष गिरिधर नागर के प्रति सगुण
का मार्मिक निवेदन मीरा ने किया है। उनकी अलौकिक करतूतो के
मीरा ने अपना रागात्मक लगाव प्रदर्शित किया है।

कमल दल लोचना तैंने कैसे नाथ्यो भुजंग।
पैसि पियाल कालीनाग नाथ्यो फण फण निर्त करन्त॥
कूद पर्यो न डर्यो जल मांही और काहू नहिं संक।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर श्री वृन्दावन चंद॥

सगुण रूप के अतिरिक्त मीरा ने निर्गुण की भी उपासना कं
परमात्मा का निर्गुण रूप चिरन्तन सत्य है। भक्ति के लिए ही उसे
रूप का बाना धारण करना पडता है। दार्शनिक दृष्टि से यह चिर-अवि
ब्रह्म सत्य है और जागतिक प्रपच मिथ्या हैं। जीव इन्ही से आक्रान्त
है। इसके लिए गर्व करना निर्मूल है। उसे तो अपनी साधना द्वारा
ध्यान को उसी परमात्म तत्त्व मे सन्निविष्ट करना चाहिए।

भज मन चरण कँवल अविनासी।
जेताइ दीसे धरनि गगन बिच तेताइ सब उठि जासी॥
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हें कहां लिये करवत कासी।
इस देही का गरब न करना माटी में मिल जासी॥
यों संसार चहर की बाजी सांझ पड़ा उठि जासी।

प्रस्तुत पद दार्शनिक तत्त्वों की दृष्टि से भी मीरा की विचार-धा
समझने मे सहायक है।

मीरा का गिरिधर नागर कही-कही सगुण रूप में उल्लिखित है और वही कभी-कभी निर्गुण का भी रूप धारण कर लेता है। वास्तविकता यह है कि मीरा अपने परमाराध्य को विविध नामो से अभिहित करने मे संकोच नही करती। चाहे उसका स्वरूप जो भी हो उसमे उनकी गहरी आस्था और प्रीति है। वह अपने परमतत्त्वमय प्रभु गिरिधर के प्रेम मे रँगी हुई है और उसे प्राप्त करने के लिए उनकी आत्मा व्याकुल है। उन्हे ज्ञान की गरिमा इष्ट नही, भक्ति की प्रेममयी अवस्था अभीप्सित है। अस्तु वे अपने प्रिय के मिलन-विरह के चित्रो को सँजोती है। उनकी भक्ति दाम्पत्य-भाव लिये हुए है, जिसमे माधुर्य को प्रश्रय दिया गया है। वह अपने प्रियतम के प्रेम पर अपना सब-कुछ न्यौछावर कर चुकी हैं और अब उनकी मात्र आकाक्षा है कि वे अपने प्रियतम की हो जाएँ।

तुम्हरे कारण सब कुछ छोड़ा अब मोहि क्यूँ तरसावो।
विरह विथा लागी उर अन्दर सो तुम आय बुझावो॥
अब छोड़्याँ नहिं बनै प्रभूजी हँसकर तुरत बुलावो।
मीरा दासी जनम-जनम की अंग सूँ अंग लगावो॥

मीरा प्रेम-पथ की पथिक है। यह मार्ग नाना प्रकार की कठिनाइयो से भरा हुआ है। प्रेम के क्षेत्र की गति ही कुछ ऐसी है कि जिसको प्रेम की विरह-अनुभूति हुई रहती है वही एक-दूसरे के दुख को जानता है--

हे री मै तो प्रेम दिवाणी,
मेरा दरद न जाणे कोय।
घायल की गति घायल जाणे,
कि जिण लागी होय॥

इस प्रकार प्रेम मे दीवानी मीरा की खबर जब उसका प्रियतम नही लेता तो वह उसके प्रेम को दृष्टिगत कर उपालम्भ देती हैं---

जो मै ऐसा जाणती रे प्रीति किये दु.ख होइ।
नगर ढिंढोरा फेरती प्रीति करो मत कोइ॥

उन्हे अपने प्रियतम की विरहानुभूति मे ही अपने प्रेम की प्रदीप्ति मिलती है। प्रार्थना के स्वरो मे वे अपने प्रियतम के प्रति अपना नारी-सुलभ आत्म-समर्पण प्रस्तुत करती है—

मने चाकर राखो जी, मने चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठि दरसण पासूँ।।

दासी बनकर प्रियतम के नित्य दरस की आकाक्षा प्रेमी के लिए स्पृहणीय है। एक नारी के तुल्य अपने विरह के क्षणो को प्रणय के चित्रो से भी मीरा ने सजाया है। वे नाच-नाचकर अपने प्रियतम को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती है। प्रिय की आगमन की सूचना पाकर उनके हृदय मे उल्लास का उद्रेक होता है। वे अपने और प्रियतम के साहचर्य को जनम-जनम का मानती है। ज्ञान के क्षेत्र का जो उनका परम प्रियतम है, भक्ति के क्षेत्र मे उनके मन के साम्राज्य मे आसन बिठाए है। अस्तु

मेरो मन बसि गयो गिरिधरलाल सों।
मोर मुकुट पीताम्बरी गल वैजन्ती माल।।
गउवन के सग डोलत हौ जसुमति को लाल।
कालिन्दी के तीर हो कान्हा गउवाँ चराय।।

मीरा की भक्ति का आलम्बन चाहे निर्गुण ब्रह्म हो या सगुण, इतना तो सत्य है कि उनकी भक्ति मे प्रगाढ रागात्मकता थी। हृदय की सम्पूर्ण सवेदना से स्पन्दित होकर उसने अपने सगुण-निर्गुण प्रियतम के चित्र उतारे थे। उसमे कृष्ण-कथा का सक्षिप्त संदर्भ ही सही, लेकिन गोपी-भाव से कृष्ण के प्रति उनका आकर्षण था और कई प्रसंगो मे तो उन्होने अपने को किसी गोपी का अवतार भी बताया है। इस प्रकार मीरा का परिगणन श्रेष्ठ कोटि के कृष्ण-भक्तों मे भी हो सकता है।

मुसलमान होकर भी रसखान ने अपने को श्रीकृष्ण के प्रेम मे तल्लीन किया और उन पर अपना सब-कुछ न्यौछावर कर दिया। यह दिल्ली के पठान सरदार थे और कृष्ण के प्रेम मे विरक्त होकर विट्ठलनाथ के शिष्य हो गए थे। ये बडे प्रेमी तथा भावुक थे। इनका जन्म-संवत् १६१५

और मृत्यु-सवत् १६८५ माना जाता है। सवैया, कवित्त और दोहा-शैली मे, मधुर और सरस ब्रजभाषा मे, स्वाभाविकता, स्वच्छता और तल्लीनता के साथ मुक्तक काव्य के रूप मे इन्होने सुन्दर रचना की है। इनके 'प्रेम वाटिका' (दोहो मे शुद्ध प्रेम के निरूपण पर) और 'सुजान रसखान' (कवित्त-सवैयों मे भक्ति और प्रेम से भरा हुआ मुक्तक काव्य) प्रसिद्ध है। भाषा में बोलचाल का स्वाभाविक सौन्दर्य होते हुए भी अनुप्रास की सुन्दर छटा विराजमान है।

रसखान ने अपने लौकिक प्रेम को पारलौकिक स्वरूप प्रदान किया। सासारिक प्रेम से जब उन्हे सर्वत्र विमुख होना पड़ा, तब जाकर उन्हे ठोकर लगी और उनमे भगवान् के प्रति सच्ची प्रीति या लगन कायम हो सकी। ये कृष्ण-भक्त कवि हैं और कृष्ण की लीलाओं मे ही इनका आकर्षण है। इन्होने कृष्ण के उसी रूप को अपने काव्य का वर्ण्य-विषय बनाया जो लोक-हृदय मे अवस्थित है। कृष्ण उनके प्रिय हैं और उनसे सम्बद्ध सभी वस्तुएँ उन्हें अधिक प्रिय हैं—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौ।
आठहुँ सिद्धि नवौ निधि कौ सुख नन्द की गाइ चराइ बिसारौं॥
रसखानि कबौं इन आँखिन सौं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

अपने इष्टदेव के रूप का आख्यान करते हुए, जो साक्षात् ब्रह्म के अवतार है, उन्होने उसके प्रेम-पक्ष को ही प्रकाशित किया, उसके अन्य मर्यादा-जन्य रूप की अपनी भावनानुसार अभिव्यक्ति उन्होने अपेक्षित नही समझी। प्रेमी कृष्ण का भव्य प्रकाशन कवि ने किया है—

ब्रह्म में ढूंढ्यो पुरानन गानन वेद रिचा सुन्यौ चौगुने चायन।
देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कितै वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत टेरत हारि पर्‌यो रसखानि बतायौ न लोग लुगायन।
देखो दुरी वह कुज कुटीर में पैठि पलोटत राधिका पायन॥

उनके प्रेम मे पुरुषार्थ है। वे प्रेम मे किसी प्रकार का लोभ नही रखते। प्रेम की परिभापा रसखान ने स्वत की है। वह किसी भी प्रकार की कामना से रहित है—

बिनु गुन जोबन रूप धन बिनु स्वारथ हित जानि।
शुद्ध कामना ते रहित प्रेम सकल रसखानि॥

प्रेम का पन्थ निराला है। उसकी स्थिति 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' की है। रसखान ने कहा है—

कमल तंतु सौ छीन अरु कठिन खड्ग की धार।
अति सूधौ टेढ़ौ बहुरि प्रेम पंथ अनिवार॥

भागवत में वर्णित है कि गोपियाँ कृष्ण का वशी-निनाद सुनकर अपना सब काज छोडकर दौड पड़ती थी। उसी मन स्थिति का चित्र रसखान कवि ने सुहृद शैली मे उतारा है—

दूध दुह्यो सीरौ पर्‌यो तातौ न जमायौ कर्‌यो।
जामन दयो सो धर्‌यो धरवोई खटाइगौ॥
आज हाय आन पाई सबही के तब हीते।
तवहीं ते रसखानि तानन सुनाइगौ॥
ज्योंही नर त्योही नारि तैली ये तरुन वारी।
कहिए कहारी सब व्रज दिल लाइगो॥
जानिए न आली यह छोहरा जसोमति कौ।
बाँसुरी वजाइगो कि विष वरसाइगो॥

गोपियो का कृष्ण के प्रति प्रेमाकर्षण है और वे उनकी प्रोत मे तन्मयता का मान करती है और उनके आचरणो को अपनाकर उसमे अपनी असीम प्रीति का भाव प्रकट करती है—

मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं गुंज की माल गरें पहिरौंगी।
ओढ़ि पितम्बर लै लकुटि बन गोधन ग्वारिन संग फिरौंगी॥
भावतो मोहि मेरो रसखानि सो तेरे कहे सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरान धरौंगी॥

कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति गोपियो के हृदय मे समायी हुई है। उसे अभिनव भगिमासहित देखने की वे अभ्यासी है। प्रेम के क्षेत्र मे वे अनन्यता की अनुभूति करती है और कृष्ण को छोडकर समस्त अन्याश्रयों का त्याग करने का वे कटिवद्ध है।

पान वही जु रहे रिझि वा पर रूप वही जिहि वाहि रिझायौ।
सीस वही जिनवे परसे पद अंक वही जिनवा परसायौं॥
दूध वही जु दुहायो री वाहि दही सु सही जु वही ढ़रकायौ।
और कहाँ लौं कही रसखानि री भाय वही जु वही मनभायौ॥

आगे चलकर इस शाखा मे 'टट्टी सम्प्रदाय' के संस्थापक तथा तानसेन के गुरु स्वामी हरिदास, गौड़ीय सम्प्रदाय के सूरदास, मदनमोहन तथा श्री भट्ट आदि हुए, जिन्होंने श्रीकृष्ण के प्रेम मे वशीभूत होकर हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि की। पर काल के चक्र के अनुसार इस शाखा मे कुछ शिथिलता आने लगी। अकवर ने प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति उदार नीति अपनाई थी। प्रत्येक को उपासना तथा मन्दिर-निर्माण इत्यादि की स्वतन्त्रता थी। उसके साथ ही यह वस्तु चली गई और राजनीतिक परिवर्तन के स्पष्ट प्रभाव धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियो पर हुए। इसके साथ ही देश मे धन-सम्पत्ति की अधिक वृद्धि हो चली थी। अत हिन्दी काव्य-धारा भी समय की माँग के अनुसार मुडी और उसने धार्मिक क्षेत्र को छोडकर रीति तथा शृगार का आश्रय लिया। इस तरह अकवर के पश्चात् ही हिन्दी-कविता दूसरी ओर मुड़ने लगी, जिस रास्ते का निर्धारण इसने अकवर के समय में ही कर लिया था। स्वय अकवर ने मुगल साम्राज्य को दृढ वनाने के लिए आम जनता की भाषा हिन्दी को आश्रय प्रदान करके कवियो और साहित्य को अच्छा प्रोत्साहन दिया। यद्यपि ये कवि भक्ति की धारा में न वह सके, पर भक्ति-काल के फुटकल कवियो मे हम इन्हे स्थान प्रदान कर सकते है। कुछ कवि तो अकवर के दरवार मे रहने से अत्यधिक प्रभावित होकर एक विशेष लक्ष्य की ओर चले और कुछ साहित्य की सामयिक परिस्थितियो को अपनाकर अपने ही रग

मे रँगे। कविवर रहीम, नरहरि वन्दीजन, टोडरमल, बीरबल, गंग, मनोहर कवि, होलराय इत्यादि अकबरी दरबार से बराबर सम्बन्धित रहे तथा शाही दरबार से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपेण प्रभावित भी रहे।

रहीम एक उच्च पद पर होते हुए भी हिन्दी की ओर आकर्षित हुए थे। यह बड़े ही साहित्य-सेवी, भावुक तथा अरबी, फारसी और सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे, तथा ऐसा कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी से इनकी मित्रता थी। ये ब्रज तथा अवधी दोनों भाषाओ पर समान रूप से अधिकार रखते थे। यद्यपि इन्होने अधिकतर नीति-सम्बन्धी दोहे ही लिखे है पर बरवै, कवित्त, सवैया, सोरठा, पद इत्यादि सभी पर अपनी लेखनी चलाई है। इनकी उक्तियाँ बड़ी ही लुभावनी हैं। इनकी कविता मार्मिकता से भरी हुई है तथा इनके हृदय ने संसार के वास्तविक व्यवहारों को पहचानकर उसमे गोता लगाया है। अतः सर्वसाधारण ने तुलसी की भाँति इनकी भी रचनाओ को सच्चे हृदय से अपनाया। इनके अन्दर हमे कोरी कल्पना ही नही प्रत्युत वास्तविकता के भी दर्शन होते हैं। इन्होने 'रहीम सतसई', 'बरवै नायिका भेद', 'श्रृंगार सोरठ', 'मदनाष्टक', 'रासपचाध्यायी' इत्यादि लिखे। साथ ही हिन्दी, संस्कृत तथा फ़ारसी की खिचड़ी मे अपनी रचना भी की।

रहीम के काव्य का वर्ण्य विषय भक्ति नीति, एवं श्रृंगार है। ये मानव-जीवन के लिए अपेक्षित सम्भार हैं। अस्तु रहीम का काव्य मानव-जीवन के कल्याणार्थ रचित है। जहाँ तक रहीम की भक्ति का प्रश्न है वह माधुर्य कोटि की भक्ति है और उसमें प्रपत्ति, आत्म-समर्पण आदि भारतीय भक्ति-भावना के रूपों का दर्शन भी होता है। उन्होने राम और कृष्ण दोनों विषयक भक्ति भावना से भरा काव्य लिखा है। अपनी माधुर्य-भक्ति के कारण कवि ने अपने इष्टदेव के शील, सौन्दर्य, औदार्य इत्यादि का भारतीय परम्परा मे वर्णन किया है।

तैं रहीम मन आपुनो कीन्हो चारु चकोर।
निसि बासर लाग्यो रहै कृष्णचन्द्र की ओर॥

श्याम कृष्ण की सुन्दरता अद्वितीय है। उसके प्रति गोपियों का सहज आकर्षण है, लगाव है जिसे वे विस्मृत नही कर पाती। वरन् उनकी सुन्दरता उनके चित्त पर गाढ़ी होकर उतर आई है।

कमल दल नैननि की उनमानि।
विसरत नाहिं सखी सो मनते मंद-मंद मुसक्यानि।
चढ़ी रहे चित उर विसाल की मुकुत माल फहरानि।
अब रहीम चित तें न टरति है सकल श्याम की वानि।

रहीम की भक्ति का एक रूप अद्वैत की भावना से अनुप्राणित भी मिलता है। उनकी आत्मा-रूपी सराय परमात्मा-रूपी पथिक के निवास से भर गई है, उसमें और किसी के निवास की गुजाइश नही है।

प्रीतम छवि नैनन बसी पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि पथिक आप फिर जाय॥

भक्ति के अतिरिक्त नीति और शृंगार के वर्णन मे भी कवि रहीम का अपना महत्त्व है, जीवन के लिए अपेक्षित नैतिक आचार, कर्म और शिक्षा को रहीम ने वर्णित किया है। इनके नीति-परक दोहे अधिक लोक प्रिय वन पड़े है।

रहिमन अँसुआ नयन ढरि जिय दुख प्रकट करेइ।
जाहि निकारो गेह तो कसन भेद कहि देइ॥

× × ×

रहिमन पानी राखिए बिन पानी सब सून।
पानी गये चून ऊबरै मोती मानस न

लगता है मनुष्य की प्रवृत्तियों से वैविध्य रूप मे कवि का गहरा परिचय था, तभी जाकर उसने उसके मुख्य-मुख्य पक्षो को उभारा है। शृंगार-परक इनके बरवै लौकिक प्रेम और शृंगार को उदात्त रूप मे प्रकट करते हैं।

टूट कबार घर टपकत खटियो टूट।
पिय की बाँह उसि सब सुख की लूट॥

आगि लगि घर जरिगा विधि मस कीन्ह ।
पिय के हाथ धरिलव भरि भरि दीन्ह ।।

अन्ततः कवि का हृदय भारतीयता से अनुप्राणित है । वह लोक-जीवन के लिए उपयुक्त लौकिक एवं पारलौकिक सम्भारो की अपने काव्य में आयोजना करते हुए दिखाई पडता है । उसके काव्य मे भक्ति, नीति एव शृगार की जो त्रिवेणी लहरा रही है वह सचमुच ही मानव-जीवन का रंजन करती है, उसको कल्याण के पथ पर अग्रसर करती है।

गंग ब्रह्मभट्ट थे तथा अकवर के दरवारी कवि थे । इनको हाथी द्वारा कुचलवाकर मरवाया गया था । इनके विषय मे प्रसिद्ध है—

तुलसी गंग दोऊ भये सुकविन के सरदार ।

इनके पद इधर-उधर विखरे हुए मिलते हैं । कवियो मे इनका स्थान वहुत ऊँचा माना जाता है । इनकी रचना व्यजनावलित, वैचित्र्यमयी और भावपूर्ण है, तथा इसमे वीर और शृङ्गार का अनुपम पुट उपस्थित है । अन्योक्तियाँ इनकी भी वडी मार्मिक और चुटीली है । कुछ गद्य भी इन्होने लिखा है ।

अकवर के दरवारियो मे **टोडरमल, बीरबल** इत्यादि भी कवि हो गए है । इनके अतिरिक्त **नरोत्तमदासजी** ने परिमार्जित तथा व्यवस्थित भाषा मे वहुत ही सरस तथा हृदयग्राही 'सुदामा-चरित' लिखा, जिसमे कृष्ण की दीनवत्सलता तथा करुणा का सजीव चित्र अकित किया । **सेनापति** ने कृष्ण-भक्ति-शाखा के इसी शिथिल युग मे 'कवित्त-रत्नाकर' की रचना की, जिसका ऋतु-वर्णन अत्यन्त ही प्रसिद्ध है । इसमे प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण, उसके चित्रण का चातुर्य और वर्णन की कला-कुशलता सराहनीय है। यह होते हुए भी उनकी स्वाभाविकता तथा सुन्दरता को वाधा नही पहुँचती—

सेनापति ग्रीखम तपति ऋतु भीखम है ।
मानो वडवानल सों वारिधि जरत है ।।

इनके अतिरिक्त छीहल, लालचदास, कृपाराम, आलम, वलभद्र मिश्र,

जमाल, कादिर, मुवारक, सुन्दर, बनारसीदास इत्यादि हुए जिन्होने शृगार, नीति, नख-शिख वर्णन इत्यादि को अपनाकर हिन्दी के काव्य-क्षेत्र को विकसित किया। पर इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि भक्ति का स्रोत सूख गया। कृष्ण तथा राम-भक्ति-सम्वन्धी कविता बराबर होती रही और आधुनिक युग मे भी पं० सत्यनारायण कविरत्न, अयोध्यासिंह उपाध्याय इत्यादि ने भी कृष्ण-भक्ति का अवलम्वन किया।

यो तो हिन्दी-कविता कृष्ण-भक्ति-शाखा के वाद शिथिल होकर शृङ्गार तथा विलासिता का पुट लेकर अग्रसर हुई और इसने रीतिकाल को जन्म दिया और श्री केशवदासजी इसके प्रथम आचार्य हुए, पर केशवदास को हम भक्ति-काल के अन्त तथा रीतिकाल के प्रादुर्भाव के मध्य ही स्थान प्रदान कर सकते है, क्योकि इन्हे एक-दूसरे से विलकुल अलग नही किया जा सकता। इन्होने एक का आश्रय तथा दूसरे का आचार्यत्व ग्रहण किया है। अतः रीतिकाल के प्रथम आचार्य होते हुए भी समय-विभाग के अनुसार यह भक्ति-काल मे पड़ते है और इन्होने तत्सम्वन्धी ग्रन्थ 'रामचन्द्रिका' भी लिखा है।

आचार्य केशवदास—यह सनाढ्य व्राह्मण काशीनाथजी के पुत्र तथा कृष्णदत्त के पौत्र थे। इनका जन्म सम्वत् १६१२ और मृत्यु संवत् १६७४ के लगभग हुई। ये ओड़छा-नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह के आश्रम मे रहते थे और उनकी सभा मे इनका वहुत ही सम्मान था। इन्ही के कारण मुगल सम्राट् अकवर ने इन्द्रजीतसिंह पर किये गए एक करोड़ रुपये के जुर्माने को माफ कर दिया था। इनके वश मे परम्परा से संस्कृत के विद्वान् होते आए थे। इन्होने स्वय लिखा है—

भाषा बोल न जानही जिनके घर को दास।
ता मह कविता करत है जड़मति केशवदास॥

इनके पहले ही कवियो का ध्यान रस, अलंकार तथा अन्य काव्यांगों के निरूपण की ओर लग चुका था, अतः केशव के लिए वातावरण उपस्थित ही था। संस्कृत के प्रकाण्ड पडित होने के कारण शास्त्रीय पद्धति से भाषा

में काव्य-रचना की ओर इनका झुकाव हुआ। इन्होने काव्य में अलकार और चमत्कारपूर्ण कौशल-प्रधानता प्रदान की—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन विनु न विराजई कविता, बनिता, मित्त॥

इनके द्वारा लिखित सात ग्रन्थ प्राप्य हैं—'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'रामचन्द्रिका', 'वीरसिंहदेवचरित', 'विज्ञान गीता', 'रतनवावनी' और 'जहाँगीर जस चन्द्रिका'। 'कविप्रिया' अलकार-ग्रन्थ है और 'रसिकप्रिया' में रसो का वर्णन किया गया है। 'विज्ञान गीता' मे कवि ने अपने दार्शनिक विचार दरशाए है। भावो की अभिव्यंजना स्वाभाविक रूप मे न होने के कारण इनकी शैली दुरूह और जटिल हो गई है, किन्तु ओज तथा शक्ति इनकी रचना मे विद्यमान है। कही-कही रस-परिपाक भी विस्मयजनक हो उठा है। भाषा पर इनका अधिकार असाधारण है तथा शब्दचातुरी, वाग्वैचित्र्य तथा श्लेषात्मक प्रयोगो की सफलता इनकी विशेषताएँ हैं, यद्यपि इनकी भाषा ब्रजभाषा ही है और उस पर सस्कृत तथा बुन्देलखण्डी का विशेष प्रभाव है। बुन्देलखण्डी मुहावरे भी इन्होने ज्यो-के-त्यो अपनाए है। इसमे विदेशी शब्दो का अभाव है। शब्दों का प्रचुर मरोड़ इत्यादि हम इनमे नही पाते हैं। केशव के समय मे भक्ति का देश मे प्रचार था, अतः इन्होंने राम तथा कृष्ण का आश्रय लिया, पर वे दोनो के लोकरजक तथा प्रतिष्ठित रूप को भूल गए और शृङ्गार के भावावेश में श्रीकृष्ण का तो इन्होंने केवल रसिया ही वना दिया।

इनके पहले हिन्दी में साहित्य के काव्यांगो पर लक्षण-ग्रन्थ किसी ने नही लिखा था। साथ ही कविता के भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों की दृष्टि से सूर तथा गोसाईंजी द्वारा हिन्दी-कविता अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। प्रकृति का कुछ ऐसा निमय ही है और यह वस्तु व्यावहारिक भी है कि लक्ष्य-ग्रन्थो के पश्चात् ही लक्षण-ग्रन्थ वनते हैं। सस्कृत-साहित्य इसका यथेष्ट प्रमाण है। अतः केशव को संस्कृत के भामह, रुद्रट तथा दंडी के मार्गों का अनुसरण करने की धुन समाई, जिन्होने रस, रीति और ध्वनि

सबको ही अलकारो से गौण माना तथा इसी के अन्दर उपर्युक्त सभी का समावेश समझा। 'साहित्य-दर्पण' के रचयिता विश्वनाथ की तरह इन्होंने साहित्य मे रस को प्रधानता नही दी। अलकारों के लक्षण भी उन्ही के दिये हुए उदाहरणों से अस्पष्ट-से हैं और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूक्ष्म दृष्टि से उन्होने अलंकारों का अध्ययन नही किया था। 'कविप्रिया' में कवि-शिक्षा-सम्बन्धी वस्तु तथा 'रसिकप्रिया' मे शृगार-रस को केवल रस-राज ठहराया गया है और रसों का पूर्ण विवेचन हम इसमे नही पाते। यद्यपि इन सबकी सामग्री सस्कृत-ग्रन्थो से ली गई है, फिर भी केशव ने उसमें कुछ थोडा परिवर्तन करके अपनी ओर से जोड़ दिया है। हम इन्हें शास्त्रीय दृष्टि से आचार्य नही कह सकते, पर इतना तो अवश्य है कि यह पहले कवि थे, जिन्होंने हिन्दी मे काव्य के सब अगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। अतः हम इन्हे काव्य-शास्त्र और पिंगल का आचार्य कह सकते हैं।

पर केशव को कवि-हृदय की अनुभूति नही थी। सहृदयता और सहानुभूति का पूरा योग उन्हे नही मिला था। सस्कृत-साहित्य से सामग्री लेकर उन्होने हिन्दी-साहित्य मे आतंक जमाना चाहा। इसके प्रमाणस्वरूप 'प्रसन्न राघव', 'नैषध', 'कादम्बरी' इत्यादि की उक्तियाँ हैं, जिनका ज्यो-का-त्यों अनुवाद दे दिया गया है, पर उनमे भी वे मूल का-सा काव्य-रस नही पैदा कर सके हैं। यद्यपि उनके पास एक उच्च-कोटि की कवि-कल्पना विद्यमान थी, पर अपने समय के वातावरण तथा आश्रयदाताओं की रुचि और आचार्यत्व के कारण अपना ध्यान क्लिष्ट कल्पना तथा अलकार-वैचित्र्य की ओर होने से ये स्वतन्त्र नही थे। श्रीराम के जिस कथानक के आधार पर गोस्वामीजी 'रामचरितमानस'-जैसे काव्य की रचना कर सके, उसी कथा को यद्यपि केशव ने अपनाया, पर उसमे ये कोई भी मार्मिक और महत्त्वपूर्ण स्थल नही पैदा कर सके। 'रामचन्द्रिका' मे राम का अयोध्या-त्याग, दशरथ की मृत्यु, इत्यादि केशव को नही रुला सके है। वन को जाते हुए राम के विषय में आप कहते हैं—

किधौं मुनि शाप हत, किधौं ब्रह्म दोष रत,
किधौं कोऊ ठग हौं।

प्रकृति-वर्णन मे भी केशव सफल नही हो सके तथा उससे उनका हृदय द्रवीभूत नहीं हुआ है। इनके लिए फूल निरुद्देश्य फूलते है तथा वायु निरर्थक चलती है। अतः प्रकृति-जीवन का स्पन्दन हम इनमें नही पाते है और वहाँ भी शब्दों की ही करामात-मात्र विराजमान है। इस तरह प्रकृति के विभिन्न रूपों और अनुभूतियों के लिए उनके हृदय मे कोई स्थान नही वन पाया है और कल्पनाएँ हृदय-जात न होकर मस्तिष्क की उपज-मात्र ही है। अतः इनके अन्दर देश की स्थानगत विशेषता का अभाव-सा ही है।

प्रवन्ध-काव्य-रचना की क्षमता केशव मे नही थी; काव्य-रूढियों का निर्वाह-मात्र ही वे जानते थे। राम-जैसे नायक को अपनाकर भी प्रबन्ध-काव्य की अनेकरूपता प्रकट न कर पाये। छन्दों की रद्दोबदल तथा कथा-प्रवाह में अशक्त होने से पाठको की जानकारी के लिए दृश्य-काव्य की भाँति पात्रो के नाम अलग से देने पड़े हैं; साथ ही केवल चले आते हुए सेना-सचालन, युद्ध, उपवन, राजसभा की तड़क-भडक, रति, प्रेम इत्यादि के वर्णन अलंकारो की योजना के साथ पाए जाते है और उनकी ये व्यजनाएँ रोचक तथा स्वाभाविक नही हो पाई है, वर्णन दिखावटी तौर पर वल-पूर्वक भरे गए है और कथा के औचित्य का उनसे कोई सम्बन्ध नही दीख पड़ता। बीच मे कही-कहीं शुष्क उपदेशों का भी समावेश है। कही पर इतिहास तथा परम्परा के विरुद्ध उपमानो के भी दर्शन होते है और तुलसी की भाँति काव्य-विवेक हम इनमे नही पाते। इनके अन्दर कौशल का ही विशेष पुट है। "कला स्वाभाविक है और मनुष्य के मार्मिक अन्तस्तल से निकलती है और जहाँ बुद्धि को ठोक-पीटकर काम लिया जाता है, वही कौशल की उत्पत्ति होती है।"

लेकिन यह सव होते हुए भी केशव का स्थान काव्य-साहित्य में ऊँचा है और इनके पात्रो के संवाद वहुत ही उत्तम कोटि के है तथा पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि का चित्रण भी वड़ा ही प्रभावपूर्ण तथा हृदय-

ग्राही है। इनमे हम वाक्पटुता और राजनीतिक दाॅव-पेच का आभास पाते है। तुलसी के वाद सवादो की योजना इन्ही की पुष्ट है—

मातु कहाँ नृप तात ? गये सुरलोकहिं, क्यों ? सुत शोक लये।

× × ×

कौन के सुत ? बालि के, वह कौन बालि न जानिये॥

जहाँ पर मानव-अन्त करण को छूने वाली कोई वस्तु आई है उसका परिचय तो स्पष्ट नही है, पर सकेत वड़ा ही उत्तम है और वहाँ इन्होंने अलकार-योजना त्याग-सी दी है। वर्णनो मे प्रताप, वीरता, ऐश्वर्य, युद्ध-कौशल, भयानक तथा रौद्र रसो के वर्णन चरम सीमा तक पहुँच गए है। 'रसिकप्रिया' का पद-विन्यास उत्तम कोटि का है। लालित्य के अभाव मे भी इनके काव्य मे अर्थ-गौरव है। सस्कृत के प्राय सभी छन्दो का प्रयोग करके भाषा के पिंगल का इन्होने विस्तार किया। रीति-काव्य के जन्मदाता के रूप मे ये सदैव अमर रहेगे। ये वृद्धावस्था तक रसिक थे और केवल बाबा कहने से ही चिढ गए थे। अतः ये हृदयहीन न होकर सहृदय ही थे।

"केशवदास उन कवि-पुगवो मे नही गिने जा सकते जो एक विशिष्ट परिस्थिति के निर्माता हो, वे तो अपने समय की परिस्थिति द्वारा निर्मित हुए है और उसके प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब हैं।"

आचार्य केशव के पश्चात् हिन्दी-कविता ने एक नये मार्ग को अपनाया तथा उसका अनुसरण करके एक नवीन दिशा की ओर मुडी जो रीति-काल कहा जाता है। कविता का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य भुला दिया गया। इसमे बाह्य सौन्दर्य की वृद्धि हुई तथा कविता की आत्मा सकुचित-सी हो गई। दरवार के प्रभाव से कवि आत्मा को सुधारने की अपेक्षा हास-विलास तथा शृंगार की ओर झुके, क्योंकि समांज भी उधर ही जा रहा था। साहित्य इन्ही परिस्थितियों से प्रभावित होकर ही उपस्थित होता है। अत: हिन्दी-साहित्य के रंगमंच पर 'रीति-काल' ने प्रवेश किया, जिसने देव, विहारी, भूषण इत्यादि की रचनाओ से हिन्दी-साहित्य को समलकृत किया।

जिस प्रकार वीरगाथा-काल तथा भक्ति-काल की सन्ध्या मे विद्या-

पति ने एक अभिनव युग एवं प्रवृत्ति का निर्देशन किया, उसी प्रकार आचार्य केशव ने भक्ति-काल के अन्तिम प्रहर मे नवयुग का सन्देश दिया। यद्यपि रीतिकालीन काव्याग-परम्परा केशव के पीछे न चली, तथापि रीति-काल के मुख्य तत्त्व—काव्यशास्त्र—की ओर तो केशव ने स्पष्ट सकेत कर ही दिया था।

रीतिकाल

हिन्दी के भक्त कवियों ने साहित्य में अन्तरात्मा की पुकार का आविर्भाव करके, भारतीय सस्कृति को व्यापक, उदार तथा मधुररूपेण अकित करके, तथा समाज को आपत्काल में गर्त मे गिरने से वचाकर अपनी दिव्य भावनाओं के सचयन द्वारा साहित्य को उसकी अन्तिम पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। ये भगवान् के ही रसिक थे तथा हमेशा ईश्वरीय चिन्तन मे ही मस्त रहते थे। अतः इन्होने स्वर्गीय साहित्य की सृष्टि की थी और इस कार्य के लिए प्रकृति द्वारा ये विवश किये गए थे। इस भाँति इन कवियो ने काव्य-कानन को स्वकीय कविता-कुसुमों से अत्यन्त कुसुमित वना दिया था। इस प्रकार हिन्दी में लक्ष्य-ग्रन्थ प्रचुर मात्रा मे निर्मित हो चुके थे, पर लक्षण-ग्रन्थों की अभी कमी ही थी। लक्ष्य-ग्रथो के निर्मित हो जाने के पश्चात् ही लक्षण-ग्रंथो के निर्माण का समय आता है। पहले वस्तु उपस्थित होती है और तभी उसके गुण, दोष तथा विशेषताओं का सम्यक् विवेचन किया जाता है। सस्कृत-साहित्य मे भी यही क्रम रहा है। यही दशा हिन्दी-साहित्य की भी हुई।

हिन्दी के रीति-काल के कवियों ने भी संस्कृत का ही अनुसरण किया। सस्कृत में काव्य-सम्वन्धी कई सम्प्रदाय हुए, जिनमें भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रस-सम्प्रदाय, भामह, दण्डी और रुद्रट का अलकार-सम्प्रदाय, वामन द्वारा प्रतिपादित वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली रीतियो का रीति-सम्प्रदाय, कुन्तल का वक्रोक्ति-सम्प्रदाय तथा आनन्दवर्धन के ध्वनि-सम्प्रदाय मुख्य हैं। हिन्दी के रीति-ग्रन्थों के निर्माण के समय ये सभी सम्प्रदाय विद्यमान थे, जैसा कि केशव के सम्बन्ध में पीछे दिखाया गया है कि इन्होने

अलकार-सम्प्रदाय का अनुसरण करके ही हिन्दी मे काव्यागों का निरूपण किया। पर हिन्दी मे रीति की अटूट धारा केशव के पश्चात् ही चली, जिसमे रस तथा ध्वनि-सम्प्रदायो का अनुसरण किया गया तथा काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में रस की प्रधानता मानने वाले मम्मट तथा 'साहित्य-दर्पणकार' विश्वनाथ के मत को ग्रहण किया गया। अलकारों के निरूपण मे 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' का आश्रय लिया गया। अत· हिन्दी मे लक्षण-ग्रन्थों की प्रचुरता हुई तथा दोहे मे रस अथवा अलंकार का लक्षण लिखकर कविता या सवैया मे ही उदाहरण लिखने की परिपाटी चल पड़ी।

परन्तु आचार्यत्व तथा कवि-कर्म दोनो मे हमेशा से ही अन्तर रहा है, अत: सस्कृत मे दोनो व्यक्ति पूर्णतया भिन्न रहे। आचार्यो ने साहित्य-शास्त्र की व्यवस्था की और कवियो ने उसके अनुरूप रचना की। पर हिन्दी में कवि तथा आचार्य में एक अनूठा सामजस्य स्थापित हुआ और एक ही व्यक्ति ने दो कर्मो को निभाया। अत· फल वही हुआ कि 'दुविधा मे दोनों गये माया मिली न राम'; न कोई पूरा कवि ही हुआ, न कोई पूर्ण आचार्य ही, न तो काव्य के अंगो का ही विस्तृत विवेचन हो पाया और न कवि-लेखनी स्वतन्त्र ही रह सकी। अत कविता भी विकास-पथ की ओर अग्रसर नही हो पाई और इसका क्षेत्र सीमित तथा सकुचित ही रहा। साथ ही तर्क पर आधारित संस्कृत के अनेक सम्प्रदायो का निरूपण हिन्दी मे नही हो पाया, क्योकि गद्य मे ग्रन्थ-रचना की परिपाटी ही नही थी और पद्य मे काव्य के विभिन्न अंगो पर सम्यक् विचार प्राय असम्भव होता है। रसो में केवल शृङ्गार तथा वीर-रस को ही प्रमुखता मिली।

साहित्य मे मानव-जीवन के विभिन्न रहस्यो का चित्रण होता है। इसमे मनुष्य के आदर्शवाद तथा यथार्थवाद दोनो की स्पष्ट झलक होती है। समाज इस समय विलासिता की ओर जा रहा था और राजाओ के समान प्रजा भी पूरी तरह प्रेम के पंक मे फँस रही थी। अत: कवि भी इसी धारा में वहे तथा स्त्री-पुरुप के मधुर सम्वन्ध की ओर उनका ध्यान आक-

पित हुआ। अतः इस समय का समाज प्रभु-प्रेम के पवित्र अंक से मिलकर सुखोपभोग तथा प्रेम के प्रागण मे कल्पित-केलियाँ करने लगा। उधर कृष्ण-भक्त कवियो द्वारा प्रतिपादित राधा-कृष्ण का अलौकिक प्रेम प्रणय-लीलाओं के रूप मे परिणत होने लगा और कृष्ण-भक्ति का पावन प्रवाह पक द्वारा आच्छादित होने लगा। शृङ्गार रस का आलम्बन नायक-नायिका होने से उनके अग-प्रत्यग, हाव-भाव, नख-शिख तथा सयोग-वियोग इत्यादि पर रचनाएँ हुई।

यद्यपि काव्य मे ब्रजभाषा ही साहित्यिक भाषा के रूप मे व्यवहृत हुई, पर रीति-ग्रन्थ अवध क्षेत्र मे भी लिखे गए थे। अतः कवि की इच्छानुसार भाषा में दोनो का सम्मिश्रण हुआ। इस समय व्याकरण की दृष्टि से भाषा को स्थिरता प्राप्त न हो सकी। हाँ, भाषा मे कोमलता तथा सुकुमारता का समावेश अवश्य हुआ। छन्द भी प्रौढ और परिष्कृत हुए और इनकी भी एक परम्परा चल गई, जिसमे कवित्त, दोहे तथा सवैये ने उच्चासन प्राप्त किया। काव्य में भावपक्ष प्रधान न होकर कलापक्ष की ही प्रधानता रही।

औरगजेब जैसे धूमकेतु के उदय ने शान्त भारत मे उपद्रव तथा उत्पात उत्पन्न किये। अतः जनता मे वीर रस-पूर्ण प्रवृत्तियाँ जाग उठी, दक्षिण में शिवाजी तथा पजाब में गुरु गोविन्दसिहजी स्वधर्म तथा स्वराज्य की रक्षा मे अग्रसर हुए और पुनरुद्धार तथा पुनर्जागरण का उत्साह सारे देश मे व्याप्त हो उठा। तत्कालीन हिन्दी कवि भी अपने कर्तव्य से पीछे न रहे और इन वीरो ने अपनी वीर वाणी का योग दिया। जनता भूषण, लाल, सूदन इत्यादि की कविताओ को गाकर अतीत गौरव का सुख लेने लगी। पर ये राष्ट्रीय कवि भी परिस्थितिवश लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण की ओर झुके। अत. ये अपनी पूर्ण प्रतिभा का उपयोग नही कर पाए। दूसरे, प्रबन्ध की ओर न जाकर मुक्तक को ही इन कवियो ने अपनाया, अतः जीवन की अनेकरूपता उसमें न आने पाई। फिर भी वीर-रस प्रधान होने पर इन कवियो का स्थान रीतिकाल मे ही है, क्योंकि इन्होंने रीति-परम्परा को

ही अपनाया। इस काल के मुख्य कवियों का विवरण नीचे दिया जाता है।

चिन्तामणि त्रिपाठी—ये तिकवाँपुर (ज़िला कानपुर) के निवासी थे। इनका जन्म-सवत् १६६६ के लगभग, कविता-काल १७०० के पास और मृत्यु अनिश्चित-सी है। भूषण तथा मतिराम इनके भाई बताए जाते हैं। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार ये नागपुर के राजा मकरंदशाह के दरबार मे रहा करते थे। उन्ही के नाम पर 'छन्द विचार' नामक पुस्तक लिखी। इनकी अन्य पुस्तकें 'काव्य-विवेक', 'कवि कुल कल्पतरु', 'काव्य प्रकाश' तथा 'रामायण' हैं। बाबू रुद्रसिंह सोलकी, जैनदी अहमद तथा मुगल सम्राट् शाहजहाँ ने इन्हे पर्याप्त पुरस्कार प्रदान किये थे।

इन्होने रसपूर्ण रचना को प्रधानता देकर अलकारों को यथोचित स्थान प्रदान किया और केशव के विपरीत दूसरे सम्प्रदाय के प्रथम कवि हुए। इनकी भाषा सुन्दर तथा अनुप्रासयुक्त है तथा यह विशुद्ध ब्रजभाषा है। शैली भी मनोहर तथा चित्ताकर्षक ही है। यह भाषा तथा भाव दोनों दृष्टियो से प्रशसा-योग्य है—

इक आजु मैं कुन्दन बेलि लखी मनि मन्दिर की रुचिवृन्द भरैं।
कुरविन्द के पल्लव इन्दु तहाँ अरविन्दन तैं मकरन्द भरैं॥

चिंतामणि रीतिकालीन प्रारम्भिक आचार्यो मे है। सिद्धान्तः यह रसवादी कवि थे। इनकी रचनाओं का आचार्यत्व की दृष्टि से महत्त्व तो है ही, इनके आचार्यत्व के कारण इनके काव्य के शुद्ध स्वरूप में भी किसी प्रकार की कमी नही आने पाई है। भाव, भाषा, शैली सभी की दृष्टि से इनकी काव्य-रचना ने रीतिकाव्य की परम्परा को समृद्ध किया है। वरषा की नवेली वधू के रूप मे चित्रित करते हुए कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

ओढ़ै नील सारी घन घटा कारी 'चितामनि'।
कंचुकी किनारी चारु चपला सुहाइ है।
इन्द्रवधू जुगनू जवाहिर की जगी जोति।
बग मुकतान माल कैंली छवि छाई है।

लाल पीत सेत वर बादर वसन तन।
बोलत सुभृंगी धुनि नूपुर बजाई है॥
देखिवे को मोहन नवल नट नागर को।
वरषा नवेली अलवेली वनि आई है॥

शृङ्गार रस का वर्णन चितामणि ने भी उत्कृष्ट रीति से किया है। उस क्षेत्र मे पाण्डित्य का प्रदर्शन-मात्र ही इनका अभीप्सित नही रहा। कही-कहीं शृङ्गार का वर्णन करते हुये अधिक मासल वर्णन की इनकी भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

आँखिन मूँदिवे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
कैहूँ कहूँ मुसकाय चितै अगराय अनूपम अंग दिखावै॥
नाह छुई छल सो छतियाँ हँसि भौंह चढ़ाय अनन्द बढ़ावै॥
जोवन को मदमत्त तिया हित सों पति कौ नित चित्त चुरावै॥

सैद्धान्तिक दृष्टि से भी काव्य मे रसराज शृङ्गार को ही अधिक प्रश्रय मिलता आ रहा है। कवि चिन्तामणि का आकर्पण भी शृगार के प्रति ही था। सरस सवैयो और कवित्तो मे शृङ्गार-प्रवृत्ति के चारु चित्र चितामणि ने उतारे है, यद्यपि उसमे परवर्ती कवियो-जैसी भगिमा नही आ पाई है।

विहारीलाल—इनका जन्म वसुआ गोविन्दपुर नामक गाँव मे, जो ग्वालियर के निकट है, सवत् १६६० के आसपास हुआ। ये माथुर चौवे कहे जाते हैं। एक दोहे के अनुसार इनका वचपन वुन्देलखण्ड मे वीता, लेकिन इनकी जवानी ससुराल मथुरा मे कटी। जयपुर के मिर्जा राजा जयसिह इनके आश्रयदाता थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि राजा जयसिह ने अपनी नवोढा पत्नी की आसक्ति मे प्राय. सारा राजकाज छोड दिया था। सरदारो की सलाह से अन्त पुर मे विहारी द्वारा लिखित यह दोहा भिजवाया गया, जिससे प्रभावित होकर राजा जयसिह फिर नियमत· राजकाज देखने लगे—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सो बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

इसके पश्चात् ये महाराज के अन्तरंग मित्र बन गए और उन्होने ऐसे ही सरस दोहो की रचना करने के लिए इनसे कहा। विहारी दोहे बनाकर सुनाने लगे और प्रत्येक दोहे पर एक-एक अशर्फी पाते थे। यही सात सौ दोहे सग्रहीत होकर 'विहारी सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये सम्भवत: सवत् १७२० तक जीवित रहे।

इनका एकमात्र ग्रन्थ यही 'सतसई' है, जिसमे ७१९ दोहे है। इसी के कारण विहारी ने हिन्दी-साहित्य में वह स्थान प्राप्त किया है, जो तुलसी-दासजी और सूरदासजी को छोड़कर ख्याति की दृष्टि से और सब कवियो से ऊँचा है। जनता का साहित्यिक कौतूहल इसके द्वारा इतना उत्तेजित हुआ है कि इसकी पचासों टीकाएँ लिखी गई हैं तथा 'विहारी-साहित्य' ही खड़ा हो गया है। इन टीकाओं मे कृष्णकवि की टीका तथा सूरति मिश्र की टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है। पं० परमानन्दजी ने इन दोहो का सस्कृत मे अनुवाद करके 'शृङ्गार-सप्तशती' की सज्ञा प्रदान की है।

विहारी की भाषा व्रजभाषा है, परन्तु इसमे बुन्देलखण्डी तथा अरबी-फारसी के शब्द भी पाए जाते है। यह चलती होने पर भी साहित्यिक है और अत्यन्त उत्कृष्ट है। वाक्य-रचना सुव्यवस्थित है तथा शब्द अन्य कवियो की भाँति तोड़े-मरोड़े नही गए है। मुहावरे के प्रयोग, समास-निर्णय-शक्ति, माधुर्य-चित्रमयता के कारण भाषा प्रवाहमयी एव शुद्ध परिमार्जित है। इनकी शैली मे व्यंग्य और सहृदयता के साथ ही वचन-चातुरी और रस के सचारी भावों का स्वाभाविक और रोचक मेल है, साथ ही व्यंजना-शैली पर फारसी-साहित्य का प्रभाव लक्षित होता है। इनके अलकारों के प्रयोग प्रशसनीय हैं तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, तद्गुण, अन्योक्ति इत्यादि के उदाहरण बहुत ही सुन्दर हैं।

इनकी इस रचना पर 'आर्या सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' नामक सस्कृत तथा प्राकृत के ग्रन्थो का प्रभाव पड़ा है। यही रचना इनकी कीर्ति की उज्ज्वल पताका है। कवि का यश अधिक लिखने के कारण नहीं प्रत्युत उसकी कविता के गुण के कारण होता है—'विहारी-सतसई' इनका

प्रमाण है। यह एक मुक्तक रचना है और बिहारी इसमें पूर्णरूपेण सफल हुए है। मुक्तक में प्रवन्ध-काव्य की विशालता और कथा की धारा मे पाठक को वहाने की शक्ति नही होती, किन्तु बिहारी जैसे सहृदय कवि द्वारा वह सावन की फुहार की तरह मन को मोहित कर सकता है। शृंगार के दोनो रूप सयोग और वियोग को लेकर इन्होने अपने दोहे लिखे है। वे हृदय पर तत्काल ही बड़ा गहरा असर करते है। उनमे ध्वनि या व्यग्य बहुत है, जिसके द्वारा पाठक का कौतूहल एक साथ जागरित होकर तृप्ति द्वारा आनन्द मे अपना अवसान करता है। इनमें मानव-जीवन के साधारण और स्वाभाविक प्रणय-व्यापारो का सूक्ष्मतम तथा मनोवैज्ञानिक निरीक्षण, कला-कुशलता एवं वाग्वैदग्ध्य, ये तीनो विशेष गुण लक्षित होते है, जिन्होने इनको प्रतिनिधि कवि के आसन पर प्रतिष्ठित किया हे। अतिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा के प्रयोग विरह-वर्णन मे वहुत हुए हैं, पर कही-कही उन्होने सीमा का उल्लघन-सा करके खिलवाड़ ही उपस्थित कर दिया है।

पत्राहि तिथि पाइये, वा घर के चहुँपास।
नित प्रति पून्योई रहैं, आनन ओप उजास।

इन्होने प्रेम का कितना उच्च आदर्श उपस्थित किया है—

गिरि से ऊँचे रसिक मन बूढ़े जहाँ हजार।
वहै सदा पशु नरन को प्रेम पयोधि पगार॥

आंगिक सौन्दर्य के वर्णन मे कवि सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु इस कवि की रचना हृदय-पट पर कोई अमिट प्रभाव नही उत्पन्न करती, जो स्थायी होकर पाठक को अपने मे निमज्जित करे। केवल वही सौन्दर्य हम उनकी कविता में पाते हैं, जो क्षण-मात्र के लिए ही रहता है। यदि कला-पक्ष के साथ ही उनका भाव-पक्ष भी उसी भाँति प्रधान होता तो वह एक अद्भुत कवि होते।

फिर भी उन्होने दोहे-जैसे छोटे छन्द को अपनाकर उसी के अन्दर अपने भाव तथा विचार भर दिए हैं। 'विहारी-सतसई' मे हमे पट् ऋतु

वर्णन तथा सुन्दर अन्योक्तियो के दर्शन होते है। डॉ० जार्ज ग्रियर्सन ने विहारी को 'भारत का टामसन' (Thompson of India) कहा है। नीति के दोहो की भी भरमार ही है। ये रीतिकालीन धारा के प्रमुख कवि हैं। जयदेव का अनुसरण करके इन्होने राधिका के भक्त होकर उन्ही की प्रार्थना की है। यह तो सच्चे रूप के पुजारी थे। मथुरा के वातावरण से प्रभावित न होकर विहारी की कल्पना ने शृगार-रस की जिस सुषमामयी वनस्थली मे विचरण किया उसमे वह अद्वितीय रही। इन्होने रहस्यात्मक कल्पना तथा नख-शिख-वर्णन दोनो प्रकार की सौन्दर्य-धारणाओ का अनुपम वर्णन किया है। इनके छोटे-छोटे दोहे रस के छीटे ही नही प्रत्युत गागर मे भरे हुए रस के सागर हैं, जो कमनीय कामिनियो के कलित हाव-भावो और अनुभवो की लहरियो से निरन्तर तरगायित होते रहते हैं। अत: इनके विषय मे यह प्रसिद्ध है—

सतसइया के दोहरे ज्यो नावक के तीर।
देखन में छोटे लगे, घाव करें गम्भीर॥

मतिराम—रीतिकालीन धारा मे मतिराम का एक विशिष्ट स्थान है। यह चिन्तामणि तथा भूषण के भाई कहे जाते हैं। इनका जन्म स० १६७४ मे तिकवाँपुर मे हुआ था। इनकी मृत्यु संवत् १७७३ मे मानी जाती है। वूंदी-नरेश महाराजा भावसिंह इनके आश्रयदाता रहे। यह 'छन्दसार', 'रसराज', 'ललितललाम', 'साहित्यसार', 'लक्षण-शृगार', तथा 'मतिराम सतसई' के रचयिता कहे जाते हैं।

इनकी रचना की सबसे वडी विशेषता यह है कि वह अत्यन्त सरस तथा स्वाभाविकता का पुट लिये हुए हैं। शब्द भाव-व्यजना को ही स्फुट करते हुए पाये जाते है। शब्द-जाल तथा आडम्बर से हीन भाषा भी स्वाभाविक ही है, परन्तु अनुप्रासों की इसमे विशेषता है। विहारी के समान इनके अन्दर कृत्रिम भावों का समावेश नही है। भावो को आकाश पर चढाने और दूर की कल्पना के फेर मे यह नही पड़े। इनका सच्चा कवि-हृदय था। यदि यह रीतिकालीन परम्परा का अनुगमन न करके स्वतन्त्र

रूप से अपने भावो को व्यक्त करते तो और सफल होते। इनकी चलती तथा प्रसाद-गुण-सम्पन्न कोमल ब्रजभाषा मे हम सरल व्यंजना पाते है। यह अनुभूति के मर्मस्पर्शी चित्र खीचने मे अत्यन्त सफल हुए है।

जहाँ तक कवि के काव्य से सम्बन्ध है, मतिराम उच्च कोटि के कवियो मे अपना स्थान रखते है। इनकी रचना स्वाभाविक, सरल तथा स्पष्ट है।

देव—यह इटावा के रहने वाले थे तथा इनका पूरा नाम देवदत्त था। इन्होने सबसे पहले सोलहवे वर्ष में 'भाव-विलास' की रचना करके औरंगजब के बड़े पुत्र काव्य-रसिक आजमशाह को सुनाया। फिर यह भवानीदत्त वैश्य, कुशलसिंह, राजा उदोतसिंह आदि के आश्रय में रहे। इन्होने भारत के कई प्रान्तो का भ्रमण भी किया।

रीतिकालीन कवियो मे देव ने सबसे अधिक ग्रन्थ लिखे। इनके ग्रन्थो की संख्या लगभग बहत्तर बताई जाती है, पर उनमे से पच्चीस ही उपलब्ध है। इनमे 'भाव-विलास', 'अष्टयाम', 'भवानी-विलास', 'सुजान-विनोद', 'प्रेमचन्द्रिका' एव 'रस-विलास' आदि मुख्य है। इनका जन्म सं० १७३० मे और मृत्यु सवत् १८२० के आसपास हुई।

इन्होंने रचना के लिए सवैया तथा घनाक्षरी छन्द को ही अपनाया, पर घनाक्षरी को प्रधानता प्रदान की। इनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है तथा इसमे कोमलता, सरलता एवं प्रवाह है। शब्द-भण्डार भी विकसित ही है, पर शब्दो की तोड़-मरोड़ इन्होने भी की है। कविता मे प्रचलित लोकोक्तियो का उचित समावेश है—

कालिह के जोगी कलिंदे को खप्परु,
सूझत साँझ मियान कछू, सुदिया न बरै कहूं कारे के आगे।

एक ही छन्द मे कई अलकार, गुण, लक्षण, व्यंजना, ध्वनि इत्यादि के सम्यक् दर्शन होते है।

इनका काव्य-क्षेत्र सकुचित न होकर व्यापक है, अतः इनकी चित्तवृत्ति मर्मस्पर्शी है। यद्यपि इन्होने लौकिक प्रेम को ही अपनाया पर अपने को उसी मे इतना डुबो दिया कि हमे उसमे सच्चे प्रेम के दर्शन होते है।

इनकी रचनाओ मे एक क्रमिक विकास परिलक्षित होता है, जो स्वाभाविक तथा अनूठा है। यौवन के उन्माद, शृगार इत्यादि के अतिरिक्त सयम भी इनकी रचनाओ में विद्यमान है तथा प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता आदि गुण भी सर्वत्र पाये जाते है। हृदय पर चोट तथा मार्मिक अन्तस्तल को वेधने वाले भाव की प्रचुरता भी इनमे है—

सांवरे लाल को सांवरे रूप में नैननि को कजरा करि राख्यो।

× × ×

देव कछू अपनो वस ना रस लालच लाल चितै भई चेरी।

यद्यपि इन्होने अपने को कवि तथा आचार्य दोनो रूपो में प्रकट किया है, पर इनका झुकाव रीति-सम्बन्धी कला की ओर न होकर उच्च कविता की ओर ही रहा और बन्धन-विमुक्त होकर अपने काव्य में यह अपने को व्यक्त कर सके। यद्यपि इनके अन्दर उस पाण्डित्य का हम दर्शन नही पाते जो आचार्य केशव मे विद्यमान था, पर कमनीय कल्पनाओ की अनुपम शक्ति के विकास के कारण और अनुभवी सूक्ष्मदर्शी एव सहृदय होने से यह इस काल के प्रमुख कवि ठहरते हैं। इनकी रचनाओ मे शब्द-लालित्य, अनुप्रास एवं अलंकार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गए है और कवित्व-शक्ति तथा मौलिकता इन्हें एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

राजा जसवन्तसिंह—यह जोधपुर के अत्यन्त पराक्रमी, देशभक्त, विद्वान् और साहित्य-रसिक शासक थे। इनका जन्म संवत् १६८३ मे और मृत्यु संवत् १७३५ मे काबुल में अफगानों से लडते हुए हुई। औरंगज़ेब के यहाँ इनका बडा सम्मान था और यह शिवाजी के विरुद्ध भेजे भी गए थे। इन्होने 'भाषा-भूषण', 'अपरोक्ष सिद्धान्त', 'अनुभव-प्रकाश', 'आनन्द-विलास' आदि की रचना की थी।

'भाषा-भूषण' सस्कृत के 'चन्द्रालोक' का प्रायः अनुवाद है, जिसमें एक ही दोहे मे लक्षण तथा उदाहरण दोनों विद्यमान हैं। इनकी ख्याति हिन्दी के प्रधान आचार्यों मे है और उपर्युक्त ग्रन्थ को बहुत ही सम्मान प्राप्त है।

रूप से अपने भावों को व्यक्त करते तो और सफल होते। इनकी चलती तथा प्रसाद-गुण-सम्पन्न कोमल ब्रजभाषा में हम सरल व्यंजना पाते है। यह अनुभूति के मर्मस्पर्शी चित्र खीचने मे अत्यन्त सफल हुए है।

जहाँ तक कवि के काव्य से सम्वन्ध है, मतिराम उच्च कोटि के कवियो मे अपना स्थान रखते है। इनकी रचना स्वाभाविक, सरल तथा स्पष्ट है।

देव—यह इटावा के रहने वाले थे तथा इनका पूरा नाम देवदत्त था। इन्होंने सवसे पहले सोलहवे वर्ष में 'भाव-विलास' की रचना करके औरंगजव के वड़े पुत्र काव्य-रसिक आजमशाह को सुनाया। फिर यह भवानीदत्त वैश्य, कुशलसिह, राजा उदोतसिह आदि के आश्रय मे रहे। इन्होने भारत के कई प्रान्तो का भ्रमण भी किया।

रीतिकालीन कवियो मे देव ने सवसे अधिक ग्रन्थ लिखे। इनके ग्रन्थो की संख्या लगभग वहत्तर वताई जाती है, पर उनमें से पच्चीस ही उपलब्ध है। इनमे 'भाव-विलास', 'अष्टयाम', 'भवानी-विलास', 'सुजान-विनोद', 'प्रेमचन्द्रिका' एव 'रस-विलास' आदि मुख्य है। इनका जन्म सं० १७३० में और मृत्यु सवत् १८२० के आसपास हुई।

इन्होने रचना के लिए सवैया तथा घनाक्षरी छन्द को ही अपनाया, पर घनाक्षरी को प्रधानता प्रदान की। इनकी भाषा शुद्ध व्रजभाषा है तथा इसमें कोमलता, सरलता एव प्रवाह है। शब्द-भण्डार भी विकसित ही है, पर शब्दो की तोड़-मरोड इन्होने भी की हैं। कविता मे प्रचलित लोकोक्तियों का उचित समावेश है—

कालिह के जोगी कलिंदे को खप्परु,
सूझत साँझ मियान कछू, सुदिया न वरै कहूँ कारे के आगे।

एक ही छन्द मे कई अलकार, गुण, लक्षण, व्यजना, ध्वनि इत्यादि के सम्यक् दर्शन होते है।

इनका काव्य-क्षेत्र संकुचित न होकर व्यापक है, अतः इनकी चित्तवृत्ति मर्मस्पर्शी है। यद्यपि इन्होने लौकिक प्रेम को ही अपनाया पर अपने को उसी मे इतना डुवो दिया कि हमे उसमे सच्चे प्रेम के दर्शन होते है।

इनकी रचनाओ मे एक क्रमिक विकास परिलक्षित होता है, जो स्व
तथा अनूठा है। यौवन के उन्माद, शृंगार इत्यादि के अतिरिक्त
इनकी रचनाओं मे विद्यमान है तथा प्रसाद, समता, माधुर्य, सु
आदि गुण भी सर्वत्र पाये जाते है। हृदय पर चोट तथा मार्मिक
को वेधने वाले भाव की प्रचुरता भी इनमे है—

साँवरे लाल को साँवरे रूप में नैननि को कजरा करि राख

× × ×

देव कछू अपनो बस ना रस लालच लाल चितै भई चे

यद्यपि इन्होने अपने को कवि तथा आचार्य दोनो रूपो में प्र
है, पर इनका झुकाव रीति-सम्बन्धी कला की ओर न होकर उच्च
की ओर ही रहा और बन्धन-विमुक्त होकर अपने काव्य में यह
व्यक्त कर सके। यद्यपि इनके अन्दर उस पाण्डित्य का हम दर्शन
जो आचार्य केशव मे विद्यमान था, पर कमनीय कल्पनाओं क
शक्ति के विकास के कारण और अनुभवी सूक्ष्मदर्शी एव सहृद
यह इस काल के प्रमुख कवि ठहरते हैं। इनकी रचनाओ मे शब्द-
अनुप्रास एव अलकार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गए है और
शक्ति तथा मौलिकता इन्हें एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि सिद्ध करने
पर्याप्त है।

राजा जसवन्तसिंह—यह जोधपुर के अत्यन्त पराक्रमी,
विद्वान् और साहित्य-रसिक शासक थे। इनका जन्म सवत् १६८
मृत्यु संवत् १७३५ मे काबुल में अफगानो से लड़ते हुए हुई। औ
यहाँ इनका बडा सम्मान था और यह शिवाजी के विरुद्ध भेजे भी
इन्होने 'भाषा-भूषण', 'अपरोक्ष सिद्धान्त', 'अनुभव-प्रकाश',
विलास' आदि की रचना की थी।

'भाषा-भूषण' संस्कृत के 'चन्द्रालोक' का प्रायः अनुवाद है, वि
हा दोहे में लक्षण तथा उदाहरण दोनों विद्यमान हैं। इनकी ख्या
के प्रधान आचार्यों मे है और उपर्युक्त ग्रन्थ को बहुत ही सम्मान

इन्होंने कविता करने की दृष्टि से नही, प्रत्युत् विषय के सम्यक् प्रतिपादन के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी बाद में तीन टीकाएँ भी हुई।

महाकवि भूषण—वीर-रस के यशस्वी कवि भूषण का जन्म कानपुर के तिकवांपुर गाँव मे संवत् १७६० मे हुआ था। यह लोक-प्रसिद्ध बात है कि मतिराम तथा चिन्तामणि इनके भाई थे और ये शिवाजी के समकालीन थे। लोग इस बात से सहमत नही है, पर जब तक हम अकाट्य प्रमाणों से इन्हे पूर्णतया संदिग्ध न सिद्ध कर दे इन्हे बिलकुल मिथ्या नही मान सकते। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था तथा ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। 'भूषण' इनका असली नाम नही है, प्रत्युत् प्रसिद्ध सोलंकी राजा रुद्रदेव द्वारा प्रदत्त उपाधि-मात्र है। पर इस उपाधि ने अपने सामने इनके असली नाम को ही लुप्त कर दिया और विद्वानों के लिए वह विवाद का विषय हो गया है। कुछ लोग असली नाम 'कन्नौज', पर अधिकांश लोग 'मनिराम ही मानते हैं।

यद्यपि भूषण की वीर-रचनाओ से स्पष्ट यही प्रकट होता है कि युद्ध के समय भी ये प्राय: शिवाजी के साथ थे, पर कुछ लोग इन्हे शिवाजी का समकालीन न मानकर उनके लडके शाहजी के समय का बतलाते हैं। छत्र-साल के भी यहाँ ये रहे। ऐसा कहा जाता है कि इनके एक-एक छन्द पर शिवाजी ने कई गाँव, लाखों रुपये तथा कई हाथी अर्पित कर दिए। इनका परलोकवास संवत् १७७२ में माना जाता है।

इनके ग्रन्थो मे 'शिवराज-भूषण', 'शिवाबावनी' तथा 'छत्रसाल-दशक' ही प्राप्य हैं। 'भूषण-उल्लास', 'दूषण उल्लास' और 'भूषण-हजारा' भी इन्ही की रचनाएँ कही जाती हैं। यद्यपि इनकी भाषा ब्रजभाषा है, तथापि उसमें राजस्थानी, अरबी, फारसी, संस्कृत इत्यादि के तत्सम शब्दो का बाहुल्य है, साथ ही बुन्देलखण्डी का भी यथेष्ट पुट है। इसमें लोकोक्ति तथा मुहावरे भी पाये जाते है। शब्दो की तोड-मरोड भी इन्होंने बहुत की है।

रीति-काल के कवियो ने औरगज़ेबी तलवार के घाट उतरने व
निरीह जनता का हाहाकार, अनाथ बच्चो के करुण-क्रन्दन इत्यादि
विशेष ध्यान नही दिया। पर 'भूषण' इस ओर से अपने को नही रोक स
वे वीरता के पुजारी थे और आश्रयदाताओ के विलास-रूप को तिला
देकर समाज को उन्नत तथा उचित मार्ग पर ले जाने के लिए उन
इतिहास-प्रसिद्ध वीरो को अपना नायक बनाया, जो औरगज़ेब के धा
कट्टरपन के कारण आत्म-रक्षा और प्रतिकार की भावना लिये हुए सः
के सम्मुख उपस्थित हुए थे। ये वीर मराठा शक्ति के सगठन करने
छत्रपति शिवाजी और बुन्देलखण्ड के राजा छत्रसाल थे।

ये आत्म-सम्मान के प्रेमी थे और स्वराष्ट्र की भावना भी इनमे
कूटकर भरी थी। अत. न तो इन्होने अपने नायकों की झूठी प्रशसा मे
पृष्ठ रँगे और न जनता की कुत्सित वृत्तियो को उत्तेजित करने व
श्रृंगारिक कविता ही की, प्रत्युत अत्याचार का दमन करने वाले देश
समाज की स्वतन्त्रता के सच्चे पुजारी, महापराक्रमी पुरुषों की स
वीरता का चित्र उपस्थित करके कवि-कर्तव्य का पूर्णरूपेण पालन कि
अतः इनके हृदय के ये उद्‌गार वीर रस से ओत-प्रोत तथा ओजस्वं
जिन्हे पढकर कायरो की धमनियो मे भी रक्त-सचार बढ जाता
युद्ध और शौर्य के वर्णन के साथ-ही-साथ इन्होने अपने नायक के प्र
वर्णन को भी सामने रखा है; भयानक, वीभत्स और रौद्र रसों को
रस के स्वाभाविक सहायक होने के कारण अपनाया है; यश तथा
जो राजा के विशिष्ट गुण है, उनका भी उचित समावेश है। जातीय ग
और राष्ट्रीय भावना भूषण की कविता के प्राण हैं, अत· ये अपने यु
महान् नायक हैं। इनकी कविताओं मे शकर का ओजपूर्ण रूप है औ
हिन्दू-जीवन के गौरव-किरीट हैं।

पर भूषण भी समय के प्रवाह के अनुसार रीतिकालिक परम्प
अपने को अलग नही रख सके और इस भाँति उसी मे बहकर इन्होने अ
ग्रन्थ 'शिवराज-भूषण' अलकार-ग्रन्थ के रूप में उपस्थित किया। पर

लक्षण स्पष्ट तथा ठीक नही है। इसी फेर मे पड़ने से भूषण अपनी प्रतिभा का पूर्ण उपयोग नही कर पाए। यदि यह ग्रन्थ लक्षण तथा उदाहरणो से युक्त आलकारिक ग्रन्थ न होकर जीवन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने वाला वीर रस-प्रधान प्रवन्ध-काव्य होता, तो जनता और भी खुले हृदय से इसका स्वागत करती। वीरगाथा-काल के वीर-साहित्य से इस साहित्य मे अन्तर है। इसमे प्रत्येक वस्तु को वैयक्तिक रूप न देकर राष्ट्रीय रूप ही प्रदान किया गया है। साथ ही इनकी रचनाओं में ऐतिहासिकता अपने शुद्ध रूप मे विराजमान है। इन्होने कुछ फुटकल छन्द श्रृंगार रस पर भी लिखे है, पर उनमे भी रण-ध्वनि की झलक आ गई है—

नैन युग नैननि से प्रथमै लड़े हैं धाय,
अधर कपोल तेऊ टरे नाहीं टरे हैं।

छत्रसाल की कृपाण का कितना सजीव चित्रण है—

भुज भुजगेस की वैसंगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाति दीह दारुन दलन के।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने वीर,
तेरो बरछी ने बरछीने हैं खलन के॥

अर्थालंकार तथा शब्दालंकार दोनो की सुन्दर झलक हम इनमे पाते है। पराजित जाति के भीतर विजय का शखनाद करने वाले महाकवि भूषण का मूल्यांकन उनके काव्य-गुणों पर न होकर राष्ट्रीय निष्ठा पर है, अत. इसी निष्ठा के वल पर इनकी कविताएँ ओजस्विनी, आशा और वीरदर्प-पूर्ण है।

भूपण के पश्चात् रीतिकाल के अन्तर्गत ही वीर रस-प्रधान ये कविताएँ होती रही और इनमे लाल तथा सूदन इत्यादि मुख्य कवि हुए, जिन्होंने छत्रसाल तथा सूरजमल्ल जाट की वीरता के चित्र उपस्थित किये। मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिनो मे वीर रस-प्रधान ये कविताएँ चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई।

भिखारीदास—ये प्रतापगढ के रहने वाले थे तथा वहां के सोमवंशी

राजा पृथ्वीपतिसिंह के आश्रय मे रहते थे। इनके लिखे ग्रन्थ 'रस-सारांश', 'छन्दोर्णव पिंगल', 'काव्य-निर्णय' आदि है, जिनमे इन्होने काव्यागों का निरूपण किया है और छन्द, रस, अलंकार, रीति आदि का विस्तृत विवेचन है। इन्होने परकीया प्रेम का स्पष्ट अकन किया है। शृंगार ही इनका मुख्य विषय रहा है। अन्य कवियो की भाँति कवि तथा आचार्य दोनो के झगड़े में पडकर ये भी पूर्ण सफल नही हुए और लक्षण तथा उदाहरण भ्रामक तथा अशुद्ध ही उपस्थित कर पाए। फिर भी यह रस-विवेचन, भाषा की स्वाभाविक सरसता तथा शब्दाडम्बरहीनता आदि दृष्टियो से देव से उत्कृष्ट प्रतीत होते है। इनमे नीति की सूक्तियो का भी उचित समावेश है।

इन्होने कल्पना की ऊँची उड़ाने नही भरी हैं, प्रत्युत प्रत्येक वर्णन को बड़े ही सीधे तथा स्वाभाविक ढंग से व्यक्त किया है।

पद्माकर भट्ट—रीति-काल के अन्तिम चरण के सहृदय कवियो मे पद्माकर का उच्च स्थान है। यह बाँदा-निवासी तैलंग ब्राह्मण मोहनलालजी भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १८१० मे और मृत्यु सवत् १८९० मे कानपुर मे हुई। इनकी रचना अत्यन्त ही रमणीय है। भारत के अनेक राजाओं के आश्रय मे ये रहे, जिनमे रघुनाथ राव, जयपुर-नरेश प्रतापसिंह, सुगरा के अर्जुनसिंह, उदयपुर के राणा भीमसिंह, ग्वालियर नरेश दौलतराव सिन्धिया आदि मुख्य थे, जहाँ इन्हे सम्मान तथा धन इत्यादि प्राप्त हुए थे। इनके ग्रन्थो मे 'हिम्मत बहादुर बिरुदावली', 'जगद्विनोद', 'पद्माभरण', 'प्रबन्ध-पचासा', 'गंगा-लहरी' और 'रामरसायन' अत्यन्त प्रसिद्ध है। 'हिम्मत बहादुर बिरुदावली' वीर-रस-प्रधान ग्रन्थ है तथा 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' रीति तथा अलंकार-सम्प्रदाय को प्रतिपादित करने वाले शृंगारिक ग्रन्थ है। 'राम-रसायन' तथा 'गंगा-लहरी' भक्तियुक्त रचनाएँ हैं।

भाषा की सब शक्तियो पर इनका सम्यक् अधिकार परिलक्षित होता है। यह मधुर पदावली से युक्त, वीर को उन्मत्त करने मे समर्थ तथा अन्त

मे शान्तिप्रदायिनी है और परिस्थिति के अनुसार ही इसका प्रयोग हुआ है। अनुप्रासयुक्त होने पर भी कविता में स्वच्छ प्रवाह है तथा वह मनुष्य के आन्तरिक भावो को लेकर ही चली है। शृंगार-रस मे तो इन्हे इतनी ख्याति प्राप्त हुई कि बाद के अनेक कवियों ने अपने अश्लील भावों को व्यक्त करने के लिए इन्ही के नाम से अपनी कविताएँ लिखी। उत्कृष्ट कल्पना की उडान, विषय-विवेचन की विशुद्धता, मधुर तथा हाव-भाव की मूर्ति खडी करने वाली अनुभूति तथा शब्दों की लाक्षणिकता के कारण रीति-काल के प्रसिद्ध कवियों मे इन्हे स्थान प्रदान किया जाता है। इनके छन्द स्वाभाविक रूप मे उपस्थित होकर पाठक के हृदय मे तरंगों का स्पन्दन करके एक स्थायी प्रभाव उत्पन्न करते है——

तौ ही लगि चैन जोलौ चेति है न चन्दमुखी
चेतेगी कहूँ तो चाँदनी में चुरि जायगी।

ऋतु-वर्णन भी अत्यन्त उत्तम है——

वनन में बागन में बगरो बसन्त है।

अत हम यह कह सकते है कि रीति-काल-रूपी मधुमास के पद्माकर अन्तिम पुष्प है, जिन्होने विकसित होकर साहित्य-वाटिका के सौन्दर्य की अभिवृद्धि की।

इस परम्परा के अन्य कवियो में बेनी, कुलपति मिश्र, नेवाज़, सूरति मिश्र, कृष्णकवि, गञ्जन, तोषनिधि, सोमनाथ, रसलीन, दूलह, बेनी प्रवीन, ग्वाल कवि, पतापसाहि तथा रसिक गोविन्द इत्यादि हुए, जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थो का निर्माण करके परम्परा का निर्वाह किया। कुछ कवि कविता के शृखलाबद्ध, नियन्त्ति तथा रीतिबद्ध होने से ही पानी की बाढ की भाँति साहित्य मे उपस्थित हुए थे। कवि-समाज कविता को हृदय की उपज न मानकर पाण्डित्य-दर्शन को प्रधानता देने लगा था। अतः भाव-पक्ष प्रधान न होकर काव्य-कला-पक्ष हा प्रधान हा गया। कविता का वास्तविक सौन्दर्य, जो कि हृदय को परमानन्द मे निमज्जित करने वाला होता है, भुला दिया गया और कविता मे कृत्रिमता का समावेश हुआ। अत. कवि

अलंकार-ग्रन्थ-निर्माता ही हुए तथा वे उसमे भी पूर्ण सफल नही हुए। इनकी कविता मर्मस्थल को वेधने वाली तथा उच्चादर्श को स्थापित करने वाली न होकर एक बनावटी पथ की ओर शृंगार का पुट लिये हुए ही चली।

वेनी—इनका निवास प० रामचन्द्र शुक्ल ने असनी वताया है और इनका समय सम्वत् १७०० के आसपास है। वेनी कवि का कोई सम्पूर्ण ग्रथ उपलब्ध नही होता, लेकिन इनके स्फुट पदो से ही इनके काव्यत्व का परिचय मिलता है। अन्य कवियो की तरह कवि वेनी ने भी नख-शिख-वर्णन की परम्परा मे काव्य-रचना की है।

करि की चुराई चाल सिंह को चुरायो लंक
शशि को चुरायो मुख नासा चोरी कीर की।
पिक को चुरायो बैन मृग को चुरायो नैन
दसन अनार हाँसी बीजरी गम्भीर की॥
कहे कवि बेनी बेनी ब्याल की चुराइ लीन्हीं।
अब तो कन्हैया जू को चित हू चुराइ लीन्हों।
छोरटी है गोरटी या चोरटी अहीर की॥

नख-शिख-वर्णन के अतिरिक्त ऋतुओं पर लिखी कवि की अच्छी रचनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। ऋतु-वर्णन मे निश्चित रूप से शृंगार के उभय-पक्ष वियोग एवं संयोग की उद्दीप्ति मिलती है। कवि का पावस ऋतु का हृदयहारी वर्णन अनुपम वन पड़ा है।

कवि वेनी नई उनई है घटा मोरवा वन बोलत कूकन री।
लहरै विजुरी छिति मंडल छ्वै लहरै मन मैन भभूकन री॥
पहिरी चुनरी चुनिकै दुलही संग लाल के झूलहु झूकन री।
ऋतु पावस यो ही वितावित हौं मरिहौं फिर बावरि ! हूकन री।

अनुप्रास-युक्त प्रवाहमान भाषा-शैली मे अद्भुत रस-निर्वाह कवि का वशिष्ट्य है। वेनी कवि के समकालीन अन्य कवियो मे भी इसी प्रकार की अनुप्रास-सयुक्त भाषा पाई जाती है। रीतिकाल मे प्रचलित कवित्त, सवैया

आदि छन्दो को ही बेनी कवि ने अधिक प्रश्रय दिया है।

कुलपति मिश्र—कुलपति मिश्र का जन्म आगरे मे हुआ था और ये रामसिंह के दरबार से सम्बद्ध थे। 'रस-रहस्य' काव्यशास्त्र पर उनका निर्मित ग्रंथ है जिसमे उपर्युक्त बातो का उल्लेख मिलता है। ग्रथ-रचना-काल सवत १७२७ उल्लिखत है।

बसत आगरे आगरे गुनियन की जहँ रास।
विप्र मथुरिया मिश्र है हरि चरनन के दास॥
अमुक मिश्र तिन वंश में परसराम जिमि राम।
तिनको सुत कुलपति कियो रसरहस्य सुखधाम॥

× × ×

राजाधिराज जयसिंह सुव जित्त कियउ सब जगत बसि।
अभिराम काम सम लसत महि रामसिंह कूरम नलसि॥

—रसरहस्य

'रस-रहस्य' के अतिरिक्त इनकी कुछ और अन्य कृतियाँ भी उपलब्ध हुई है, लेकिन इनकी ख्याति का आधार मात्र उक्त काव्य ही है। इस काव्य की रचना कुलपति ने मम्मट के काव्य प्रकाश के आधार पर की है। ब्रजभाषा पर मातृ-भाषा होने के कारण कवि का अधिकार है, लेकिन लक्षण करते समय ब्रजभाषा गद्य का उत्कृष्ट निर्वाह नही बन पाया है। रसो के प्रतिपादन मे शास्त्रीय स्तर की प्रौढता अवश्य मिलती है, लेकिन काव्य की दृष्टि में वह बहुत उदात्त स्थिति को स्पर्श नही करते। उनके काव्य मे भावना और कल्पना की दृष्टि से वह विशेषता नही आ सकी है जो आचार्यत्व की दृष्टि से। वस्तुत कुछ आलोचकों की दृष्टि मे ये आचार्य प्रथम है और कवि बाद मे। इनके कुछ कवित्त और सवैये सरस एवं भव्य बन पड़े है।

देह धरी पर काजहि कौं जग माँझ है तोसी तुही सब लायक।
दौरे थके अंग स्वेद भयो समझी सखी हाँ न मिले सुखदायक॥

मोहो सौं प्यार जनायो भलो विधि जानी जु जानिहि तू निको नायक ।
साँच की मूरति सील की सूरति मंद किए जिन काम के सायक ॥

सूरति मिश्र—ये आगरा निवासी थे और इनका जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण-कुल मे हुआ था। इनके द्वारा रचित ग्रथ 'अलकारमाला', 'रस-माला', 'सरस रस', 'रसग्राहक चन्द्रिका', 'नखशिख', 'काव्य-सिद्धान्त', 'रस-रत्नाकर' इत्यादि वताए जाते हैं। 'अमर चन्द्रिका' नाम से इन्होने विहारी की सतसई की टीका लिखी है। उन्होने 'कविप्रिया' और 'रसिक-प्रिया' की भी क्रमश टीकाएं लिखी हैं। वैताल पंचविंशति का इन्होने अपनी समकालीन व्रजभाषा गद्य मे अनुवाद किया है। 'काव्य-सिद्धान्त' नामक ग्रथ की रचना इन्होने 'काव्य प्रकाश' के आधार पर की है और इसमे आपने ध्वनि-सम्प्रदाय की वातो की विवेचना की है। वस्तुत. यही कारण है कि इन्हे ध्वनि सम्प्रदाय से सम्वद्ध आचार्य कवि माना जाता है। काव्य की इनकी अपनी एक विशिष्ट परिभाषा भी है, जो वहुत कुछ व्यापक एव विचारणीय है।

वरनन मन रंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि को जुतिहिं काव्य कहत सब कोइ ॥

अपने इस ग्रंथ मे कवि ने व्यापक रूप से काव्य के शास्त्रीय दृष्टि से विवेच्य विपयो पर विचार किया है। वर्ण्य विषय गम्भीरता से प्रतिपादित हैं। आचार्यत्व के अतिरिक्त इनके सरल पदो से इनकी काव्य पटुता का परिचय मिलता है।

तेरे ये कपोल वाल अति ही रसाल
मन जिनको सदाई उपमा विचारियत है।
कोउ न समान जाहि कीजै उपमान
अरु वापुरे मधूकन की देह जारियत है ॥
नेकु दरपन समता की चाह करी कहूँ
भए अपराधी ऐसो चित्र धारियत है।

'सूरति' सो याही ते जगत बीच आज हूँ लौं
उनके बदन पर छार डारियत है ।।

'अमर चन्द्रिका' का रचना-काल स० १७६४ वि० उल्लिखित है जिस पर विद्वानो का अनुमान है कि ये १८वी शताब्दी में स्थित रहे होगे।

श्रीपति—इनका निवास-स्थान कालपी था और ये भी कान्यकुब्ज ब्राह्मण-कुल मे पैदा हुए थे । इन्होंने सात ग्रथो की रचना की थी, जिन्हे क्रमश. 'कवि कल्पद्रुम', 'रस-सागर', 'अनुप्रास विनोद' 'विक्रम विलास', 'सरोज विलास', 'अलकार विलास' और 'काव्य सरोज' के नाम से जाना जाता है। वर्तमान मे खोज के परिणाम स्वरूप विद्वानो को 'काव्य सरोज' नामक रचना उपलब्ध हुई है। इसका रचना-काल इन लोगों ने वि० स० १७७७ निर्दिष्ट किया है। काव्य सरोज की रचना का आधार-ग्रथ भी 'काव्य प्रकाश' ही है। कवि रसवादी आचार्य है। कवि के अनुसार काव्य की परिभाषा यो है।

शब्द अर्थ बिनु दोष गुन अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिए श्रीपति परम सुजान ।।

काव्य के मानो का शास्त्रीय विवेचन करने के अतिरिक्त यह कवि काव्य के गुण-दोषो का भी विवेचन करता है और साथ ही वह अपने समकालीन एव पूर्ववर्ती कवियो के काव्य के माध्यम से दोष का विवेचन भी करता है, जो उसकी जागरूकता का परिचायक है।

रसवादी होने के कारण रस-निर्वाह का आग्रह इनकी अधिकाश रचनाओ मे उपलब्ध होता है। इन्होने अपनी अभिव्यजना के लिए उपयुक्त भापा का भी आयोजन किया है। काव्य-सौष्ठव का उदाहरण देखिए।

कंत बिन भावत सदन ना सजनि
सो पै विरह प्रबल मैन मंत कोप्यौ बाढ़ के।
श्रीपति कलोलैं बोलै कोकिल अमोलैं
खोल मौन गांठ तो पै गौन राखे आढ़ आढ के ।।

हहरि हहरि हिय कहरि कहरि करि
थहरि थहरि दिन बीते जिय गाढ़ के।
लहरि लहरि बिज्जु फहरि फहरि आवै
घहरि घहरि उठै बादर असाढ़ के।।

सोमनाथ—का जन्म माथुर ब्राह्मण कुल मे हुआ था। इनके आश्रय-दाता भरतपुर के अधिपति प्रतापसिंह थे। इन्होने 'रस पीयूष निधि', 'शृंगार विलास', 'कृष्ण लीलावली', 'पचाध्यायी', 'सुजान विलास' और 'माधव विनोद' नामक ग्रथो की रचना की थी। आपने प्रसिद्ध ग्रथ 'रस पीयूष निधि' की इक्कीस तरगो में कवि ने मगलाचरण और विविध देवता स्तुति से प्रारम्भ कर विविध काव्यशास्त्रीय विषयो का विवेचन किया है। इनका दूसरा ग्रथ 'शृङ्गार विलास' मौलिकता की दृष्टि से बहुत कुछ महत्वपूर्ण नहीं है। इसमें प्रथम ग्रथ की सामग्री ही सात तरंगो मे प्रस्तुत की गई है।

सोमनाथ ने अपने ग्रथ रस पीयूष निधि से ही काव्ययश अर्जित किया गया है। कवि का उद्देश्य इस ग्रंथ से यह दिखाई पडता है कि सरलतम प्रक्रिया मे काव्यशास्त्र विषयक सामग्री से पाठको को प्रशिक्षित किया जाए। कवि रसवादी आचार्य है और उसका रस-वर्णन ध्वनि से प्रभावित होते हुए हुआ है। अपने इस ग्रंथ में काव्यशास्त्र के प्रतिपादन मे कवि ने अगर एक ओर विश्वनाथ, मम्मट का आश्रय लिया है तो दूसरी ओर हिन्दी के कुलपति, जसवन्तसिंह एव भानु मिश्र इत्यादि लक्षणकारों का भी आश्रय लिया है। कवि के काव्य का लक्षण-भाग अत्यन्त ही सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है। स्वकीया नायिका का लक्षण निरूपित करते हुए कवि ने कहा है।

निज पति ही सौं प्रीति अति तन मन वचन बनाय।
ताहि स्वकीया नाइका कहत सकल कविराय।।

काव्यत्व की दृष्टि से भी इनकी रचनाओ में चमत्कृति के स्थान पर भावाभिव्यक्ति की गहराई मिलती है। काव्य मे इनका एक नाम शशिनाथ

भी मिलता है।

हरि तौ मनुहार मनाइ गए जिनपै जियरा रति पारति है।
'ससिनाथ' मनोज की ज्वालनि सौं अब कुन्दन सौं तन जारति है।।
उठ लेटति सेज पै चन्द्रमुखी पछ्ताइ कै पौरि निहारत है।
न कहै मुख तें दुख अन्तर को अँसुआनि सों आँखि पखारति है।।

कृष्ण कवि—इनका जन्म भी माथुर चौवे कुल मे हुआ था। लोक मे प्रचलित है कि यह विहारी के सुपुत्र थे। विहारी सतसई की टीका का निर्माण इन्होने किया है जिसके आधार पर इन्हे भी महाराज जयसिंह का समकालीन वताया जाता है। इनकी ख्याति का आधार मात्र यह एक टीका-ग्रन्थ ही है जिसमे प्रसिद्ध कवि के दोहो की व्याख्या इन्होने सवैयो मे प्रस्तुत की है। कवि ने विहारी के दोहो की व्याख्या के लिए जो सवैये लिखे है उनमे केवल व्याख्यात्मकता ही नही मिलती वरन उसमे स्वतन्त्र काव्य-प्रणयन की स्पष्ट झाँकी मिलती है। अपने मात्र इसी एक ग्रन्थ से एक ओर यदि इन्होने काव्य शास्त्रीय विपयो को स्पष्ट किया है तो दूसरी ओर हिन्दी रीति काल के साहृत्य को उत्कृष्ट काव्य साहित्य भी प्रदान किया है।

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन बसो सदा विहारीलाल।।

कवि इस दोहे की सुन्दरतम काव्यमयी व्याख्या सवैये मे करता है।

छवि सो फवि सीस किरीट वन्यो रुचि साल हिये वन माल वसै।
कर कंजहि मंजु रली मुरली कछनी करि चारु प्रभा वरसै।।
कवि कृष्ण कहूँ लखि सुदर मूरति यो अभिलाष हियै सरसै।
वह नन्दकिशोर विहारी सदा यहि वानिक मो हिय माझि बसै।।

इसी प्रकार कवि विहारी को प्रसिद्ध दोहे 'वतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय' की व्याख्या करते हुए कवि कहता है—

आजु लखौ वृषभानु लली मनमोहन सों रस खेल टरी है।
वातन कै चसकै मुरली सुरली हरि कै दवकाय धरी है।

ज्यों-ज्यों हहा करि माँगै लला वह त्यों-त्यों कछू अठिलात खरी है।
दैन कहै, मुकरै, हँसि भौंहनि सौंह करै रसमाय भरी है॥

गंजन कवि—इनका जन्म काशी मे गुजराती ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। सं० १७८६ के आसपास इन्होंने एक काव्य-ग्रन्थ की रचना की जिसका नाम इन्होने अपने आश्रयदाता के नाम पर 'कमरुद्दीन खाँ हुलास' रखा। ये दिल्ली के तत्कालीन बादशाह के वजीर थे और काव्य-गुण-ग्राहक थे। कवि ने इनकी इस काव्य मे भूरि-भूरि प्रशसा की है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कवि को इनका अच्छा आश्रय उपलब्ध हुआ था। इसी काव्य मे कवि ने अपने से सम्बद्ध कुछ और बातों की चर्चा की है। इस काव्य मे ऋतु-वर्णन की परम्परा मे भी चमत्कृति का आश्रय लिया गया और आराम-दायक वस्तुओ की प्रसंगवत परिगणना की गई है। भाषा मे उर्दू-फारसी प्रयोगो का बाहुल्य दिखाई पड़ता है। काव्य मे भावुकता के स्थान पर सर्वत्र चमत्कृति का ही आश्रय लिया गया, अस्तु इनका काव्य कलात्मक अधिक है भावात्मक कम। सम्पूर्ण मिलाकर इनके काव्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने कवियो के माध्यम से इन्होने अपने आश्रयदाता को दिलजोई की सामग्री ही अधिक प्रस्तुत की।

मीना के महल जरबाफ दर परदा हैं
हलबी फनूसन में रोसनी चिराग की।
गुलगुली गिलम गरक आब पग होत
जहाँ बिछी मसनद लालन के दाय की।
केती महताब मुखी खचित जवाहिरन
गंजन सुकवि कहै बौरी अनुराग की।
एतमा दुदौला कमरुद्दीनखाँ की मजलिस
सिसिर में ग्रीषम बनाई बड़भाग की॥

तोषनिधि—तोष कवि शृंगवेरपुर के निवासी थे और इनके पिता का नाम चतुर्भुज शुक्ल था। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुधानिधि' की रचना इन्होने सं० १६९४ वि० मे की थी। आलोचकों का विचार है कि केशव के उपरान्त

सम्पूर्ण रसो का विस्तृत वर्णन इन्होने ही किया। रस के विविध अवयवो की सम्पूर्ण व्याख्या कवि ने की है। काव्यशास्त्रीय प्रतिपाद्य विपयों वाले लक्षण-काव्यो की अपेक्षा इनके उदाहरण अधिक पुष्ट वन पड़े हैं। रस-वर्णन की प्रक्रिया मे कवि ने राधा-कृष्ण के प्रणय व्यापारो का सरस चित्रण किया है। नव रस एव भाव के विविध उपागों का वर्णन करने के अतिरिक्त सखा-सखि आदि के भेदो का भी विस्तृत वर्णन इन्होने किया है। लालित्य इनके काव्य का अनुपम गुण है। भाषा मे चमत्कृति, अलंकरण और प्रवाह की वेग गति सयुक्त होकर समाविष्ट हुई है। भावुक कवि ने कही-कही अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन की परम्परा का भी पोषण किया है। 'सुधानिधि' के अतिरिक्त आधुनिक खोजों के आधार पर इनके दो और ग्रन्थों का पता चला है जिन्हे क्रमशः विनय-शतक और नखशिख की संज्ञा प्रदान की गई है। इनके सवैये अधिक सरस वन पड़े हैं। कृष्ण के प्रेम-प्रसगो से कवि का मन आपूरित है और वह रसमग्न हो उसीका चित्र उतार रहा है।

श्री हरि की छबि देखिवे को अँखिया प्रति रोमहि में करि देतो।
वैनन के सुनिवे हित स्रौन जितै तित सो करतो करि हेतो॥
मो ढिग छांड़ि न काम कहूँ रहे तोष कहे लिखि तो विधि एतो।
तो करतार इती करनी करिके कलि में कलकीर तिलेतो॥

दूलह—दूलह रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि कवीन्द्र उदयनाथ के पुत्र थे और कालिदास त्रिवेदी इनके पितामह थे। दूलह की कविता के विषय मे एक लोकोक्ति प्रचलित है कि—'और वराती सकल कवि दूलह दूलहराय।' जो उनकी काव्य-पटुता का परिचायक है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास मे इनका काव्यकाल सं० १८०० से सं० १८२५ तक माना है। ये अलकार-सम्प्रदाय से सम्वद्ध आचार्य थे और अलकारों-सम्वन्धी इनका एक पाण्डित्यपूर्ण लक्षण-काव्य भी उपलब्ध है जिसे 'कवि-कुल कठाभरण' के नाम से जाना जाता है। इस काव्य में कवि ने चन्द्रालोक कुवलयानन्द, भाषा-भूषण की माध्यम से वहुल अलकारों की व्याख्या की है। इन्होने काव्य के लिए अलंकार की महत्ता अपेक्षित समझी है और

लोक में अलकार-सम्प्रदाय की शिक्षा के लिए सरल-सरस लक्षण काव्य निर्मित किया है जिससे लोग उसे कंठस्थ कर उसका भली-भाँति उपयोग कर सके—

दीरघ मत सतकविन के अर्थाशय लघु वर्ण।
कवि दूलह यातें कियो कवि कुल कंठाभर्ण॥
जो या कंठा भरण को कंठ करै चितलाय।
सभा मध्य सोभा लहै अलंकृती ठहराय॥

अलंकारो के वैविध्य की अधिक चर्चा न कर कवि ने उसके विशिष्ट भेदो की व्याख्या की है। इस तरह उनके आचार्यत्व पर 'कुबलयानन्द' की अधिक छाप है। शृंगारिक प्रवृत्ति से ओत-प्रोत प्रतिभ काव्य की सृष्टि भी इन्होने की है—

धरी जब बाहीं तब करी तुम नाहीं
पांइ दियो पलिकाही नाहीं नाहीं कै सुहाई हौ।
बोलत में नाहीं पर खोलत में नाहीं
कवि दूलह उछाही लाख भातिन लहाई हौ।
चुबन में नाहीं परि रम्भन में नाहीं
सब आसन विलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ।
मेलि गलबाहीं केलि कीन्ह चित चाही
यह हाँ तमली नाहीं हो कहाँते सीख आई हौ॥

प्रतापसाहि—प्रतापसाहि बुन्देलखण्ड के अधिवासी थे और चरखारी-नरेश के आश्रय मे रहकर काव्य-रचना करते थे। विद्वानो ने इनका काव्य-रचना-काल सं० १८०० से १६०० तक के मध्य माना है। इनके द्वारा निर्मित ग्रन्थ क्रमश. 'जयसिह प्रकाश', 'शृगारमंजरी', 'व्यंग्यार्थ कौमुदी', 'शृगार शिरोमणि','अलंकार चिन्तामणि','काव्य विनोद','जुगल नखशिख', 'काव्य विलास'एव'रसचन्द्रिका'के नाम से सात है। अनुमानतः इन्होने सम-कालीन एवं पूर्ववर्ती कुछ कवियो के काव्य पर टीका-ग्रन्थ भी लिखे थे। उपलब्ध ग्रन्थों मे व्यग्यार्थ कौमुदी और काव्य विलास महत्वपूर्ण हैं। ध्वनि-

सम्पूर्ण रसो का विस्तृत वर्णन इन्होने ही किया। रस के विविध अवयवो की सम्पूर्ण व्याख्या कवि ने की है। काव्यशास्त्रीय प्रतिपाद्य विषयो वाले लक्षण-काव्यो की अपेक्षा इनके उदाहरण अधिक पुष्ट वन पडे हैं। रस-वर्णन की प्रक्रिया मे कवि ने राधा-कृष्ण के प्रणय व्यापारो का सरस चित्रण किया है। नव रस एव भाव के विविध उपागो का वर्णन करने के अतिरिक्त सखा-सखि आदि के भेदो का भी विस्तृत वर्णन इन्होने किया है। लालित्य इनके काव्य का अनुपम गुण है। भाषा मे चमत्कृति, अलंकरण और प्रवाह की वेग गति सयुक्त होकर समाविष्ट हुई है। भावुक कवि ने कही-कही अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन की परम्परा का भी पोषण किया है। 'सुधानिधि' के अतिरिक्त आधुनिक खोजों के आधार पर इनके दो और ग्रन्थो का पता चला है जिन्हे क्रमशः विनय-शतक और नखशिख की सज्ञा प्रदान की गई है। इनके सवैये अधिक सरस वन पड़े हैं। कृष्ण के प्रेम-प्रसगों से कवि का मन आपूरित है और वह रसमग्न हो उसीका चित्र उतार रहा है।

श्री हरि की छबि देखिवे को अँखिया प्रति रोमहि में करि देतो।
बैनन के सुनिवे हित स्रौन जितै तित सो करतौ करि हेतो॥
मो ढिग छाँड़ि न काम कहूँ रहे तोष कहे लिखि तो विधि एतो।
तौ करतार इती करनी करिके कलि में कलकीर तिलेतो॥

दूलह——दूलह रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि कवीन्द्र उदयनाथ के पुत्र थे और कालिदास त्रिवेदी इनके पितामह थे। दूलह की कविता के विषय मे एक लोकोक्ति प्रचलित है कि——'और वराती सकल कवि दूलह दूलहराय।' जो उनकी काव्य-पटुता का परिचायक है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास मे इनका काव्यकाल स० १८०० से स० १८२५ तक माना है। ये अलकार-सम्प्रदाय से सम्वद्ध आचार्य थे और अलकारो-सम्वन्धी इनका एक पाण्डित्यपूर्ण लक्षण-काव्य भी उपलब्ध है जिसे 'कवि-कुल कठाभरण' के नाम से जाना जाता है। इस काव्य में कवि ने चन्द्रालोक कुवलयानन्द, भाषा-भूषण की माध्यम से वहुल अलकारो की व्याख्या की है। इन्होने काव्य के लिए अलंकार की महत्ता अपेक्षित समझी है और

छाँड़त सर मारिच उड्यो पुनि प्रभु हत्यो सुबाहु।
मुनि मख पूरनसुमन सुर बरसत अधिक उछाहु॥

अन्य ग्रन्थों में काव्य शास्त्रविषयक सम्भारों की विवेचना इष्ट है। इस दृष्टि से रसिक गोविन्द नामक रचना अधिक महत्व की है और भाषा भूषण या चन्द्रालोक की शैली पर निर्मित है। कलिकाल रासो मे सुहृद शैली मे कलि की बुराइयों का आख्यान किया है और प्रार्थना के स्वर मे कहा गया है कि—'कीजिए सहाय जू कृपाल श्री गोविन्दराय,कठिन कराल कलिकाल चलि आयो है।' युगल रस माधुरी मे राधा और कृष्ण की प्रणय-लीला एवं वृन्दावन-विहार का रमणीय चित्रण किया गया है—

मुकलित पल्लव फूल सुगन्ध परागहि फगरत।
गुग मुख निरखि विपिन जनु राई लोन उतारत॥
फूल फलन के भार डार झुकि यों छबि छाजै।
मनु पसारि दइ भुजा देन फल पथिकन काजै॥
मधु मकरंद पराग लुब्ध अलि मुदित मंत मन।
विरद पढ़े ऋतुराज नृपन के मनु बन्दी जन॥

रसलीन—सैयद गुलाम नबी जिनका उपनाम रसलीन था हरदोई जिले के बिलग्राम के निवासी थे। रीतिकालीन परम्परा मे निर्मित इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। 'अग दर्पण' और 'रस बोध'। अंग दर्पण का रचना-काल स० १७९४ वि० है और इस काव्य मे नख-शिख, वर्णन की प्रधानता है। नख-शिख-वर्णन या अंगो के चित्रण मे रसलीन का एक वैशिष्ट्य है कि व अश्लील नही होने पाए हैं और उनमे सर्वत्र विशिष्टता का निर्वाह हुआ है। यद्यपि इनके काव्य में चमत्कृति और उक्ति-वैचित्र्य को स्थान-स्थान पर प्रश्रय मिला है—

मौतिन मुख निसिकमल मो पिय चख भये चकोर।
गुरुजन मन सागर भये लखि दुलहिन मुख ओर॥
चख चलि स्रवन मिल्यो चहत कच बढ़ि छुवन छवानि।
कटि निज दरब धर्‌यो चहत वक्षस्थल में आनि॥

सम्प्रदाय से प्रभावित हो हिन्दी मे कुछ व्यग्यार्थ की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ निर्मित हुए जिनमे इनके व्यग्यार्थ कौमुदी का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। व्यंग्यार्थ कौमुदी मे मुख्य रूप से अलंकार एव नायिका-भेद का विवेचन है। उत्तम काव्य की दृष्टि से व्यग्य की अपेक्षा नितान्त आवश्यक है—

विंग जीव है कवित में सब्द अर्थ गति अंग।
सोई उत्तम काव्य है बरनै विंग प्रसंग॥

'काव्य विलास' मम्मट के काव्य प्रकाश के आधार पर निर्मित है और उसमे ध्वनि-सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत है। कवि ने और शास्त्रीय ग्रन्थों मे काव्य प्रदीप, साहित्य दर्पण, रस गंगाधर, चन्द्रालोक, कुबलयानन्द, रसतरगिणी आदि का भी आश्रय लिया है। काव्य विलास लक्षणो की व्याख्या के अतिरिक्त उदाहरण-काव्य की दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण है। नायिका और उसकी शृंगार-सयुक्त अवस्था का चारु चित्रण कवि ने किया है—

कानि करै गुरु लोगन कौन सखीन की सीखन ही मन लावति।
ऐंड भरी अँगराति खरी, कत घूँघट में नए नैन नचावति॥
मंजन कै दृग अंजन आँजति, अंग अनंग उमंग बढ़ावति।
कौन सुभाव री तेरौ परयो खिन आँगन में खिन पौरि में आवत॥

रसिक गोविन्द—रसिक गोविन्द जयपुर के रहने वाले थे और उनका जन्म नराणी जाति मे हुआ था। ये निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी हरिव्यासजी की शिष्य-परम्परा में सम्मिलित हैं। प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रन्थ मे इनका काव्य-रचना का काल स० १८५० से १८९० तक माना है। इनकी रचनाएँ क्रमश 'रामायण सूचनिका', 'रसिक गोविन्द', 'आनन्द घन', 'लछिमन चन्द्रिका', 'अष्टदेश भाषा', 'पिंगल', 'समय प्रबध', 'कलि-युग रासो', 'रसिक गोविन्द' एव 'युगल रस माधुरी' है। रामायण सूचनिका मे रामायणी कथा सक्षेप मे दोहे मे दी गई है—

चकित भूप बानी सुनत गुरु वशिष्ठ समुझाय।
दिए पुत्र तब ताड़का मग में मारी जाय॥

छाँड़त सर मारिच उड्यो पुनि प्रभु हत्यो सुबाहु।
मुनि मख पूरनसुमन सुर बरसत अधिक उछाहु॥

अन्य ग्रन्थों में काव्य शास्त्रविषयक सम्भारो की विवेचना इष्ट है। इस दृष्टि से रसिक गोविन्द नामक रचना अधिक महत्व की है और भाषा भूपण या चन्द्रालोक की शैली पर निर्मित है। कलिकाल रासो में सुहृद शैली मे कलि की बुराइयों का आख्यान किया है और प्रार्थना के स्वर मे कहा गया है कि—'कीजिए सहाय जू कृपाल श्री गोविन्दराय,कठिन कराल कलिकाल चलि आयो है।' युगल रस माधुरी मे राधा और कृष्ण की प्रणय-लीला एवं वृन्दावन-विहार का रमणीय चित्रण किया गया है—

मुकलित पल्लव फूल सुगन्ध परागहि फगरत।
गुग मुख निरखि विपिन जनु राई लोन उतारत॥
फूल फलन के भार डार झुकि यो छबि छाजै।
मनु पसारि दइ भुजा देन फल पथिकन काजै॥
मधु मकरंद पराग लुब्ध अलि मुदित मंत मन।
विरद पढ़े ऋतुराज नृपन के मनु बन्दी जन॥

रसलीन—सैयद गुलाम नवी जिनका उपनाम रसलीन था हरदोई जिले के विलग्राम के निवासी थे। रीतिकालीन परम्परा मे निर्मित इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध होते है। 'अंग दर्पण'और'रस वोध'। अंग दर्पण का रचना-काल स० १७९४ वि० है और इस काव्य मे नख-शिख, वर्णन की प्रधानता है। नख-शिख-वर्णन या अंगों के चित्रण मे रसलीन का एक वैशिष्टय है कि व अश्लील नही होने पाए हैं और उनमें सर्वत्र विशिष्टता का निर्वाह हुआ है। यद्यपि इनके काव्य में चमत्कृति और उक्ति-वैचित्र्य को स्थान-स्थान पर प्रश्रय मिला है—

मौतिन मुख निसिकमल मो पिय चख भये चकोर।
गुरुजन मन सागर भये लखि दुलहिन मुख ओर॥
चख चलि स्रवन मिल्यो चहत कच वढ़ि छुवन छवानि।
कटि निज दरब धर्‌यो चहत वक्षस्थल में आनि॥

रसप्रबोध मे रस के विविध अवयवों तथा भावादि का सविस्तार काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है। रसबोध का रचना-काल स० १७९८ के आस-पास है। आचार्यत्व के अलावा कवि की प्रतिभा का पूर्ण परिपाक काव्य के भावात्मक पक्ष मे भी हुआ है। ऋतुवर्णन में कवि का ध्यान बहुत रमा है और विशेषतः विरह की उद्भावना मे कवि ने बारह-मासा-वर्णन की परम्परा को भी निभाया है—

लाख यतन कहि राखिये, करै जारि तन राख।
शाख शाख जो ढाख की, फूल रही बैशाख॥
पुहुप रूप इन द्रुमन में आगि लगी है आइ।
जामें जरि ये भँवर सब कारे भए बनाइ॥
माघ मास लहिते तहीं यह दुख भयो अनंत।
क्यों बसन्त अब खेलिहैं बसै अन्त है कंत॥
मन मोहन बिन विरह ते फाग रच्यो इन चाल।
पीरो रंग अंगन छयो अँसुवन झरत गुलाल॥

बेनी प्रबीन—ये लखनऊ के रहने वाले थे और वाजपेयी ब्राह्मण-कुल मे इनका जन्म हुआ था। मिश्रबन्धु विनोद मे इनका काल स० १८५६ से १८७५ वि० तक उल्लिखित है। लखनऊ के नवाब गाजीउद्दीन हैदर के दीवान दयाकृष्ण के पुत्र नवलकृष्ण ने इनको अपना आश्रय प्रदान किया था और उन्ही की प्रशंसा मे कवि ने सं० १८७४ वि० मे 'नवरस तरग' की रचना की थी। यो तो वेनी प्रवीन के दो काव्य ग्रन्थ 'शृंगार भूषण' एवं 'नाना राव प्रकाश' भी मिलते हैं, लेकिन उनकी ख्याति का आधार-ग्रन्थ 'नवरस तरग' ही है। 'नवरस तरंग' यद्यपि कवि का शास्त्रीय ग्रन्थ है, लेकिन इसकी विशेषता यह है कि इसके लक्षणों की अपेक्षा इसके उदा-हरण उत्कृष्ट काव्य के प्रतीक है। कवि के काव्य में जो भावात्मकता है वह उसे आचार्यत्व की अपेक्षा उत्तम कोटि का कवि सिद्ध करने मे सहायक है। राधा और कृष्ण के प्रेम-प्रसंग का चित्रात्मक शैली मे उत्कृष्ट वर्णन कवि का अभिप्रेत है। कृष्ण का राधा की हरेक भगिमा पर न्योछावर होना

चित्रित करना अति ही स्पृहणीय बन पड़ा है—

मालिन ह्वै हरवा गुहि देत चुरी पहिरावै बने चुरिहारी।
नाइन ह्वै निरुवारत केस हमेस करै बिन जोगिन फेरी॥
बेनी प्रवीन बनाइ बिरी बरईन बने रहैं राधिका केरी।
नंदकिसोर सदा वृषभानु की पौरि पै ठाढ़े रहें बन चेरी॥

प्रेम, यौवन एवं शृंगार के हृदयहारी चित्र उतारने मे प्रवीन बड़े ही दक्ष कवि है। अज्ञात यौवना का अनूठी अभिव्यंजनाक्षम शैली में कवि ने चारु चित्र उतारा है—

कालि ही गूँथि बबा ` सौं मैं गजमोतिन की पहरी अति माला।
आई कहाँ ते इहाँ पुख ज की संग गई जमुना तट वाला॥
न्हात उतारी हौं बेनी प्रवीन हँसे सुनि बैनन नैन रसाला।
जानति ना अंग की दली सब सौं बदली दली कहै माला॥

ग्वाल—ग्वाल कवि को मथुरा-निवासी वन्दीजन सेवाराम का पुत्र माना जाता है। इनका काव्य-रचना-काल सं० १८७९ से १९१८ वि० माना जाता है। अस्तु वे रीतिकाल के अन्तिम कवियों मे से एक सिद्ध होते है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों मे क्रमशः 'रसिकानन्द', 'रस-रग', 'कृष्ण जू का नखशिख', 'दूषण दर्पण', 'हम्मीरहठ', 'गोपी पच्चीसी', 'राधा-माधव मिलन', 'राधा अष्टक' और 'अलंकार भ्रम भंजन, का उल्लेख किया जाता है। काव्यशास्त्र मे आचार्यत्व की प्रतिष्ठा की दृष्टि से इनके ग्रन्थ रस रंग और अलकार भ्रम भंजन अधिक उपयोगी हैं। रस-रंग और अलंकार भ्रम भंजन क्रमश. रस और अलंकार-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हैं। अपने मत के प्रतिपादन में कवि ने सस्कृत के आचार्यों और भाषा के पूर्ववर्ती कवियों की विचारधारा से लाभ उठाया है। 'कृष्ण जू को नख-शिख' में चमत्कृतिसहित उनके अंग-उपांगों का वर्णन है। उनकी दन्त-पक्तियों की श्री-शोभा का वर्णन कवि ने किया है—

कंधों पके दाड़िम के बीज परिपूरत है,
परम पवित्र प्रभापुंज लमकत हैं।

कैधों भूमि सुत के अनेक तारे तेज वारे,
बाँधि के कतारे झलामल झमकत हैं ।।
ग्वाल कवि कैधो पंचवान जौहरी को,
जो ललित ललाई लिये मणि चमकत हैं ।
कैधों वृषभान की लड़ैती प्रान प्रीतम के,
पान पीक पागे ये दसन दमकत हैं ।

कवि के काव्य की विशेषता यह है कि उसने रीतिकालीन सारे वर्ण्य-विषयो को काव्य-रूप दिया है । यह सच है कि उसके स्तर मे विभेद की सम्भावना है । उनके काव्य में कल्पना, चमत्कृति, अलंकार-प्रियता और शृ गार-वर्णन का आग्रह है यद्यपि उसके कोटि-निर्णय मे विसम्वाद स्थिति नही । कवि का ऋतु-वर्णन स्वाभाविक बन पडा है––

मोरन के सोरन की नेकौ न मरोर रही
घोर हूँ रही न घनघने या फरद की।
अबर अमल सर सरिता विमल मल
पंक कोन अंक औन उड़न गरद की ।
ग्वाल कवि चित्त में चकोरन के चैन भए,
पंथिन की दूरि भई दूषन दरद की ।
जल पर थल पर महल अछलपर
चाँदी सी चमकि रही चाँदनी शरद की ।

इस काल मे कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने रीति-परम्परा का अनुसरण न करके स्वतन्त्ररूपेण अपने भावों को कविता मे व्यक्त किया। इन्होने प्रेम-सम्बन्धी मुक्तक काव्य की रचना तथा भक्ति और नीति-विषयक काव्य पर भी अपनी लेखनी चलाई । इनमे शृंगार तथा वीर-काव्य के रचयिता बनवारी, प्रसिद्ध सूक्तिकार वृन्द, प्रेमोन्मत शेख तथा आलम, वीर रस-प्रधान 'हम्मीररासो' के रचयिता जोधराज, साधारण व्यवहार, लोक-व्यवहार, शिष्टाचार तथा नीति-सम्बन्धी कुण्डलियो के प्रसिद्ध निर्माण-कर्ता गिरिधर कविराय तथा प्रसिद्ध अन्योक्तिकार बाबा दीनदयाल गिरि,

शृंगार-क्षेत्र मे प्रमुख स्थान रखने वाले 'इश्कनामा' और 'विरह-वारीश' के रसोन्मत्त कवि बोधा, शृंगार रस तथा ओज पूर्ण 'हम्मीर-हठ' के निर्माता चन्द्रशेखर वाजपेयी और व्रजभाषा के कवियों की अन्तिम परम्परा को निभाने वाले द्विजदेव इत्यादि मुख्य है।

घनानन्द—घनानन्द रीतिकालीन उन कवियों मे है, जो रीति की परम्परा का अनुसरण न करते हुए काव्य-रचना मे तल्लीन थे अर्थात् रीति-मुक्त कवि थे। यह बात दूसरी है कि साहित्यिक मानदण्ड की दृष्टि से इनका सम्पूर्ण काव्य रीति-काव्य की परम्परा के सम्भारों से उपोद्वलित है।

घनानन्द का जन्म सं० १७१५ के आस-पास दिल्ली अधिवासी किसी कायस्थ परिवार मे हुआ था। घनानन्द दिल्ली के सम्राट् मुहम्मदशाह के राज्य से सम्बद्ध थे और राजकीय कर्मचारी के रूप में कार्यरत थे। लोक मे प्रचलित है कि इनका 'सुजान' नामक किसी वेश्या के प्रति प्रेम था और उसके अनुराग मे दरबारी आज्ञा की उपेक्षा वश इनका राज्य से निष्कासन हुआ था। इसके उपरान्त इनके हृदय मे विरक्ति की भावना उद्भूत हुई और इन्होने अपने प्रेम को भगवान कृष्ण की भक्ति के रूप में निवेदित किया और वृन्दावन मे निम्वार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए। कहा जाता है कि इनका अवसान नादिरशाही आक्रमण के फलस्वरूप हुआ था।

घनानन्द के काव्य-सौष्ठव का रमणीक रूप उनके स्फुट प्रेम-परक कवित्त और सवैयों में ही मिलता है। घनानन्द के द्वारा निर्मित रचनाओं मे 'सुजान सागर', 'कोकसार', 'रस केलिवल्ली' और 'कृष्ण-काण्ड' का उल्लेख मिलता है। कुछ भी हो उनके काव्य मे एक प्रतिभ सौष्ठव है, जो उनके कवित्त और सवैयो में ही अभिव्यक्त हो पाया है। रीतिकालीन शृंगार, अलकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, नायिका-भेद इत्यादि सम्भारों से सैद्धान्तिक रूप में प्रभावित न होते हुए भी भावात्मक स्तर पर इनका उत्कृष्ट वर्णन घनानन्द के काव्य में हुआ है। शृंगार के उभय पक्ष का रीतिकालीन परम्परा में हृदयहारी वर्णन घनानन्द का भी इष्ट रहा।

घनानन्द प्रेम के कवि हैं। प्रेम की पीर से उनका विदग्ध हृदय आप्ला-

वित हो उठा था। वस्तुत. यही कारण है कि प्रेम-भावना के सशक्त चित्र उन्होने उतारे थे। लौकिक स्तर पर जो प्रेम की पीर थी वाद मे उसी का उदात्तीकरण होकर उसका सुन्दर पर्यवसान भक्ति मे हुआ। घनानन्द ने एक सफल एवं श्रेष्ठ कवि के रूप मे प्रेम को अपना वर्ण्य-विषय बनाया था जो वहुत काल तक उनका काव्यगत उद्देश्य था—

नेही महा ब्रजभाषा प्रबीन सब सुन्दरतानि के भेद को जानै।
जोग वियोग की रीति में कोविद भावना भेद सरूप को ठानै॥
चाह के रंग में भीज्यो हियो बिछुरें मिलें प्रीतम सौं तिन मानै।
भाषा प्रबीन सुछन्द सदा रह सो घनजी के कवित्त बखानै॥

घनानन्द ने प्रेम और विरह के प्रसगों का भावात्मक एवं कल्पनाजन्य वर्णन किया है जिसमे भावोद्वेलन और मनोवेगो का प्रेम के आन्तरिक पक्ष को ध्यान मे रखते हुए व्यजनात्मक शैली मे चित्रण किया गया है। भाषा मे भावानुकूल अभिव्यंजना की विशिष्ट क्षमता प्रदर्शित होती है—

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेको सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलें तजि आपनपौ झिझकैं कपटी जो निसांक नहीं॥
घन आनन्द प्यारे सुजान सुनौ इत एक तें दूसरौ आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

अपने एक दूसरे प्रसिद्ध सवैये मे कवि ने प्रेम के क्षोभ की विरहानुभूति का चित्रण किया है। कवि के विवश मन ने विरह के व्याकुल क्षणो मे मेघ द्वारा अपने विरह-पल के आँसुओ को अपनी प्रेमिका के यहाँ भेजना चाहा है। इससे कवि के सवेदनशील हृदय का पता चलता है, जो प्रेम की अनुभूति मे लगा हुआ है—

पर कारज देह को धारे फिरौ परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ सव ही विधि सुन्दरता सरसौ॥
घन आनन्द जीवन दायक हौ कवौं मेटियों पीर हिये परसौ।
कवहू वा विसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ॥

ठाकुर—ठाकुर नामक रीति काल मे कई कवि हो चुके है। आलोच्य

कवि ठाकुर असनी के निवासी थे और ब्रह्मभट्ट परिवार मे उनका जन्म हुआ था। ठाकुर कवि का समय सम्वत् १७०० के आस-पास का था। इनके द्वारा रचित काव्य का कोई सम्पूर्ण सुसगठित रूप नही मिलता वरन् इनके काव्यत्व का पता इनके बिखरे हुए स्फुट पदों से ही चलता है। ठाकुर कवि का मूल काव्य-विषय शृङ्गार-वर्णन है। चलती हुई कहावत संयुक्त भाषा-शैली में आपने शृङ्गारिक मनोवेगो से सम्बद्ध पदों की रचना की है, वस्तुत. यही कारण है कि आपके पदों की लोकप्रियता अधिक है। नायिका के सौन्दर्य और उससे उत्पन्न मनोभावों का सुन्दर चित्रण कवि ने किया है।

प्रकृति का उद्दीपन-रूप मे चित्रण करते हुए कवि ने वसन्त के प्राकृतिक उपादानों को विरहणी की विरह व्यथा को उद्दीप्त करने वाला कहा है।

बौरे रसालन की चढ़ि डारन कूकत क्वैलिया मौन गहै ना।
ठाकुर कुंजन कुजन गुजन भौंरन भीरु चुपैबो चहै ना॥
सीतल मन्द सुगन्धित धीर समीर लगे तन धीर रहै ना।
व्याकुल कीन्हो वसन्त बनाय कै जायके कन्त से कोउ कहै ना॥

रीतिकालीन काव्य-परम्परा से अनुप्राणित हो कवि ने अधिक भावात्मकता से अपनी काव्य-रचना का आयोजन किया। दूसरे ठाकुर भी असनी के ही निवासी थे। तीसरे ठाकुर ओरछा के निवासी थे। इनको रीतिकाल का परवर्ती कवि माना जा सकता है। इनके काव्य की सर्वाधिक विशिष्ट वस्तु थी प्रेम के विविध मनोभावो का उत्कृष्टता के साथ चित्रण।

द्विजदेव—महाराज मानसिंह जो अयोध्या के अधिपति थे एक सिद्धहस्त कवि भी थे। इनका काव्य-क्षेत्र का उपनाम द्विजदेव था। रीतिकाल के उत्तरार्द्ध के अन्तिम कवियों में शृङ्गार रसमय काव्य-रचना की दृष्टि से आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके द्वारा रचित दो पुस्तके 'शृङ्गार बत्तीसी' और 'शृङ्गार लतिका' का भी निर्देश मिलता है। शृङ्गार-रस से ओत-प्रोत स्फुट सवैये और कवित्तो की रचना द्विजदेव ने की है। इनकी भाषा सरल और स्पष्ट है। अनुप्रास के आयोजन से काव्य की रोचकता में अभिवृद्धि हुई है। ऋतुओं का रमणीक और भव्य वर्णन कवि ने किया है।

वसन्त के प्रादुर्भाव पर उसकी शोभाश्री का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है--

मिलि माधवी आदिक फूल के काज विनोद लता बरसायो करै ।
रचि नाच लतागन तानि वितान सबै विधि चित्त चुरायो करै ।।
द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलियारन कीरति गायो करै ।
चिर जीवो, वसन्त ! सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करै ।।

शृङ्गार-वर्णन मे संयोग और वियोग के चित्र भी उनके काव्य मे मिलते है। कृष्ण के प्रति किसी नायिका के रूपाकर्षण का चित्र उतारते हुए कवि ने सरस शैली मे लिखा है--

आजु सुमायन ह्वो गई बाग विलोकि प्रसून की पाँति रही।
ताहि समै तहँ आए गोपाल तिन्है लखि औरो गयो हियटो ठगि ।।
पै द्विजदेव न जानि पर्‍यौ धौं कहा तेहि काल परै अँसुवा जगि ।
तू जो कही सखि ! लोनो सरूप सो मो अँखियान को लोनी गई लगि ।।

कृष्ण के सौन्दर्य और उनके प्रति प्रेममय आकर्षण का चित्रात्मक वर्णन कवि ने कहा है ।

पेखि परे प्रान जौ पै गातन उछाह भरै ।
बार बार तातें तुम्हें बूझती कछूक नैन ।।
एहो व्रजराज ! मेरो प्रेमधन लूटिबे-को।
बीरा खाय आए कितै आपके अनोखे नैन ।।

प्रसिद्ध सामन्त कृष्णगढ-नरेश महाराजा सावन्तसिहजी वृन्दावन मे विरक्त होकर नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनकी रचनाओं की सख्या अधिक है। इनकी रचनाएँ भक्ति रस से युक्त है और फारसी-साहित्य के 'आशिकी' तथा सूफियों के प्रेम की उस पर स्पष्ट छाप है। गाने के पदो के साथ-साथ कवित्त, सवैया और रोला आदि छन्दों की भी रचना आपने की है।

इस तरह कलापक्ष-प्रधान रीतिकालीन कविता ह्रासोन्मुख होती गई, क्योंकि तर्क पर आधारित सिद्धान्तों के विस्तृत विवेचन की अपेक्षा कवि

लकीर के फकीर वने रह गए और वे लक्षण भी यथार्थ और स्पष्ट नही दे पाए। साथ ही कविता के क्षेत्र मे भी जीवन-सम्बन्धी स्थायी तथा उच्च भावनाएँ लुप्तप्राय हो गईं। अतः कविता की धारा ने अपना मार्ग बदला और राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर वह एक नये मार्ग की ओर अग्रसर हुई। साहित्य में गद्य को भी, जिसका आरम्भ गोरखनाथ के समय से ही हुआ था, आदरणीय स्थान प्राप्त हुआ और गद्य तथा पद्य दोनो से ही हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि हुई। पद्य ने भी एक दूसरे भाग को ही अपनाया, अत साहित्य के प्रांगण मे आधुनिक काल ने पदार्पण किया।

रीतिकाल के कुछ कवियो के सक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन के उपरान्त इस काल के साहित्य के मूल्याकन की अपेक्षा स्वाभाविक है। स० १७०० से १६०० के वीच जो काव्य लिखा गया उसकी उपादेयता पर जव हम दृष्टिपात करते है तो हमे कई वाते मालूम होती हैं। सर्वप्रथम यह लगता है कि यह सम्पूर्ण साहित्य रीतिमय है—रीति से तात्पर्य है विशिष्ट पद-रचना की प्रणाली का। काव्य के प्राचीन मानदण्डों को आधार वनाकर इस काल के वहुत से कवियो ने अलंकार, रस, ध्वनि, नायिका-भेद, एवं छन्द-शास्त्र इत्यादि पर लक्षण-ग्रन्थ निर्मित किये। इन सभी कवियो के सामने चाहे काव्य प्रचार का जो भी उद्देश्यगत महत्व रहा हो लेकिन इतना तो निश्चितप्राय है कि वहुमत से इन सवके मन मे आचार्यत्व प्राप्ति की लालसा रही। अस्तु, प्राचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा को लेकर जो प्रयास हुए उसमे कई दृष्टियो से नवीनता का भी आयोजन हुआ। काव्य-प्रचार की दृष्टि से समकालीन साहित्यिक जगत मे उनका कुछ असर विसम्वाद-रहित है। लक्षण-ग्रन्थ-निर्माण के अलावा कुछ कवियों ने उदाहरणस्वरूप भावात्मक काव्य-ग्रन्थ भी लिखे। उनके काव्य-ग्रन्थ यद्यपि उदाहरण-स्वरूप थे, लेकिन उनके पढ़ने-मात्र से यह लगने लगता है कि कवि के पास इस काव्य-रचना का एक माप था जिसमें उसने अपनी कविता को फिट करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

रीतिकालीन काव्य मे रसराज शृंगार को प्रश्रय मिला। शृंगार मन की एक प्रवृत्ति का उद्रेक करता है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव-जीवन के लिए अपेक्षा है। रीतिकाल मे यह शृंगार प्रकृति-अति अधिक अतिरजित होकर फूट पडी है। नायक-नायिका-भेद, संयोग-वियोग, राधा-कृष्ण का प्रणय एवं विलास, ऋतुओ का उद्दीपन रूप में वर्णन रीतिकालीन कविता का वर्ण्य-विषय रहा।

नायिका-वर्णन की परम्परा जोर पर थी। प्रत्येक कवि नायिका की विविध कोटियो का निर्माण करने मे व्यस्त है। आश्रयदाता की परितुष्टि के लिए जो काव्य-रचना होती थी उसमे नायिका के नखशिख-वर्णन से रस-संचार अभीष्ट समझा जाता था। नायिका क्षण-क्षण मे अपना रूप परिवर्तित करती है। राधा और कृष्ण ने, जो भक्ति के आलम्वन थे साधारण नायक और नायिका का रूप ग्रहण कर लिया और उनके वर्णन मे भी स्थूल शृगार का साम्राज्य छाया हुआ है। नायिकाओ के चित्रण मे यह विशिष्टता है कि उनका सौन्दर्य मांसल है, उसके प्रति वासनात्मक आकर्षण स्वाभाविक है। उन्हे काम की पीड़ा हमेशा प्रज्वलित किया करती है और उन्हे प्रियतम के विरह की असह्य पीडा झेलनी पड़ती है। नायिकाओ का विरह अधिक अतिरजित है। विहारी की नायिका विरह मे इतनी क्षीण हो गई है कि साँस के साथ वह कभी छः-सात पग आगे वढ जाती है और कभी पीछे। कटाक्ष से वायदा देते वक्त अंगुली के कट जाने की आशका वनी रहती है। विरह की विविध स्थितियो का अतिरंजित चित्रण यहाँ सुलभ है। सयोग के समय मे भी नायिकाओं को क्लेश है कि प्रियतम इतना भोला है कि उसे मान करने का अवसर नही मिलता। मतिराम ने कहा है—

सपने मनभावतो करत नहीं अपराध।
मेरे मन में हो रही सखी मान की साध॥

वहुत से नायक इस कोटि के भी मिलते हैं जो नायिका के पैरो मे मेहदी लगाते हैं, उसकी चोटी सँवारते है और प्रियतमा के किंचित भी रुष्ट होने पर उसके चरणों मे स्थान ग्रहण करते है—

ताके पग लागे निसि आके उर लागे लाल।
मेरे पग लागि उर आगि का लगाइए॥

श्रृंगार-वर्णन मे मांसलता की अभिव्यक्ति अधिकाश कवियो में मिलती है। अस्तु, उनके श्रृंगार के सयोगमय चित्रों में अश्लीलता की गन्ध भी मिलती है। राधा और कृष्ण साधारण नायक-नायिका तुल्य आचरण करते चित्रित किये गए है जो कामुकता की सीमा पार करने वाले है—

केलि कै राति अघाने नहीं दिनहु में लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोउ पानी दै जइयो भीतर बैठि के बात सुनाई॥
जेठि पठाइ गयीं दुलही हँसि हेरि हरै मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्ही सुवेगहि देहरि पै धरि आई॥

अश्लीलता ऐहिकता की पराकाष्ठा प्रस्तुत करते हुए भी कुछ कवियो ने काव्य-रचना की है।

काव्य मे स्वाभाविकता की जगह चमत्कृति और कृत्रिमता पर बल दिया गया है। कविता को अलकृति प्रदान कर कलाबाजी प्रस्तुत करने मे अधिकांश कवि निमग्न है। प्रकृति का चित्रण रूढ-सा हो गया है और सम्पूर्ण साहित्य मे उसका वर्णन उद्दीपन के रूप मे मिलता है। सेनापति ने अपवादस्वरूप प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण किया है। चन्द्रमा द्विजराज होकर भी अधिकाश कवियों की विरहिणी नायिकाओ के लिए कसाई का काम करता है।

ह्वै के द्विजराज काज करत हो कसाई कौ।

उसकी शीतलता उनके विरह के क्षणो मे उनके मन मे दाह उत्पन्न करती है। कोयल की कूक विरहिणी नायिका के हृदय में वैरिन होकर हूक उत्पन्न करती है।

रीतिकाल का सारा साहित्य दरबारी साहित्य है। अधिकाश कवि अपने आश्रयदाता के विनोद के लिए काव्य-रचना मे निमग्न थे और उनकी प्रशस्ति गा-गाकर अपनी जीविका उपार्जन मे निमग्न थे। काव्य का उद्देश्य प्राकृत जनो का गुण-गान था और भक्तिकाल के सदृश उसके प्रति कोई

अवज्ञा की भावना नही थी। काव्य का लक्ष्य रसिकों का चित्त-विनोद था—

रीझहिं रसिक तोन ज्ञानी कविताई।
न तो राधा और कृष्ण सुमिरन कौ बहानौ है।

समाज के सदर्भ मे विचार करने पर इस साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न सम्मुख आता है। यह साहित्य रजनात्मक दृष्टि से महत्व रखता है। इस साहित्य की प्रणयन-काल की स्थिति स्पष्ट है। तत्कालीन समाज सम्राटो के उपरान्त मनसवदारो और सामन्तो मे बँटा हुआ था। अपने सारे सुखोपभोग के साधनो को उपलब्ध कर लेने के वाद उनमे विलासिता के ओर आकर्पण स्वाभाविक था। अस्तु, उनके साम्राज्य मे विलास को अनुप्राणित करने वाले साहित्य को प्रश्रय मिलना कोई अस्वाभाविक घटना नही थी। ऐतिहासिक दृष्टि से तत्कालीन जन-जीवन नाना प्रकार के क्लेशो से प्रताड़ित था लेकिन इनकी ओर कवियों का ध्यान नही गया। वस्तुतः यह कहने मे कोई संकोच नही होता कि ये कवि जनता के प्रतितिधि कवि नही थे वरन दरवार के प्रतिनिधि थे। कुछ कवि अपवादस्वरूप परिगणित हो सकते है।

काम-प्रवृत्ति मनुष्य के मन की प्रवृत्ति है और उसके प्रेम एव सौदर्य का संयमित वर्णन उपादेय हो सकता था लेकिन रीतिकालीन कवियो की अतिरजन-प्रणाली ने उस क्षेत्र में भी कोई वड़ी उपलब्धि नही की। अस्तु, कुल मिलाकर लगता यह है कि इस साहित्य की उपलब्धि, कला कल के लिए, के अर्थ मे ही सर्वस्व थी और इसका सामयिक रजनात्मक महत्व था। साहित्य-क्षेत्र मे रीति-ग्रन्थो का जो निर्माण हुआ उसकी उपादेयता हिन्दी के स्तर पर अवश्य रही। यद्यपि यह साहित्य भी अनुकरणमूलक अधिक है मौलिक कम। फिर भी हिन्दी के माध्यम से काव्यशास्त्र पर विचार की दृष्टि से इसकी महत्ता अवश्य है। रीतिकालीन कवियो ने रीति के साथ-साथ नीति का जो वर्णन किया है उसकी भी अक्षुण्ण महत्ता है। वीर रस से ओत-प्रोत रीतिकालीन काव्य की तत्कालीन जीवन में वड़ी अपेक्षा थी और उसका भी अपना महत्व है।

संवत् १९०० से आधुनिक समय तक

आधुनिक काल : गद्य

रीतिकाल के पश्चात् हिन्दी-साहित्य देश की परिस्थितियो से प्रभावित होकर तथा विज्ञानवाद लेकर चला और साहित्य के इतिहास मे एक नये अध्याय का समावेश हुआ, जिसे हम आधुनिक युग कहते हैं। देश मे सर्वत्र लगी हुई विद्रोह की आग तथा मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने से अंग्रेज, जो यहाँ केवल व्यापार के हेतु आये थे, साम्राज्य-स्थापना की ओर वढ चले। देशी शक्तियो में निरन्तर संघर्ष तथा देश के आन्तरिक जीवन की अशान्ति से लाभ उठाकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी केवल पंजाव को छोड़कर सारे उत्तर-भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुकी थी और इस ओर उत्तरोत्तर अपने कदम वढ़ा रही थी। पाश्चात्य प्रभाव के कारण वैज्ञानिक आविष्कारो के साथ नवीनता ने प्रवेश किया और इस नये युग का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। साहित्य केवल मुक्ति और मनोरजन का साधन नही रह गया। उसे देश की सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य समस्याओं का भी समाधान देना पडा। पद्य या कविता मे यह सब देना सम्भव नही था, इसलिए इस नव जागरण के काल मे गद्य का प्रचार और विकास हुआ। मुद्रण-यन्त्रो के स्थापित हो जाने से गद्य समाचार-पत्रो के रूप मे भी जन-समाज के सामने आया। इस तरह अन्य सभ्य देशों की भाँति गद्य की भी उन्नति अवाध गति से होती गई और इस युग को गद्य-काल कहा गया।

गद्य की इस उन्नति के साथ ही कविता के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुए और वह अनेक धाराओ मे होकर वही। साथ ही दोनो के क्षेत्र मे व्रजभापा

से बचने की प्रतिज्ञा की थी, फिर भी फारसी-ढंग का वाक्य-विन्यास कही-कही आ ही गया। लल्लूलालजी आगरा के निवासी थे। अंग्रेज अफसरों को भारतीय भाषा सिखलाने के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई थी। पर 'भारतीय भाषा' के नाम पर यहाँ उर्दू-फारसी ही पढ़ाई जाती थी, जो जन-साधारण से कोसों दूर थी। यही लल्लूलाल-जी तथा सदल मिश्रजी को डॉ० गिलक्राइस्ट महोदय ने खडी बोली के गद्य में पुस्तके लिखने के लिए कहा। उर्दू का अनुकरण करके लल्लूलाल जी ने 'सिंहासन-बत्तीसी', 'वैतालपच्चीसी' आदि पुस्तके लिखी और खड़ी बोली-गद्य में 'प्रेम-सागर' लिखा। इन्होंने विदेशी शब्दो को भाषा मे आने से वचाया है तथा भाषा की सजावट हम इनके 'प्रेम-सागर' मे पाते हैं। यत्र-तत्र अनुप्रास भी है तथा मुहावरो के प्रयोग भी कम नही है। इन्होने 'हितोपदेश' की कहानियाँ व्रजभाषा-गद्य मे लिखी तथा 'बिहारी सतसई' की 'लाल-चन्द्रिका' नामक टीका भी प्रस्तुत की।

सदल मिश्र—विहार के रहने वाले थे। लल्लूलालजी की भाँति इन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। इसमे व्यवहार में आने वाली भाषा का प्रयोग किया, जो व्रजभाषा तथा परम्परागत भाषा से भिन्न थी। पर भाषा अव्यवस्थित ही रही। उसमे एकरूपता नही आ पाई और पूर्वी का भी उचित समावेश हुआ। परन्तु इनकी भाव-प्रकाशन की पद्धति सुन्दर और आकर्षक है।

ईसाइयो ने अपने धर्म के सम्यक् प्रचार के लिए 'वाइविल' का अनुवाद हिन्दी में करके जनसमूह के सामने उपस्थित किया। इन्होने मुशी सदा-सुखलालजी की विशुद्ध भाषा का अनुकरण करके गद्य के विकास में हाथ बँटाया। इनकी भाषा ठेठ हिन्दी ही रही। अंग्रेजी शिक्षा के कारण 'बुक-सोसाइटियो' की स्थापना हुई और गद्य द्वारा हिन्दी का प्रचार हुआ। इसी समय पं० जुगलकिशोर ने अपना हिन्दी का पहला समाचार-पत्र 'उदंत मार्तण्ड' निकाला। इस समय यहाँ मेकाले इत्यादि द्वारा अग्रेजी-शिक्षा का प्रवन्ध हुआ और इसके साथ ही उनका ध्यान अदालती भाषा की ओर

गया। दफ्तरों की भाषा अभी तक फारसी ही थी, अत सरकार ने स० १८९३ में प्रचलित भाषाओ के प्रयोग के लिए इश्तहारनामे निकाले। पर मुसलमानो ने इसका घोर विरोध करके उर्दू को ही जन-साधारण पर प्रयत्न करके लदवाया। देश-भाषा के नाम पर उर्दू पढाई जाने लगी। हिन्दी के विरोध की चेष्टा बराबर बढती ही गई और अग्रेजो के कृपापात्र सर सैयद अहमद खाँ तथा गार्सा द तासी इत्यादि ने इसे गँवारू बोली बताकर अंग्रेजों को उर्दू की ओर आकृष्ट किया।

पर निश्चित मन और नीचे वहते हुए पानी को कौन उसके मार्ग के विरुद्ध लौटा सकता है और हिन्दी-उर्दू की इस खींचातानी के युग मे काशी के राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी-पक्ष लेकर मैदान में आये। राजाजी शिक्षा-विभाग में इन्स्पेक्टर थे। इन्होने उर्दू का पुट देकर एक अखवार 'वनारस अखवार' के नाम से निकाला। लोगो ने हिन्दी को जो 'मुश्किल जवान' की उपाधि देकर दूर फेंक रखा था, उसमे अरवी-फारसी के चलते शब्दों को देकर इन्होने ठेठ हिन्दी का ही आश्रय लिया। इन्ही के प्रयत्न से देवनागरी लिपि स्वीकार की गई और स्कूलों मे हिन्दी को स्थान मिला। राजाजी ने स्वय तथा अपने मित्र प० वंशीधर, प० श्रीलाल, श्री वद्रीलाल आदि से पाठ्य-क्रम के लिए हिन्दी मे पुस्तके लिखवाई। इस समय हिन्दी मे 'सुधाकर', 'बुद्धि-प्रकाश', 'प्रजा-हितैषी' तथा 'लोक-मित्र' इत्यादि पत्र भी निकले।

राजा लक्ष्मणसिंह ने मुंशी सदासुखलाल की भाँति परम्परागत विशुद्ध भाषा को अपनाया और भाषा के सम्वन्ध मे लोगों की आँखें खोल दी। यह भाषा यद्यपि ठेठ तथा सरल है, फिर भी रस-सिद्ध तथा सस्कृत मे व्यवहार किये गए शब्दो को लेकर चली है। इन्होने 'रघुवंश' तथा 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का अनुवाद किया। इन्ही मे हम वर्तमान हिन्दी-गद्य का आभास पाते हैं। इसी समय स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने वैदिक एकेश्वरवाद को लेकर वैदिक धर्म का डका वजाया और अपना 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिन्दी या आर्य-भाषा मे प्रकाशित किया तथा हिन्दी-गद्य के प्रचार

को अप्रधानता देकर मेरठ के पास बोली जाने वाली खड़ी बोली को ही अपनाया गया, जिसने हिन्दी-साहित्य को नवीन बाना प्रदान किया। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इस युग को गद्य-खण्ड तथा पद्य-खण्ड में विभाजित कर सकते हैं।

गद्य का आविर्भाव

गद्य का प्रचलन केवल आधुनिक युग से ही नही प्रारम्भ हुआ, यह प्राचीन है, पर यह व्रजभाषा के गद्य-रूप मे ही प्रचलित था। गोरखनाथ के सम्प्रदाय ने भी इसे अपनाया था और नाथ-पन्थ की कुछ रचनाएँ हम गद्य मे पाते हैं। इसके पश्चात् कृष्ण-भक्ति शाखा ने इसे आश्रय प्रदान किया और गोस्वामी विट्ठलनाथजी के समय में 'शृङ्गार-रस-मण्डन', 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता', 'सूरति मिश्र की वैतालपच्चीसी', 'नाभादास का अष्टयाम' इत्यादि पुस्तकें गद्य मे लिखी गई। इसके पश्चात् संस्कृत-ग्रन्थों की टीका करने के लिए व्रज-भाषा-गद्य को अपनाया गया, पर उसका विकास अब नष्ट-सा होने लगा। इसने खड़ी-बोली गद्य के विकास के लिए निर्बाध मार्ग खोल दिया, यद्यपि खड़ी बोली के गद्य का नमूना भी हम कुछ-कुछ पन्द्रहवी शताब्दी मे पाते हैं। अमीरखुसरो तथा अकबर के दरबारी कवि गंग ने भी इसे स्वीकार किया था। अत जनसामान्य की यह भाषा आधुनिक युग से पहले ही साहित्य के लिए स्वीकृत की गई थी।

जब मुसलमान अरब, फारस तथा तुर्किस्तान से आये तो भारत मे प्रचलित 'हिन्दवी' उनकी समझ मे नही आती थी। अतः उन्होंने यहाँ की भाषा को क्रमशः अपनाया और जिस भाषा को इन लोगों ने बोलना प्रारम्भ किया वह 'उर्दू-हिन्दी' कहलाई। दिल्ली-दरबार ने अपने व्यवहार के लिए खड़ी बोली को ही अपनाया था, जो शिष्ट समुदाय के परस्पर-व्यवहार की भाषा थी। इसी खड़ी बोली को अपनाकर उर्दू-साहित्य खड़ा हुआ, पर इसमें अरबी तथा फारसी के शब्दो का क्रमशः बाहुल्य होता गया और

विदेशीपन का इतना गहरा युग होता गया कि जन-समाज से यह सर्वथा दूर होती गई।

पद्य मे खड़ी बोली का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से पाया जाता है, पर गद्य के क्षेत्र मे भी वह उतनी नवीन नही है। सं० १७८८ में रामप्रसाद निरंजनी ने साफ-सुथरी खड़ी बोली मे 'भाषा योग वासिष्ठ' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें गद्य का परिमार्जित तथा परिष्कृत रूप मिलता है। भाषा मे गद्य की यही प्रथम पुस्तक मानी जाती है। सं० १८१८ मे वसुआ-निवासी पण्डित दौलतराम का लिखा हुआ ७०० पृष्ठो का एक 'पद्मपुराण' नामक जैन-ग्रन्थ मिलता है, जिसकी भाषा 'योग वासिष्ठ' की भाँति परिष्कृत तो नही है, पर अरबी-फारसी से असम्बन्धित, शुद्ध तथा स्वाभाविक खडी बोली का यह नमूना-मात्र है। सं० १८४० के लगभग राजस्थान के किसी लेखक ने साधारण बोल-चाल की भाषा मे 'मंडोवर-वर्णन' नामक एक ग्रन्थ लिखा। पर यह गद्य-परम्परा उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे समाप्त हो गई और आधुनिक परम्परा का प्रादुर्भाव मुन्शी सदासुखलाल, लल्लूलालजी, सदल मिश्र तथा इन्शाअल्ला खाँ इन्ही चार महानुभावो द्वारा हुआ। कुछ लोगो का यह विचार है कि अंग्रेजो की प्रेरणा से ही हिन्दी-गद्य का प्रारम्भ हुआ। लल्लूलालजी, जिन्होने फोर्ट विलियम कॉलेज के डॉ० गिलक्राइस्ट के कहने से 'भाखा' के मुहावरो का परिचय कराने के लिए अपने 'प्रेम-सागर' की रचना की थी, उनके भी पहले मुन्शी सदासुखलाल ने अरवी तथा फारसी के लेखक होते हुए भी जगह-जगह पर शुद्ध संस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग अपने 'सुख-सागर' मे करके आधुनिक साहित्य का आभास दिया। इन्होने जन-समुदाय द्वारा व्यवहृत शिष्ट भाषा को ही अपनाया।

इन्शाअल्ला खाँ—उर्दू के अच्छे शायर थे। इनका जन्म मुर्शिदावाद में हुआ था। हिन्दी मे भी इन्होने 'छूट हिन्दवी' अर्थात् 'ठेठ हिन्दी' के परमोद्देश्य से 'उदयभान-चरित' अथवा 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की। यद्यपि इन्होने गंवारी, वाहर की वोली तथा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी

से वचने की प्रतिज्ञा की थी, फिर भी फारसी-ढंग का वाक्य-विन्यास कहीं-कही ग्रा ही गया। लल्लूलालजी ग्रागरा के निवासी थे। अंग्रेज अफसरों को भारतीय भापा सिखलाने के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई थी। पर 'भारतीय भाषा' के नाम पर यहाँ उर्दू-फारसी ही पढाई जाती थी, जो जन-साधारण से कोसों दूर थी। यही लल्लूलाल-जी तथा सदल मिश्रजी को डॉ० गिलक्राइस्ट महोदय ने खड़ी वोली के गद्य मे पुस्तके लिखने के लिए कहा। उर्दू का अनुकरण करके लल्लूलाल जी ने 'सिंहासन-वत्तीसी', 'वैतालपच्चीसी' ग्रादि पुस्तकें लिखी ग्रौर खड़ी वोली-गद्य मे 'प्रेम-सागर' लिखा। इन्होंने विदेशी शब्दो को भाषा मे ग्राने से वचाया है तथा भाषा की सजावट हम इनके 'प्रेम-सागर' में पाते हैं। यत्र-तत्र ग्रनुप्रास भी है तथा मुहावरों के प्रयोग भी कम नही है। इन्होंने 'हितोपदेश' की कहानियाँ व्रजभाषा-गद्य मे लिखी तथा 'विहारी सतसई' की 'लाल-चन्द्रिका' नामक टीका भी प्रस्तुत की।

सदल मिश्र—विहार के रहने वाले थे। लल्लूलालजी की भाँति इन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। इसमे व्यवहार मे ग्राने वाली भापा का प्रयोग किया, जो व्रजभाषा तथा परम्परागत भापा से भिन्न थी। पर भाषा ग्रव्यवस्थित ही रही। उसमे एकरूपता नही ग्रा पाई ग्रौर पूर्वी का भी उचित समावेश हुग्रा। परन्तु इनकी भाव-प्रकाशन की पद्धति सुन्दर ग्रौर ग्राकर्षक है।

ईसाइयों ने ग्रपने धर्म के सम्यक् प्रचार के लिए 'वाइविल' का ग्रनुवाद हिन्दी मे करके जनसमूह के सामने उपस्थित किया। इन्होने मुशी सदा-सुखलालजी की विशुद्ध भाषा का ग्रनुकरण करके गद्य के विकास में हाथ वँटाया। इनकी भाषा ठेठ हिन्दी ही रही। अंग्रेजी शिक्षा के कारण 'वुक-सोसाइटियों' की स्थापना हुई ग्रौर गद्य द्वारा हिन्दी का प्रचार हुग्रा। इसी समय पं० जुगलकिशोर ने ग्रपना हिन्दी का पहला समाचार-पत्र 'उदत मार्तण्ड' निकाला। इस समय यहाँ मेकाले इत्यादि द्वारा ग्रग्रेजी-शिक्षा का प्रवन्ध हुग्रा ग्रौर इसके साथ ही उनका ध्यान ग्रदालती भापा की ग्रोर

गया। दफ्तरों की भाषा अभी तक फ़ारसी ही थी, अतः सरकार ने स० १८९३ मे प्रचलित भाषाओ के प्रयोग के लिए इश्तहारनामे निकाले। पर मुसलमानों ने इसका घोर विरोध करके उर्दू को ही जन-साधारण पर प्रयत्न करके लदवाया। देश-भाषा के नाम पर उर्दू पढाई जाने लगी। हिन्दी के विरोध की चेष्टा बराबर बढ़ती ही गई और अग्रेजो के कृपापात्र सर सैयद अहमद खाँ तथा गार्सां द तासी इत्यादि ने इसे गँवारू बोली बताकर अग्रेजो को उर्दू की ओर आकृष्ट किया।

पर निश्चित मन और नीचे बहते हुए पानी को कौन उसके मार्ग के विरुद्ध लौटा सकता है और हिन्दी-उर्दू की इस खीचातानी के युग में काशी के राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी-पक्ष लेकर मैदान में आये। राजाजी शिक्षा-विभाग मे इन्स्पेक्टर थे। इन्होने उर्दू का पुट देकर एक अखबार 'बनारस अखबार' के नाम से निकाला। लोगो ने हिन्दी को जो 'मुश्किल जबान' की उपाधि देकर दूर फेक रखा था, उसमें अरबी-फारसी के चलते शब्दों को देकर इन्होने ठेठ हिन्दी का ही आश्रय लिया। इन्ही के प्रयत्न से देवनागरी लिपि स्वीकार की गई और स्कूलो में हिन्दी को स्थान मिला। राजाजी ने स्वय तथा अपने मित्र पं० बशीधर, प० श्रीलाल, श्री बद्रीलाल आदि से पाठ्य-क्रम के लिए हिन्दी मे पुस्तके लिखवाई। इस समय हिन्दी मे 'सुधाकर', 'बुद्धि-प्रकाश', 'प्रजा-हितैषी' तथा 'लोक-मित्र' इत्यादि पत्र भी निकले।

राजा लक्ष्मणसिंह ने मुशी सदासुखलाल की भाँति परम्परागत विशुद्ध भाषा को अपनाया और भाषा के सम्बन्ध मे लोगो की आँखे खोल दीं। यह भाषा यद्यपि ठेठ तथा सरल है, फिर भी रस-सिद्ध तथा सस्कृत मे व्यवहार किये गए शब्दों को लेकर चली है। इन्होने 'रघुवंश' तथा 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का अनुवाद किया। इन्ही में हम वर्तमान हिन्दी-गद्य का आभास पाते हैं। इसी समय स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने वैदिक एकेश्वरवाद को लेकर वैदिक धर्म का डका बजाया और अपना 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिन्दी या आर्य-भाषा मे प्रकाशित किया तथा हिन्दी-गद्य के प्रचार

मे हाथ बँटाया । पजाब के पडित श्रद्धाराम ने भी स्वामी दयानन्द की भाँति अपना सिद्धान्त-ग्रन्थ 'सत्यामृतप्रवाह' प्रौढ हिन्दी-गद्य मे लिखा। अत: हिन्दी-गद्य का स्वरूप स्थिर करने में धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों ने भी सहायता पहुँचाई। हिन्दी-गद्य एक निर्धारित मार्ग पकड चुका था। अब ऐसा समय उपस्थित हो गया था कि कोई प्रतिभा-सम्पन्न लेखक, जनता की रुचि तथा माँग के अनुकूल भाषा तथा शैली को सुव्यवस्थित तथा परिमार्जित करके, उसको एक उपयुक्त ढाँचे में ढालने के लिए आगे बढे। इस कार्य की पूर्ति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने की और यह युग भारतेन्दु-युग के नाम से प्रख्यात हुआ।

भारतेन्दु-युग

(स० १९००-१९५०)

आधुनिक युग का आरम्भ भारतेन्दु-युग अथवा सवत् १९०० से हुआ, क्योंकि भारतेन्दु के पदार्पण से साहित्य-क्षेत्र मे एक नवीन क्रान्ति हुई और प्राचीन विचारधारा पर्याप्त परिवर्तित हो गई। साहित्य की इस नवजागृति मे तात्कालिक परिस्थितियो ने भी अपूर्व सहयोग प्रदान किया। सामान्यतया उस समय का समाज पाश्चात्य संस्कृति के अनुराग तथा विराग के झूले मे झूल रहा था और भारतेन्दुजी तथा उनके सहयोगी साहित्यकारों ने साहित्य के सुधारस-पान से ही मृतप्राय सस्कृति को पुनर्जीवित करने का वीडा उठाया। इस युग ने साहित्य के प्रत्येक अग को अपनाया। क्या गद्य, क्या पद्य, दृश्यकाव्य-निवन्ध आदि सभी साहित्यांगों की धाराएँ चल पड़ी। परिमार्जित तथा व्यवस्थित भाषा का निर्माण करके वीर, भक्ति तथा शृंगार तीनो को सामंजस्य देकर आधुनिक साहित्य ने शैशवास्था को पार कर वाल्यावस्था में प्रवेश किया और गद्य के स्वरूप-प्रतिष्ठापन के साथ-ही-साथ वर्तमान साहित्य की परम्परा का प्रवर्त्तन भी हुआ। भारतेन्दुजी के प्रभाव के कारण उनके समय में ही लेखको का एक दल तैयार हो गया, जिनमे प्रतापनारायण मिश्र वालकृष्ण भट्ट, पं० वदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहनसिंह,

पं० अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास, कार्तिकदास खत्री और फ्रेडरिक पिकॉट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिन्दी-गद्य की सर्वतोमुखी प्रगति हुई और हिन्दी का प्रचार भी अनेक अनूदित नाटकों, मासिक तथा दैनिक पत्र-पत्रिकाओ द्वारा खूब बढ़ा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—इनका जन्म संवत् १९०७ में काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्यकुल में हुआ था और मृत्यु पैंतीस वर्ष की ही अवस्था मे स० १९४१ में हुई। यह वचपन से ही काव्य-प्रतिभा की ओर झुके हुए थे। इन्होने अपनी अतुल पैतृक सम्पत्ति को साहित्य-सेवा में अर्पित कर दिया। ये शतरज के कुशल खिलाड़ी, मार्मिक संगीतज्ञ, कुशल अभिनेता तथा हास्य और व्यंग्य के आचार्य थे। इन्होंने देश-प्रेम, समाज-सुधार, स्त्री-शिक्षा आदि की भावनाओं से प्रेरित होकर साहित्य और समाज की विचारधारा का सामंजस्य स्थापित किया। साहित्य के साथ-साथ भाषा तथा शैली का निर्माण उनका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है और हिन्दी-गद्य-शैली को अनिश्चितता के गर्त से निकालकर उसे निर्दिष्ट मार्ग पर ला सके। इस तरह भाषा तथा शैली का निखरा हुआ रूप लागो के सामने आया। इन्होने तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर और भावपक्ष से ओत-प्रोत होकर, छोटे-छोटे वाक्यों तथा चलतापन लिये हुए भावावेश की शैली तथा संस्कृत-शब्दों का पुट लिये हुए सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली तथ्य-निरूपण-शैली को अपनाया। अब तक हिन्दी मे नाटको का सर्वथा अभाव था। वंग-यात्रा से लौटने पर उस प्रदेश की भाषा के नाटक तथा उपन्यासों का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा और अपने मौलिक तथा अनूदित नाटको से इन्होने हिन्दी-साहित्य को भर दिया, जिसमें 'वैदिकीहिंसा हिंसा न भवति', 'चन्द्रावली', 'भारत-दुर्दशा', 'मुद्राराक्षस' तथा 'सत्य हरिश्चन्द्र' इत्यादि मुख्य हैं। ये प्रेम के आदर्श, समाज-सुधार की भावना, देश-प्रेम इत्यादि से ओत-प्रोत हैं। ये नाटक प्राचीन भारतीय रूपक-शैली तथा पाश्चात्य नाटक-रचना के वीच अपूर्व सामंजस्य स्थापित करते है।

इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। यह इतिहास-रचना की ओर भी मुड़े

थे। यह एक रस-सिद्ध कवि भी थे। इन्होंने रीतिकालीन कवियों की भाँति मार्मिक कवित्त तथा सवैये राधा-कृष्ण की भक्ति में लिखे, पर दूसरी ओर समाज तथा देश-सुधार की भावना की ओर भी इनका ध्यान रहा। अतः इनमें हम नवीनता तथा प्राचीनता दोनों का उचित समावेश पाते हैं। हिन्दी तथा इसकी गद्य-शैली के प्रचार के लिए इन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' तथा 'हरिश्चन्द्र-पत्रिका' निकालीं, जिनके द्वारा हिन्दी मे निबन्ध-रचना का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सेवा की और कुल मिलाकर एक सौ पिचहत्तर छोटे-मोटे ग्रन्थ लिखे। अतः यह युग-प्रवर्त्तक कहे जाते हैं।

प्रतापनारायण मिश्र—इनका जन्म संवत् १९१३ में और मृत्यु सं० १९५१ मे हुई। यह भी भारतेन्दु की भाँति ही मौजी स्वभाव के कलाकार थे और संस्कृत, फारसी, अरबी तथा बंगला इन सबका अध्ययन इन्होंने किया था। मौज मे आकर ये सब-कुछ भूल जाते थे और लावनी वालों के साथ घूमा करते थे। यद्यपि इनकी शैली भारतेन्दु से ही प्रभावित है, फिर भी उसमे कुछ भिन्नता तथा अपनापन है। व्यंग्यात्मकता तथा लोकप्रियता इनमें सबसे अधिक है, तथा भाषा पूरबीपन न लेकर बैसवारों की ग्राम्य कहावतों से भरी हुई है। इनकी रचनाओं मे भाषा की स्वच्छन्द गति, बात-चीत करने की चपलता, हास्य और विनोद का यत्र-तत्र पुट तथा चलते-फिरते मुहावरों की भरमार दिखाई पड़ती है। गम्भीर-से-गम्भीर विषय को भी उन्होंने मनोरंजक रूप में व्यक्त किया है। इनकी लेखनी देश-दशा, समाज-सुधार, नागरी-हिन्दी-प्रचार इत्यादि सभी विषयों पर चली है। विषय के साथ-ही-साथ 'वृद्ध', 'कनातन कटौल बाँधे', 'घूरेकलत्ता बिनै', 'समझदार की मौत है', 'भौं' इत्यादि इनके निबन्धो के शीर्षक भी आकर्षक ही है। उन्होंने शासन मे हिन्दी की दुर्गति देखकर कई निबन्ध हास्य-विनोद से ओत-प्रोत लिखे और व्यवहार में लाई जाने वाली उर्दू-फारसी का विरोध किया। संयत और गम्भीर विषय पर भी उन्होंने लेख लिखे। उन सब लेखों को स्वसम्पादित 'ब्राह्मण' पत्र द्वारा ही इन्होंने जनता के सामने रखा था। इनके अतिरिक्त 'कलिकौतुक रूपक', 'भारत-दुर्दशा',

'हठी हमीर' इत्यादि नाटक तथा लावनी की तर्ज पर 'सगीत शाकुन्तल' और 'गोसंकट' इत्यादि प्रहसन के भी यह रचयिता हुए। घोर दमन के युग मे व्यंगात्मक शैली को अपनाकर समाज मे इन्होने उथल-पुथल मचा दी। साथ ही निवन्ध-साहित्य के प्रवर्त्तक भी हुए। इनकी शैली का निम्नांकित नमूना है—

सच 'सवसे भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत गति'। मजे से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारा करना, जो कोई तिथि-त्यौहार आ पड़ा तो गंगा में बदन धो आना।

पं० बालकृष्ण भट्ट—इनका जन्म प्रयाग मे सवत् १९०१ और देहावसान संवत् १९७१ में हुआ। ये प्रयाग के कायस्थ पाठशाला कॉलेज मे सस्कृत के अध्यापक थे। इन्होने यही पर 'हिन्दी प्रवर्धिनी सभा' की स्थापना करके सवत् १९३३ मे गद्य-साहित्य की धारा को एक निर्धारित मार्ग मे ले जाने वाले अपने 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्र को निकाला। इस पत्र मे सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक आदि सभी विषय के निवन्ध प्रकाशित होते थे। यद्यपि इनकी लेखन-शैली प्रतापनारायण मिश्र के ही समान है और हास्य तथा विनोद का इसमें अपूर्व पुट है, पर इसमे कहावतो तथा मुहावरो का वाहुल्य है। साथ ही यह व्यग्य तथा वक्रता लिये हुए है। आँख, कान, नाक इत्यादि छोटे-छोटे विषयो पर इन्होंने वड़ी ही चुस्त तथा मुहावरेदार भाषा में आकर्षक निबन्धो की झड़ी लगा दी है। इनकी भाषा मे पूरवी शव्दो का प्रयोग है तथा 'समझा-बुझाकर' के स्थान पर 'समझाय-बुझाय' ही लिखा गया है। साथ ही कोष्ठों मे अग्रेजी-शव्दो को भी रखा है, जिससे शिक्षित लोग हिन्दी की ओर आकृष्ट हो सकें। अरवी तथा फारसी के शव्द भी ये वेधड़क होकर व्यवहार मे लाए है। इस तरह इनकी शैली चिडचिडाहट तथा एक निरालापन लिये हुए है। अपने पत्र द्वारा संस्कृत-साहित्य के कवियो का भी परिचय इन्होने कराया है। निवन्धो के अतिरिक्त 'कालिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'वाल-विवाह नाटक' इत्यादि छोटे-मोटे नाटक तथा 'पद्मावती' और

'शर्मिष्ठा' नामक बँगला के दो नाटकों का अनुवाद भी इन्होने किया है। इनकी शैली का उदाहरण देखिए—

यावत मिथ्या और दरोग की किबले गाह इस कल्पना पिशाचिनी का कहीं ओर-छोर किसी ने पाया है? अनुमान करते-करते हैरान गौतम से मुनि 'गौतम' हो गए कणाद तिनका खाकर किनका बीनने लगे, पर मन की मन-भवानी कन्या-कल्पना का पार न पाया।

उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—इनका जन्म संवत् १९१२ और मृत्यु सवत् १९७९ मे हुई। ये भारतेन्दुजी के मित्रो में से थे। गद्य के अतिरिक्त इन्होने व्रजभाषा में कविता, श्लोक, कवित्त तथा सवैये आदि भी लिखे हैं। इनकी भाषा तथा शैली विलक्षण तथा अलंकृत है। कादम्बरी की लेखन-कला का दर्शन हम इनके गद्य में पाते हैं, जिसमे पद-विन्यास तथा लम्वे वाक्यों की भरमार है। इनके लेख परिष्कृत तथा परिमार्जित हैं। यद्यपि गद्य-शैली मे इन्होंने कला-पक्ष को विशेप स्थान प्रदान किया है, फिर भी रचना आडम्वरहीन ही है। भट्टजी की भाँति समालोचना के भी ये ही प्रवर्त्तक माने जाते है। इन्होंने 'भारत-सौभाग्य', 'प्रयाग-रामागमन' इत्यादि कई नाटक भी लिखे हैं।

ठाकुर जगमोहनसिंह—जयपुर राज्य-वश के सम्बन्धी कछवाहे राजपूत तथा सस्कृत और अंग्रेजी-साहित्य के अच्छे जानकार और हिन्दी के यह प्रेम-पथिक कवि काशी मे रहते हुए भारतेन्दुजी के सम्पर्क मे आए। इन्होने विन्ध्याचल के रमणीय प्रदेश में निवास करने के कारण तथा संस्कृत-साहित्य के सम्पर्क से अनेकरूपा प्रकृति के परम रूप का सच्चा साक्षात्कार प्राप्त करके वास्तविक वर्णन किया। इनकी शैली माधुर्य गुण को ही लेकर चली है। साथ ही मानव तथा प्रकृति का सामंजस्य हम इनमे पाते हैं। यह पहले हिन्दी के लेखक थे, जो शब्द-विधान के चातुर्य को प्रधानता प्रदान न करके रूप-विधान की विलक्षणता की ओर झुके, जो भावों की प्रवलता को लिये हुए थी। इनकी रचनाओ मे 'श्यामा-स्वप्न', 'श्यामलता', 'देवयानी', 'प्रेम-रत्नाकर' इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

भारतेन्दु-युग के अन्य लेखको में लाला श्रीनिवासदास, पं० अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, पं० सोहनलाल विष्णुलाल पड्या, राधाकृष्णदास, कार्तिकदास खत्री आदि हुए, जिन्होने साहित्य के विविध अंगो को अपनाकर हिन्दी-साहित्य के अक्षय भण्डार को भरा। इस युग मे भाषा, कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध एवं समाचार-पत्रो की भरमार आरम्भ हुई और लोगो की दृष्टि हिन्दी भाषा की ओर मुड़ी। इस तरह हिन्दी का प्रचार-कार्य भी जोरो से चला। जन-सामान्य और शासन-विधान मे हिन्दी को प्रचारित करने का कार्य भी उस समय की एक और महत्त्वपूर्ण समस्या थी और समाज-सुधारक तथा साहित्य-सेवियो ने इसे सुलझाने का अथक परिश्रम किया। भारतेन्दुजी के गोलोकवास के पश्चात् हिन्दी-साहित्य की यह प्रगति उत्तरोत्तर उन्नति करती रही और हिन्दी-भाषा और नागरी लिपि के प्रचार, प्रसार तथा उन्नति को ध्यान मे रखते हुए डॉ० श्यामसुन्दरदास-जैसे साहित्य-मनीषी तथा उनके सहयोगियों ने मिलकर प्राचीन साहित्यिक खोज तथा अनुसन्धान के लिए उच्च साहित्य की प्रेरणा प्रदान करने वाली तथा कोश, व्याकरण और मार्मिक तथा गम्भीर लेखो से हिन्दी-साहित्य के खजाने को भरने वाली प्रसिद्ध काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना संवत् १९५० मे की। साथ ही पं० मदनमोहन मालवीय-जैसे सच्चे हिन्दू कर्मठ नेता के नेतृत्व मे, अयोध्या-नरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह, राजा साहब मांडा, राजा बलवन्तसिंह और डॉक्टर सुन्दरलाल-जैसे सुयोग्य और शिष्ट व्यक्तियों का एक डेपुटेशन नागरी का मेमोरेंडम लिये हुए युक्तप्रान्त (उत्तर प्रदेश) के गवर्नर महोदय से मिला और इन्ही भाषा तथा लिपि-प्रेमियो के सतत उद्योग से संवत् १९५७ में कचहरियों में नागरी का वांछित तथा न्यायपूर्ण प्रवेश हो गया। इस भाँति भारतेन्दु-युग खड़ी बोली का प्रचार-युग ही था, साथ ही भाषा का व्याकरण द्वारा संस्कार तथा खड़ी बोली को कविता मे आसन अभी तक नही प्राप्त हो सका था। ऐसी ही परिस्थिति मे द्विवेदी-युग का आविर्भाव हुआ और इस आचार्य ने हिन्दी-संसार मे उपस्थित

उपर्युक्त समस्याओ का समाधान कर दिया। अत. हिन्दी-साहित्य का द्वितीय उत्थान हुआ, जिसका समय संवत् १९५० से १९७५ के आस-पास तक आँका जाता है।

द्विवेदी-युग
(१९५०—१०७५)

हिन्दी-गद्य के प्रथम उत्थान मे हम साहित्य की ओर कुमारावस्था के दर्शन करते हैं। इस युग के लेखको की रुचि साधारण जन-समाज को हिन्दी-साहित्य की ओर आकृष्ट करना-मात्र थी और हिन्दी गद्य-साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता प्रतिष्ठित हो चुकी थी। पर भाषा का परिमार्जन अभी अच्छी तरह नही हो पाया था। लोग अंग्रेजी तथा बँगला का अनुकरण करके ही अपनी रचना किया करते थे, जिससे भाषा कोई अपना विशिष्ट रूप निर्धारित नही कर सकी थी, प्रत्युत अपने अनुसार जिससे जैसा बनता था वैसा ही साध लेता था। रीतिकाल की ब्रजभाषा की भाँति हरिश्चन्द्र-युग की खड़ी बोली भी व्याकरण-संस्कार से हीन थी। खडी बोली मे पद्य की प्रतिष्ठा तथा निश्चित शैलियो के निर्धारण की ओर भी विद्वानो का ध्यान जा रहा था। यह युग नवीनता तथा प्राचीनता के समन्वय को ही लेकर उपस्थित हुआ था।

अत इन परिस्थितियो मे गद्य का द्वितीय उत्थान अथवा द्विवेदी-युग का प्रादुर्भाव हुआ। राजनीति ने भी सन् १९०५ के 'बंग-भंग-आन्दोलन' द्वारा राज्यभक्ति-मिश्रित देश-भक्ति को लात मारकर जनता को शुद्ध राष्ट्रीय भावनाओ से ओत-प्रोत किया। अतः इस क्रान्ति का साहित्य पर भी प्रचुर प्रभाव पडा और इसमे भी क्रान्ति उत्पन्न हुई। साहित्य के समा-लोचना, उपन्यास तथा निबन्ध आदि अगो के निरूपण की ओर भी साहित्य-सेवको का ध्यान गया। ऐसी ही परिस्थितियो मे आचार्य महावीर-प्रसादजी द्विवेदी हिन्दी-गगन मे दिखाई पड़े, जिन्होने व्याकरण के व्यतिक्रम और भाषा की अस्थिरता को प्रदर्शित करके साहित्य को नये मार्ग की ओर मोड़ दिया। भारतेन्दु बाबू के सदृश द्विवेदीजी ने भी शैली की अनेकरूपता

और अनेकानेक नवीन विषयों की ओर लेखको का ध्यान आकृष्ट किया। साथ ही गद्यले-खको की शैली इतनी मँजी कि शैली को देखकर ही लेखको को पहचाना जा सकता था। इस उत्थान के भीतर गद्य-साहित्य का क्षेत्र विस्तृत हो गया और यह नाटक, उपन्यास, निवन्ध और समालोचना द्वारा विकसित हुआ।

नाटको मे अनूदित नाटक ही अधिक रहे, जिनमे **गोपालराम गहमरी, रायवहादुर लाला सीताराम, पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र** तथा **पण्डित सत्य-नारायण कविरत्न** के अनूदित नाटक मुख्य है। मौलिक नाटको मे **पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी** ने 'चौपट-चपेट', 'मयंकमंजरी', **पण्डित अयोध्या-प्रसाद** ने 'रुक्मिणी विजय' और **राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'** ने 'चन्द्रकला-भानु-कुमार' नाटक लिखे।

उपन्यास के क्षेत्र मे भी यही वात रही। इसमे भी पहले अनुवादो की भरमार रही, जिसमे **बाबू गोपालराम गहमरी** का 'चतुर चंचला' 'भानु-मती', वंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्रदत्त शरत् वावू-कृत उपन्यासो के अनुवाद, अंग्रेज़ी के 'लैला' और 'लन्दन-रहस्य' नामक अनूदित उपन्यास उल्लेखनीय हैं। मौलिक उपन्यास-लेखको मे काशी के **वावू देवकीनन्दन खत्री** ने 'चन्द्र-कान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' नामक घटना-वैचित्र्यपूर्ण उपन्यासो को प्रस्तुत किया, जिनको पढने के लिए जो लोग हिन्दी नही जानते थे, उन्होने भी हिन्दी सीखी। दूसरे मौलिक उपन्यासकार **किशोरीलाल गोस्वामी** हुए, जिन्होने 'तारा', 'चपला', 'तरुण तपस्विनी' इत्यादि उपन्यासो द्वारा समाज के सजीव चित्र, वासनाओ के रूप-रंग तथा मनमोहक वर्णन उपस्थित किए। उन्होने 'उपन्यास' नामक एक मासिक पत्र भी निकाला और लग-भग पैंसठ छोटे-बड़े उपन्यास लिखे। **पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय** ने भी 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास लिखे, पर इन दोनो पुस्तको मे ठेठ हिन्दी का नमूना ही हिन्दी-प्रेमियो के सामने रखा गया है, जो औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही है। उपाध्याय-जी के साथ-ही-साथ हिन्दू मर्यादा और हिन्दू-धर्म का दिग्दर्शन कराने के

साथ संस्कृत के वर्ण-वृत्तो को भी उचित महत्त्व प्रदान किया। इन्ही की प्रेरणा से अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास', गुप्तजी ने 'भारत-भारती' तथा रामनरेश त्रिपाठी ने 'स्वप्न' तथा 'पथिक' नामक काव्य लिखे। इसके अतिरिक्त इन्होने दूसरे भाषा-भाषी लेखको को भी हिन्दी लिखने के लिए उत्साहित किया, जिसमे प्रेमचन्दजी तथा अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक सन्त निहालसिंहजी के नाम उल्लेखनीय है। प्रेमचन्दजी तो उर्दू से हिन्दी के क्षेत्र में पूर्णत. ही आ गए। इस तरह एक निपुण माली की भाँति हमारे साहित्योद्यान को काट-छाँटकर परिष्कृत करने वाले आचार्य द्विवेदी-जी ने भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से अभिनव चेतना और स्वच्छता के साथ-साथ, साहित्य को नवीन रूप मे सजाकर जन-समाज के सामने रखा। यह स्वयं भी हिन्दी में एक बड़े साहित्य के निर्माता हुए और छोटे-बड़े निबन्धों तथा लेखो के अतिरिक्त इन्होने और दूसरे चालीस ग्रन्थ लिखे या अनूदित किये। कालिदास के 'रघुवश' और 'कुमारसभव' के पद्य-बद्ध अनुवाद और 'महाभारत' का संक्षिप्त गद्यानुवाद इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। अपनी इतिवृत्तात्मक कविता द्वारा हिन्दी-साहित्य मे छायावाद के बीज बोने वाले यही मनीषी थे। आपके विषय मे हिन्दी के युग-निर्माता कवि सुमित्रानन्दन पन्त जी लिखते हैं—

भारतेन्दु कर गये भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर-संधान।
निश्चय उससे जगा आपने प्रथम स्वर्ण झंकार,
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार॥

बाबू बालमुकुन्द गुप्त—इनका जन्म पजाब के रोहतक जिले के गुर्यानी गाँव में स० १९२२ और मृत्यु स० १९६४ मे हुई। ये उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे तथा कलकत्ता के प्रसिद्ध पत्र 'बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' के सम्पादक थे। ये प्रतापनारायण मिश्र की भाँति व्यंग्य तथा हास्यप्रिय व्यक्ति थे। इन्होने द्विवेदीजी की 'आत्माराम' के नाम से आलोचना भी की थी। इनके निबन्धो का संग्रह 'गुप्त-निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हुआ है। सामू-

हिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो से प्रेरित होकर कई मनोरंजक प्रबन्धों को इन्होने हिन्दी-जगत् के सामने प्रस्तुत किया, जिनमे 'शिव शिम्भू के चिट्ठो' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उर्दू के अच्छे लेखक होने के कारण इनमें यह चलतापन, सजीवता तथा विनोद का अच्छा पुट दे देते थे और इसी विनोदात्मक शैली मे भावो का उचित समावेश भी रहता था। इनकी शैली का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं, चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी। इधर भंग, उधर घटा, बहार में बहार बम भोला कहकर शर्माजी ने एक लोटा चढ़ाई, ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिण्टो ने गंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली।

पं० माधवप्रसाद मिश्र—भारतीय संस्कृति के सतत रक्षक होते हुए भी जोश तथा प्रगल्भता लिये हुए लेख लिखने वाले थे। साथ ही देश-भक्ति का सरस अनुराग उनके अन्दर विद्यमान था। इनके लेख पर्व, त्योहार, उत्सव आदि विषयो पर 'सुदर्शन' इत्यादि में निकलते थे।

पं० गोविन्दनारायण मिश्र—वाण तथा दण्डी के अनुकरण पर समास-अनुप्रासमिश्रित पदावली को ही अपनी शैली मे उपस्थित कर पाए। इनमे हम विचारों की उत्तेजना के ही दर्शन करते हैं, भाषा की शक्ति के नही।

बाबू श्यामसुन्दरदास—हिन्दी-साहित्य के एक प्रतिभाशाली लेखक थे। उन्होने सदैव नवीन विषयो पर अपनी लेखनी उठाई। ये हिन्दी के प्रचार तथा उत्थान की प्रेरणा-रूप काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के सस्थापको मे से थे। हिन्दी-प्रचार के साथ-साथ प्राचीन पुस्तकों की खोज तथा साहित्य और भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी सामग्री एकत्र कर इन्होने साहित्य-सेवियो के सामने साहित्यिक उपादान प्रस्तुत किये। 'भापा-विज्ञान' तथा काव्य के विभिन्न अंगो का निरूपण करने वाले 'साहित्यालोचन' नामक ग्रन्थ के ये प्रणेता हुए, जो हिन्दी में अपनी तरह की पहली पुस्तक है। अतः इनके लिए उन्हे अपनी भापा को तदनुरूप बनाना पड़ा और सर्वदा यह ध्यान रखना पडा कि विपय का सरल एवं बोधगम्य भापा मे पूर्ण रूप

लिए पण्डित लज्जाराम मेहता ने भी 'धूर्तरसिकलाल' और 'हिन्दू-गृहस्थ' नाम के दो उपन्यास लिखे।

द्विवेदीजी की 'सरस्वती' नामक पत्रिका द्वारा अग्रेजी-आख्यायिकाओ के अनुकरण पर बग-भाषा मे गल्प के नाम से प्रसिद्ध कहानियो के समान हिन्दी मे भी मार्मिक और भाव-व्यजक खण्ड-चित्रो को उपस्थित करने वाली छोटी-छोटी कहानियों का अभ्युदय हुआ। इस युग के प्रथम कहानी-लेखको मे 'इन्दुमती' तथा 'गुलवहार' के लेखक किशोरीलाल गोस्वामी हुए। 'ग्यारह वर्ष का समय' पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने और 'पण्डित और पण्डिताइन' गिरजादत्त वाजपेई ने लिखी। बाबू जयशंकर प्रसाद ने भी इसी युग मे अपनी कहानियो का प्रारम्भ किया था। हिन्दी के प्रसिद्ध कहानी-लेखक पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', राजा राधिकारमणप्रसादसिंह, ज्वालादत्त शर्मा तथा चतुरसेन शास्त्री भी कहानी लिखने के लिए इसी काल मे झुके। प्रेमचन्द्र भी सवत् १९७३ से ही कहानी-कला मे प्रवृत्त हुए। अंग्रेजो की उच्च शिक्षा से सम्पन्न तथा प्रसिद्ध 'समालोचक' पत्र के सम्पादक श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपनी अनोखी लेखन-शैली के साथ साहित्य-क्षेत्र मे द्विवेदी-युग मे ही आये थे। अनेक गम्भीर विषयो मे इनकी शैली विनोद तथा चुटकियो का पुट लिये चलती थी, अत इनकी शैली मे हमें विशिष्टता और अर्थ-गर्भित वक्रता के दर्शन होते है। इनकी अद्वितीय कहानी 'उसने कहा था' हिन्दी-साहित्य मे अपना एक अपूर्व स्थान रखती है, जिसमे कथोपकथन, कथानक तथा चरित्र-चित्रण के साथ-ही-साथ कहानी अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँच गई है और मर्यादा की परिधि के अन्दर ही भावुकता की पराकाष्ठा को प्राप्त कर सकी है। घटना ही कथानक को आगे वढाती हैं। इसी के अन्दर हमे अनन्त प्रेम के दर्शन प्राप्त होते है। द्विवेदी-युग मे ही गद्य की कसौटी 'निवन्ध' का प्रादुर्भाव हुआ और व्यक्तित्व प्रकट करने वाले निवन्ध लिखे गए। इन्ही निवन्ध-लेखकों मे पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० गोविन्दनारायण मिश्र इत्यादि नाम उल्लेखनीय है।

प० महावीरप्रसाद द्विवेदी—इनका जन्म रायबरेली के दौलतपुर गाँव में सं० १९२७ और देहावसान स० १९९५ मे हुआ। इन्होने अपने जन्म के चालीसवे वर्ष मे अपने प्रौढ हाथो से 'सरस्वती' नामक पत्रिका का इतना सुन्दर सम्पादन किया कि उसके द्वारा हिन्दी-ससार मे एक नवीन जीवन का सचार हुआ। ये अग्रेजी, बँगला, गुजराती, मराठी, सस्कृत तथा फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। 'सरस्वती' के सम्पादन-युग मे ही हिन्दी के गद्य-पद्य का अपने ढग से इन्होने परिष्कार किया। इनके पहले गद्य की भाषा ऊबड़-खाबड़ थी और उसमे कोई नियमित परिपाटी नही थी। पर इन्होंने अपने प्रयत्न से भाषा को सीधा-सादा तथा समय के उपयुक्त करके उसे सव तरह के भाव तथा विचारों को प्रकट करने के योग्य वनाया। अत: इसी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर इन्होने हिन्दी के गद्य-पद्य को अपने मस्तिष्क के ढाँचे मे ढालकर सुन्दर-सुडौल बना दिया। यद्यपि इसके लिए अनेक वाद-विवाद हुए, पर अन्त में द्विवेदीजी की शैली ही लोकप्रिय हो गई। इनके निवन्ध इतने गम्भीर नही है कि उनसे प्रभावित होकर पाठक अपने को कल्पनाओ के नये ससार मे पाये; और शुक्लजी के शब्दो मे, इनके लेखो से ऐसा जान पड़ता है कि 'इन्होने इसे मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिखा है।' पर इनकी यह शैली किसी को शास्त्रार्थ में हराने के उपयुक्त है। इसमे छोटे-छोटे वाक्यो का प्रयोग तथा कही-कहीं वाक्यो की पुनरुक्ति है, फिर भी भाषा-संस्कार की दृष्टि से यह व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। 'सरस्वती' मे प्रकाशित होने वाले लेखो का सशोधन करके, लेखको को सावधानी के साथ लिखने की इन्होने शिक्षा दी। इनकी शैली मे व्यंगात्मक, आलोचनात्मक तथा गवेषणात्मक तीनो गुणो का उचित समावेश था।

खड़ी वोली-पद्य के तो यह प्रथम प्रवर्त्तक हैं। श्रीधर पाठक तथा प्रतापनारायण मिश्र-जैसे खडी वोली के प्रवर्त्तक भी इनके सामने झुक गए। द्विवेदीजी ने प्रेम की प्राचीन परिपाटी का परित्याग करके स्वदेशानुराग की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया और हिन्दी के मात्रिक छन्दो के साथ-

साथ सस्कृत के वर्ण-वृत्तों को भी उचित महत्त्व प्रदान किया। इन्ही की प्रेरणा से अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास', गुप्तजी ने 'भारत-भारती' तथा रामनरेश त्रिपाठी ने 'स्वप्न' तथा 'पथिक' नामक काव्य लिखे। इसके अतिरिक्त इन्होने दूसरे भाषा-भाषी लेखको को भी हिन्दी लिखने के लिए उत्साहित किया, जिसमे प्रेमचन्दजी तथा अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक सन्त निहालसिहजी के नाम उल्लेखनीय है। प्रेमचन्दजी तो उर्दू से हिन्दी के क्षेत्र मे पूर्णत ही आ गए। इस तरह एक निपुण माली की भाँति हमारे साहित्योद्यान को काट-छाँटकर परिष्कृत करने वाले आचार्य द्विवेदी-जी ने भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से अभिनव चेतना और स्वच्छता के साथ-साथ, साहित्य को नवीन रूप मे सजाकर जन-समाज के सामने रखा। यह स्वयं भी हिन्दी मे एक बडे साहित्य के निर्माता हुए और छोटे-बड़े निबन्धो तथा लेखों के अतिरिक्त इन्होने और दूसरे चालीस ग्रन्थ लिखे या अनूदित किये। कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' के पद्य-बद्ध अनुवाद और 'महाभारत' का सक्षिप्त गद्यानुवाद इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। अपनी इतिवृत्तात्मक कविता द्वारा हिन्दी-साहित्य मे छायावाद के बीज बोने वाले यही मनीषी थे। आपके विषय मे हिन्दी के युग-निर्माता कवि सुमित्रानन्दन पन्त जी लिखते है—

भारतेन्दु कर गये भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर-संधान।
निश्चय उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण झंकार,
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार॥

बाबू बालमुकुन्द गुप्त—इनका जन्म पजाब के रोहतक जिले के गुर्यानी गाँव में सं० १९२२ और मृत्यु सं० १९६४ मे हुई। ये उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे तथा कलकत्ता के प्रसिद्ध पत्र 'बगवासी' तथा 'भारतमित्र' के सम्पादक थे। ये प्रतापनारायण मिश्र की भाँति व्यग्य तथा हास्यप्रिय व्यक्ति थे। इन्होंने द्विवेदीजी की 'आत्माराम' के नाम से आलोचना भी की थी। इनके निबन्धों का सग्रह 'गुप्त-निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हुआ है। आनु-

हिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर कई मनोरंजक प्रवन्धो को इन्होने हिन्दी-जगत् के सामने प्रस्तुत किया, जिनमे 'शिव शिम्भू के चिट्ठो' का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। उर्दू के अच्छे लेखक होने के कारण इनमे यह चलतापन, सजीवता तथा विनोद का अच्छा पुट दे देते थे और इसी विनोदात्मक शैली में भावो का उचित समावेश भी रहता था। इनकी शैली का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

इतने में देखा कि वादल उमड़ रहे हैं, चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी। इधर भंग, उधर घटा, बहार मे बहार बम भोला कहकर शर्माजी ने एक लोटा चढ़ाई, ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिण्टो ने गंगदेश के भूतपूर्व छोठे लाट उडवर्न की मूर्ति खोली।

पं० माधवप्रसाद मिश्र—भारतीय सस्कृति के सतत रक्षक होते हुए भी जोश तथा प्रगलभता लिये हुए लेख लिखने वाले थे। साथ ही देश-भक्ति का सरस अनुराग उनके अन्दर विद्यमान था। इनके लेख पर्व, त्योहार, उत्सव आदि विषयों पर 'सुदर्शन' इत्यादि में निकलते थे।

पं० गोविन्दनारायण मिश्र—वाण तथा दण्डी के अनुकरण पर समास-अनुप्रासमिश्रित पदावली को ही अपनी शैली मे उपस्थित कर पाए। इनमे हम विचारो की उत्तेजना के ही दर्शन करते हैं, भाषा की शक्ति के नही।

वावू श्यामसुन्दरदास—हिन्दी-साहित्य के एक प्रतिभाशाली लेखक थे। उन्होने सदैव नवीन विषयों पर अपनी लेखनी उठाई। ये हिन्दी के प्रचार तथा उत्थान की प्रेरणा-रूप काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापको मे से थे। हिन्दी-प्रचार के साथ-साथ प्राचीन पुस्तकों की खोज तथा साहित्य और भाषा-विज्ञान-सम्वन्धी सामग्री एकत्र कर इन्होंने साहित्य-सेवियो के सामने साहित्यिक उपादान प्रस्तुत किये। 'भापा-विज्ञान' तथा काव्य के विभिन्न अंगो का निरूपण करने वाले 'साहित्यालोचन' नामक ग्रन्थ के ये प्रणेता हुए, जो हिन्दी में अपनी तरह की पहली पुस्तक है। अतः इनके लिए उन्हें अपनी भापा को तदनुरूप वनाना पड़ा और सर्वदा यह ध्यान रखना पड़ा कि विपय का सरल एवं वोधगम्य भापा मे पूर्ण रूप

से दिग्दर्शन हो सके। साथ ही भावो की व्यजना के क्रमिक विकास की ओर भी इनका विशेष ध्यान रहा। साहित्य के ऊपर परिस्थितियों का क्या प्रभाव होता है, इसका पूर्ण दिग्दर्शन कराते हुए हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रतिपादन करने वाला 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक ग्रन्थ इन्होंने लिखा। साथ ही 'हिन्दी-शब्द सागर' का सम्पादन करके आपने अपने अदम्य साहस तथा पुरुषार्थ का परिचय दिया।

भाषा भाव की प्रकाशिका होती है, अतः गम्भीर विषयों पर लिखने के कारण आपकी भाषा भी स्वभावत गम्भीर है। पर इसमें क्लिष्टता का पूर्ण परित्याग और परिपुष्टता तथा सुबोधता के ही दर्शन होते है। इस प्रकार इनकी शैली साधारणतः संगठित एव सुव्यवस्थित ही है तथा इसमे धारावाहिक प्रभाव पाया जाता है। विदेशी शब्दों का भी समावेश इनकी भाषा मे है, पर उनके विदेशीपन को निकालकर तथा उन्हे भारतीयता के साँचे में ढालकर ही उन्हें स्वीकृत किया गया है। जटिल एव दुर्बोध विषयों के प्रतिपादन के लिए छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग इनकी विशेषता है। अतः वर्तमान हिन्दी साहित्य इन्हे सर्वदा मूल प्रेरणा के रूप में ही स्वीकार करेगा।

समालोचना के क्षेत्र मे भी द्विवेदी-युग मे भारतेन्दु-युग की भट्ट तथा 'प्रेमघन' द्वारा प्रादुर्भूत गम्भीर साहित्य-समीक्षा को ही उचित स्थान प्राप्त हुआ। इस कार्य का भी सूत्रपात्र द्विवेदीजी ने ही किया। देव को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करने वाले 'हिन्दी-नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ को मिश्र-बन्धुओं ने प्रणीत किया। इससे तुलनात्मक समालोचना को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। पं० पद्मसिंह शर्मा ने देव को बिहारी से छोटा सिद्ध करते हुए एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। पर इस युग मे समालोचना उन्नति के अन्तिम शिखर तक न पहुंच सकी। पं० रामचन्द्रजी शुक्ल द्विवेदी-युग के लेखक होते हुए भी विकास-काल के श्रेष्ठ समालोचको मे अग्रगण्य है। इनके अतिरिक्त बाबू गुलाबरायजी भी एक अच्छे समालोचक तथा भावात्मक और विकास-काल मे भी

साहित्य के गम्भीर विषयों पर निवन्ध तथा पुस्तकें लिखकर हिन्दी-
साहित्य के गम्भीर विषयो पर निवन्ध तथा पुस्तके लिखकर हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि की है।

द्विवेदी-युग मे ही हिन्दी भाषा और लिपि के प्राण-स्वरूप तथा अद्‌भुत कर्मठ नेता राजर्षि वावू पुरुषोत्तमदासजी टण्डन और उनके सहयोगी एव पथ-प्रदर्शको ने मिलकर 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' को जन्म दिया, जिसकी परीक्षाओं द्वारा अन्य विभाषी प्रान्तो मे भी हिन्दी का प्रचार हुआ। इसी अपूर्व मनीषी के सतत उद्योग से हिन्दी आज राष्ट्र-भाषा के उच्च पद पर आसीन है।

विकास-युग

(सवंत् १९७५ से अब तक)

इस युग मे लेखको ने भाषा पर अपना पूर्ण अधिकार रखते हुए प्राचीन और नवीन साहित्य के स्वरूप को ठीक तरह से परखकर हिन्दी-साहित्य को पुष्ट और प्रौढ किया। गद्य-साहित्य पाश्चात्य प्रभाव से अपने को वचित न रख सका। अत· उस युग के यूरोप मे प्रादुर्भूत अनेक वादो की हिन्दी के लेखको ने नकल की और उसे 'आधुनिकता' के वस्त्र से सुसज्जित करके साहित्य-क्षेत्र मे लाये। पर ये प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष-रूपेण अनुवाद-मात्र ही रह गए। यद्यपि यह वास्तविक साहित्य की प्रगति को नही रोक पाये, पर इनका आवरण ता उस पर कुछ समय के लिए अवश्य ही रहा। लोगो ने यूरोप की नकल तो की, पर उसे भारतीयता के साँचे मे ढालने में कुछ ही लोग समर्थ रहे। टॉलस्टाय के 'प्रेम' तथा यूरोप के 'साम्यवाद' ने साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया और इसकी स्पष्ट छाप हम गद्य-साहित्य पर पाते है। पर ऐसा नही है कि साहित्य मे विदेशी प्रभाव के कारण मौलिकता नही रह पाई। हिन्दी के प्रसिद्ध प्रतिभा-शाली और भारतीय समाज का सच्चा स्वरूप उपस्थित करने वाले वावू प्रेमचन्द तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले एव साहित्य को अपनी सूक्ष्म कल्पना द्वारा अमर सौन्दर्य की झाँकी दिखलाने वाले वावू जयशंकर प्रसादजी इसी

युग की देन है। इस युग मे गद्य-लेखको की बाढ-सी लग गई और उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध तथा समालोचना एव काव्य-मीमांसा, सभी द्वारा हिन्दी-साहित्य के अक्षय भण्डार को भरा गया।

कथा-साहित्य मे सरसता एव सजीवता का वेगयुक्त प्रवाह दिखाने वाले बाबू प्रेमचन्दजी ने साहित्य मे जन-समाज की मान्यताओ तथा समस्याओं का स्पष्ट चित्र अकित किया। ये उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र मे एक नूतन सन्देश लेकर अवतरित हुए थे। द्विवेदी-युग की भाँति दैवी घटनाओं का विशेप उल्लेख न करके पात्रो के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा मानसिक घात-प्रतिघात की ओर विशेप ध्यान दिया जाने लगा। इस नवीन प्रणाली का सूत्रपात हिन्दी-उपन्यास-साहित्य मे बँगला तथा अग्रेजी के प्रभाव से ही हुआ।

प्रेमचन्द—इनका जन्म सवत् १९३७ मे काशी के पास ही लमही नामक ग्राम मे हुआ था और मृत्यु सवत् १९९३ मे हुई। इनका असली नाम श्री धनपतराय श्रीवास्तव था। इन्होने उर्दू तथा फारसी का अध्ययन किया था, अतः प्रारम्भ मे इन्होंने उर्दू मे ही लिखना आरम्भ किया, पर बाद मे इन्होने हिन्दी-जगत् मे प्रवेश किया। इस समय भारतीय जनता ब्रिटिश साम्राज्यशाही के कल-पुर्जे जमीदार, साहूकार, पुलिस वकील इत्यादि से बुरी तरह शोपित थी। अत इस सफल उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक ने इन समस्त समस्याओ तथा उलझनो का स्पष्ट चित्र अकित करते हुए समाज का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत किया। समाज को कोई कल्पना की वस्तु न मानकर, उसे वैचित्र्य तथा विभिन्नता से पूर्ण जीवित समुदाय ही समझकर, इसे अपने उपन्यासो द्वारा इन्होने स्पष्ट झलकाया। प्रेमचन्दजी ने समाज की गतिविधि का भली-भाँति अध्ययन करके उसके प्रत्येक पात्र की गति तथा स्पन्दन का अपनी लेखनी द्वारा पाठकों को परिचय कराया। सामयिक आन्दोलन से प्रभावित होकर राष्ट्रीयता की भी छाप इन पर पड़ी और 'राष्ट्र-धर्म' को इन्होने मनुष्य-धर्म के रूप मे ग्रहण किया तथा इसी राष्ट्रीयता मे अपने को रँगा। इनकी रचनाओ मे

आशावाद के भी दर्शन होते हैं और इनसे उत्साह तथा उत्कट उद्योग की स्पष्ट झंकार आती है। ये सामाजिक क्रान्ति की भावनाओ से ओत-प्रोत है।

इनके उपन्यासों में निम्न और मध्यम श्रेणी के लोगों के जीवन का सच्चा स्वरूप अकित है। इनके चित्रण मे स्वाभाविकता झलकती है और ऐसा प्रतीत होता है कि पाठक भी वर्णित पात्र की भाँति किसी पुरुष के सम्पर्क मे आया है। इनसे यह स्पष्ट होता है कि जिस ग्रामीण जनता को उच्च वर्ग के लोग अशिक्षित, जाहिल तथा असभ्य इत्यादि विशेषणों से विभूपित करते है, उनमे शहर वालो की अपेक्षा अधिक आत्म-वल तथा न्यायप्रियता है। इनका विश्वास मनुष्य की सद्वृत्तियो में ही था, उसकी वाहरी टीम-टाम मे नही। आपके उपन्यासो को पढकर भारतीय ग्रामीण जीवन तथा सामाजिक, आर्थिक एवं तात्कालिक राजनीतिक समस्याएँ आँखो के सामने नाचने लगती है। आपके सभी पात्र भारतीय जनता के भिन्न-भिन्न वर्गो एवं दलो के प्रतिनिधि हैं।

पात्रो के हृदयोद्गार होने से आपकी भाषा उपमा तथा उत्प्रेक्षा से युक्त, स्वाभाविक उच्छ्वास तथा प्रगति एव प्रवाह को लेकर चली है। पात्रों की मन स्थितियो के दिग्दर्शन से भाषा प्राणस्पर्शिनी है और इसमें सुन्दर कवित्वपूर्ण व्यजना का भी उचित समावेश है। यद्यपि इनके वाक्य छोटे-छोटे है, पर इनमे सादगी विद्यमान है और इनकी सूक्तियाँ जीवन के अनुभवो की खमीर हैं। इन्होने तीव्र व्यंग्य न करके मीठी चुटकियो का ही प्रयोग किया है। इनके उपन्यासो में 'सेवा-सदन', 'कर्मभूमि', 'रगभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'गोदान' इत्यादि मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। ये हिन्दी के एक तपस्वी कलाकार थे।

इनके पश्चात् हिन्दी-साहित्य मे उपन्यासो की धूम-सी मच गई। एक नवीन युग के स्रष्टा श्री जयशंकरप्रसाद ने समाज के वन्धनो के विरुद्ध 'ककाल' और 'तितली', वावू वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी' आदि ऐतिहासिक उपन्यास, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'जय यौधेय' और 'सिंह सेनापति' नामक उपन्यास, मनुष्य के रागात्मक

सम्बन्ध की मार्मिकता को व्यक्त करने वाले श्री विशम्भरनाथ कौशिक ने 'माँ' तथा 'भिखारिणी', श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने 'विदा' तथा अन्तर्वृत्तियों का दिग्दर्शन कराने वाले श्री जैनेन्द्रकुमार ने 'कल्याणी' तथा 'सुनीता' आदि उपन्यासो को लिखकर उपन्यास-साहित्य की वृद्धि की। इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में श्री चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिका-रमणप्रसादसिंह, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', सुदर्शन, यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पाप और पुण्य की मीमासा करने वाले 'चित्रलेखा' उपन्यास के रचयिता बाबू भगवतीचरण वर्मा, पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भगवतीप्रसाद वाजपेयी तथा इलाचन्द्र जोशी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। घटना-वैचित्र्य-प्रधान जासूसी उपन्यास भी इस युग मे अधिक लिखे गए। पर इन आधुनिक उपन्यासो मे कुछ दोष भी हैं। इनमें सरसता और प्रेम इत्यादि का भरपूर वर्णन नही है। साथ ही महत्त्वपूर्ण स्थलो की ओर सूक्ष्म दृष्टिपात नही किया गया।

'सरस्वती' आदि पत्रिकाओ का कहानी-साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा, और प्रेमचन्द तथा प्रसादजी के अतिरिक्त श्री विश्वम्भरनाथ कौशिक, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', सुदर्शन, 'निराला' आदि प्रसिद्ध कहानी-लेखक हुए। भारतीय कला के समर्थक रायकृष्णदास ने रहस्योन्मुख आध्या-त्मिकता का रग लिये हुए, रवीन्द्र बाबू के प्रभाव से जिस भावात्मक गद्य का अविर्भाव किया उसके कारण कहानियों में ये एक विशेष शैली के प्रति-निधि हुए और सुन्दर गद्य-गीतो की इन्होने रचना की। छोटी आख्यायि-काओ की तो आधुनिक युग मे बाढ-सी आ गई और 'सजनी', 'मनोहर कहानियाँ' आदि कितनी मासिक कहानी-पत्रिकाएँ निकलने लगी। पर इनमे से अधिकाश ने भारतीय जीवन से पूर्णतया हटकर यूरोप के साँचे मे ढले हुए देश के एक छोटे-से वर्ग का चित्रांकन किया है, जिससे मिस्टर, मिस, होटल-क्लब इत्यादि का ही वर्णन हो पाया है।

बाबू जयशंकर प्रसाद ने अपनी बौद्धिक चेतना तथा दार्शनिकता से हिन्दी-नाटको मे नवजीवन डाल दिया। चरित्र-चित्रण, शैली, कथोपकथन

आदि नाटकीय तत्त्वो की दृष्टि से भी इनके नाटक सर्वोत्कृष्ट हैं। इनमें 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'विशाख', 'ध्रुवस्वामिनी', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'कामना' इत्यादि प्रसिद्ध है। इन्होने नाट्य-शास्त्र के नियमो क। अवहेलना की है और प्राचीन परिपाटी को छोडकर एक नवीन ढग से नाट्य-रचना की है। इनके अधिकाश नाटक ऐतिहासिक हैं, गम्भीरता तथा दार्शनिकता से भरे हुए है। पर इनमें क्लिष्ट विषयो का ही प्रतिपादन किया गया है और कलामय होते हुए भी ये रगमच के योग्य नही हैं, एव ऐसा ज्ञात होता है कि नाटक की परिभाषा दृश्य न होकर श्रव्य ही रह गई है। इनके पश्चात् नाट्य-क्षेत्र मे पं० बद्रीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', पं० गोविन्दवल्लभ पन्त, चतुरसेन शास्त्री, उदयशंकर भट्ट आदि के नाम उल्लेखनीय है। सेठ गोविन्द दास का भी आधुनिक नाटककारों मे एक प्रमुख स्थान है और इनमें वर्तमान राजनीतिक आन्दोलनों का अच्छा अकन है। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सिन्दूर की होली', 'राजयोग', 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर' आदि सामाजिक समस्याओ का निरूपण करने वाले नाटक, यथातथ्यवाद का भी पूर्ण दर्शन कराते हैं, तथा मानव-समाज का इनमे वास्तविक रूप अकन किया गया है। इनके अतिरिक्त हिन्दी मे हास्य-रस-प्रधान कुछ प्रहसनो की भी रचना हुई। अब हिन्दी मे एकाकी नाटको का जोर बढता जा रहा है, जिनमे डॉ० रामकुमार वर्मा, श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', श्री उदयशंकर भट्ट तथा भुवनेश्वरप्रसाद आदि मुख्य हैं। ये रगमच के उपयुक्त है। मौलिक नाटको के अतिरिक्त सस्कृत के पुराने नाटको का भी हिन्दी में अनुवाद हुआ।

इस काल में निवन्ध-साहित्य की भी बड़ी उन्नति हुई और कथात्मक, वर्णनात्मक तथा चिन्तनात्मक आदि अनेक प्रकार के निवन्ध लिखे गए। यद्यपि इन निवन्धो मे शैली, भाषा तथा विचारों का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है, फिर भी भारतेन्दु-युग के निवन्धो की सामाजिक स्वाभाविकता का अभाव-सा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे निवन्ध-लेखक ने अपने

गम्भीर निबन्धों द्वारा इस युग मे निवन्ध-रचना का प्रवर्त्तन किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—इनका जन्म संवत् १९४१ मे उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम मे हुआ। शिक्षा केवल 'इंटर' तक ही हुई थी, पर अपनी योग्यता एव प्रतिभा के कारण मिर्जापुर के मिशन अध्यापक के पद से हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के प्राध्यापक वने। अपनी प्रतिभा का अलौकिक परिचय प्रदान करके इनकी इहलीला संवत् २००० में समाप्त हुई। यह निवन्ध तथा समालोचना-लेखक के साथ-साथ कवि भी थे और अग्रेजी के Light of Asia का आधार लेकर इन्होने पद्य मे 'वुद्ध-चरित' लिखा, जो उन्हे भावुक तथा प्रकृति-सौन्दर्य का अनन्य अनुरागी सिद्ध करता है। इन्होने 'श्रद्धा', 'भक्ति', 'लज्जा', 'ग्लानि', 'क्रोध', 'कविता क्या है' इत्यादि गम्भीर विषयो पर अपने निवन्ध लिखे है, तथा इनके निवन्धो का संग्रह 'चिन्तामणि' के नाम से दो भागो मे प्रकाशित हुआ है, जिस पर इन्हे प्रसिद्ध 'मगलाप्रसाद पारितोषिक' भी प्राप्त हो चुका है।

इनके लेखो मे हमे प्रकृति-प्रेम, शील, शक्ति और सौन्दर्य के सामजस्य, आदर्शप्रियता, सगुणोपासना मे श्रद्धा, सहृदयता और भावुकता, शिष्ट-वादिता, भारतीयता तथा मर्यादा और प्रवन्धप्रियता के दर्शन होते हैं। 'शैली स्वय लेखक का स्वरूप है' इसके यह एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। अत गम्भीर एवं विचारशील प्रवृत्ति के अनुकूल इनकी शैली भी समासप्रिय तथा गम्भीर है। अर्थ-परम्परा से युक्त इनके वाक्य गठे रहते है, पर इनमे भावात्मक विवेचना के साथ-साथ प्रसगवश व्यग्यात्मक छीटो के भी दर्शन होते हैं, जैसे—

बिहारी की नायिका की दशा घड़ी के पेंडुलम की-सी है।

इनकी आलोच्य विपयो की प्रतिपादन-शैली रेखागणित की भाँति दुरूह है, जिसमे छोटी-से-छोटा वात का विश्लेपण करके उसे दूर ले जाने का प्रयत्न किया गया है। अतः इनकी शैली कही विश्लेपणात्मक है, तो कही व्याख्यात्मक।

शैली की भाँति भाषा भी भावो के अनुकूल ही है और यह संयत,

परिष्कृत, प्रौढ़ और विशुद्ध है, तथा समास-शैली के कारण इसमें क्लिष्टता भी आ गई है, पर इसके साथ-ही-साथ अलंकारिता और प्रसगानुकूल विषयो का व्यंग्यात्मक प्रतिपादन—इन दोनों के भी इसमे दर्शन होते हैं। निबन्ध-लेखक के अतिरिक्त यह एक सुप्रसिद्ध समालोचक भी है। जो-कुछ आपने लिखा है, वह गम्भीर मनन तथा अध्ययन के पश्चात् ही आपकी लेखनी से निःसृत हुआ है। अतः आप समालोचना-साहित्य की विश्लेषणा-त्मक, परिपुष्ट एवं व्यापक परिपाटी के प्रवर्त्तक है। आपकी जायसी, सूर और तुलसी पर लिखी हुई गम्भीर समीक्षाएँ अत्यन्त उच्च कोटि की है। आप लेखक ही नही, एक अच्छे अनुवादक भा है। हिन्दी-साहित्य मे भावुक, विवेचक तथा निर्णायक, इन्हीं त्रिगुणात्मक रूपो मे इन्होने प्रवेश किया है। इस तरह इन्होने सर्वोत्कृष्ट गद्य की उद्भावना की है और इनका समस्त साहित्य प्रौढ मस्तिष्क के लिए ही उपयुक्त है। अतः यह आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध-लेखक एव आलोचना-साहित्य के उन्नायक है।

शुक्लजी के अतिरिक्त आधुनिक युग के निबन्ध-लेखको मे श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री माखनलाल चतुर्वेदी, पं० पद्मसिंह शर्मा, बाबू गुलाबराय, पं० सदगुरुशरण अवस्थी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी तथा बाबू सम्पूर्णानन्द आदि हैं। महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह ने भी अपने निबन्धो द्वारा अतीत की चित्रमयी भावनाओ को व्यक्त किया है।

आलोचना-साहित्य और इसके विकास के क्षेत्र मे तुलनात्मक आलोचना ने प्रवेश किया और यह केवल गुण-दोषो का विवेचन-मात्र न रहकर, अध्ययन तथा खोज से सयुक्त हुई। किसी भी व्यक्ति पर परिस्थितियो का प्रभाव होता है और ये किस भाँति उसकी चित्तवृत्तियो को प्रेरित करती हैं, इसका भी समालोचना मे उचित समावेश हुआ, और इस तरह मनोवैज्ञानिक समालोचना का सूत्रपात हुआ। आचार्य शुक्ल ने सस्कृत तथा अंग्रेजी के आलोचना-साहित्य का खूब मनन करके दोनो के सामञ्जस्य से मनोवैज्ञानिक समालोचना की हिन्दी मे नीवँ डाली। शुक्लजी के

साथ-ही-साथ खोजपूर्ण आलोचनात्मक गद्य लिखने वाले बाबू श्यामसुन्दर दासजी का नाम आता है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी समालोचना का शास्त्रीय पद्धति से विवेचन किया है। अन्य प्रसिद्ध समालोचकों मे डॉ० नगेन्द्र, श्री गंगाप्रसादसिंह, डॉ० रामकुमार वर्मा, श्री सत्येन्द्र, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र, डॉ० सूर्यकान्त, नलिनी मोहन सान्याल, बाबू गुलाबराय, पं० परशुराम चतुर्वेदी, चन्द्रबली पाण्डेय, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि है। प्रगतिवादी आलोचको में डॉ० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, प्रभाकर माचवे आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आलोचना के साथ-ही-साथ रस-अलकार आदि का निरूपण भी इस युग मे हुआ, जिनमे सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, बाबू गुलाबराय, डॉ० रसाशंकर शुक्ल 'रसाल' तथा हरिशंकर शर्मा आदि प्रमुख निरूपणकर्ता हैं। आलोचना के क्षेत्र मे कवि की 'कला' तथा 'साधना' की अपूर्व अभिव्यजना हुई और इस विषय मे बहुत-सी पुस्तके लिखी गईं। इस तरह निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक, दोनो की समालोचनाओं ने आलोचना के क्षेत्र मे प्रवेश किया, जिससे कवि तथा लेखक दोनो का बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों दशाओ का पूर्ण परिचय प्राप्त हुआ।

आजकल का गद्य प्रगतिवाद तथा मार्क्सवाद के झण्डे के नीचे अपनी विकासधारा को लिये हुए चल रहा है, और गद्य के प्रत्येक क्षेत्र मे ये ही सामाजिक तथा साम्यवादी भावनाएँ व्यक्त होती है। साथ ही देश की आर्थिक दशा ने भी इसमे अपना हाथ बँटाया है। अत गद्य से सामाजिक तथा आर्थिक सुधार की स्पष्ट झलक मिलती है। ऐसे लेखको मे सर्वश्री महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, 'अज्ञेय', 'पहाड़ी', उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अमृतलाल नागर, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बनारसीदास चतुर्वेदी आदि प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक युग मे हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओ की भी संख्या बढी है। त्रैमासिको मे 'विश्व-भारती', 'आलोचना', मासिको मे 'कल्याण', 'माधुरी', 'विशाल भारत', 'विश्वमित्र', 'सरस्वती', 'हिन्दुस्तानी', 'साहित्य-सन्देश'

साप्ताहिक पत्रो मे 'आकाशवाणी', 'पाटलिपुत्र', 'कर्मवीर', 'जागृति', 'दरवार', 'देशदूत', 'अशोक', 'आर्यमित्र', 'पुकार', 'मजदूर', 'युगवाणी', 'युगान्तर', 'राष्ट्रपताका', 'लोकमत', 'सन्मार्ग', 'हरिजन-सेवक' आदि तथा दैनिक पत्रो में 'हिन्दुस्तान', 'नवभारत टाइम्स', 'अमर भारत', 'विश्वमित्र','नवजीवन', 'स्वतन्त्र भारत','आज','ससार', 'प्रताप','स्वदेश', 'भारत' तथा 'अमृत बाजार पत्रिका' आदि पत्रो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वालोपयोगी पत्र तथा पत्रिकाओ की भी भरमार है और इनमे 'वालक', 'होनहार', 'दीदी', 'शिशु', 'वालसखा' तथा 'खिलौना' आदि प्रमुख है। वम्वई से 'धर्मयुग' नामक प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र निकलता है, जिसमे चित्रो तथा पहेलियो की भरमार-सी रहती है।

इस तरह आज का हिन्दी गद्य-साहित्य अपनी अनेक शाखाओ द्वारा विकसित हो रहा है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने से परिभाषा-कोषो का भी निर्माण हुआ है तथा यह कार्य जारी है। इस कार्य मे देश की उच्च सस्थाओ, महापण्डित राहुल साकृत्यायन-जैसे विद्वान् पुरुष तथा देश की केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों ने हाथ बँटाया है। अव आवश्यकता इस वात की है कि हिन्दी-गद्य को उच्चकोटि के गम्भीर तथा अनुसन्धानपूर्ण व वैज्ञानिक विषयो से भरा जाए और उन विषयो पर गहन पुस्तके लिखी जाएँ, जिनकी इस भाषा मे कमी है। इस दिशा मे भी लोगो का ध्यान गया है और भविष्य मे देश के उत्थान के साथ ही इस विषय की भी पूर्ति हो जाएगी।

सम्वत् १९०० से अब तक

आधुनिक काल : पद्य

रीतिकाल मे कविता का जो प्रवाह चिन्तामणि तथा देव और विहारी आदि ने वहाया था वह आगे चलकर क्षीणप्राय होने लगा, क्योकि उसमे हृदय की सच्ची अनुभूति नही थी। कवि रीति के सकीर्ण दायरे मे ही विचरण करते हुए कविता के वास्तविक लक्ष्य को भूल गए और उनकी कविता मे यह विशेपता न रही कि वे पाठक के मर्मस्थल पर एक स्थायी प्रभाव स्थापित कर सके। कविता मे अश्लील शृगार का पुट, अनुप्रासो की भरमार तथा समस्या-पूर्ति की अभिरुचि के दर्शन हुए और काव्य मे निम्न कोटि के साहित्य का ही समावेश हुआ। लोगो ने हिन्दी-कविता को मनोरंजन तथा चमत्कार-प्रदर्शन का साधन-सा वना लिया।

ऐसी ही साहित्यिक परिस्थिति मे अग्रेजी राज्य की स्थापना हुई। कुछ लोग तो आधुनिक काल की कविता के परिवर्तन तथा गद्य के आविर्भाव को केवल अग्रेजो की देन-मात्र समझते है, पर यह यथार्थ नही है। जव विजेता विजित राष्ट्र पर अपनी सत्ता स्थापित कर लेना है तो वह उस राष्ट्र मे अपनी सभ्यता तथा साहित्य का भी प्रचार करना प्रारम्भ करता है, और उन्हे विजित राष्ट्र के साहित्य से श्रेष्ठ तथा उच्च समझता है। अतः प्रकृति के नियमानुसार अपने अतीत के गौरव का स्मरण कर वदला लेने की भावना से विजित राष्ट्र मे एक नई चेतना आती है, और साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी परिस्थितियो मे परिवर्तन और क्रान्ति उपस्थित होती है। अत. मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे हलचल का ही समागम होता है। ऐमा ही भारतवर्प मे भी हुआ। यहाँ की भी जनता को जव यह परिज्ञान हो गया कि अग्रेज केवल राजनीतिक प्रभुत्व को ही पाकर सन्तुष्ट नही हैं, प्रत्युत वे सास्कृतिक विजय के लिए

भी उद्योगशील हैं, तो वह नागिन की तरह फुकार उठी और उसी राष्ट्रीय क्षोभ के वाह्य रूप को प्रकट करते हुए सम्वत् १६१४ (सन् १८५७) का प्रथम स्वातन्त्र्य-समर हुआ, जिसमे अंग्रेजी सत्ता को समाप्त करने का स्मरणीय प्रयत्न किया गया। पर जन-शक्ति के पूर्ण सगठित न होने से सफलता नही मिली और जनता ने सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आन्दोलनो से अपना पुनरुत्थान करना प्रारम्भ कर दिया। देश-प्रेम तथा देश-भक्ति की भावना जाग उठी और साहित्य, जो जनता की चित्त-वृत्तियो का सचित प्रतिविम्व होता है, पीछे न रहा और इन समस्याओ के समाधान को लेकर आगे आया। भारतीय भाषाएँ, जो भारतीय सस्कृति की मूल आधार है उनका शिक्षा-पद्धति तथा शासन-प्रणाली से पूर्ण वहिष्कार कर दिया गया और राज्यभापा के नाम पर अग्रेज़ी और जन-भाषा के नाम पर 'हिन्दुस्तानी' नाम प्रदान करके उर्दू और फारसी को प्रचारित किया गया। ऐसी ही परिस्थितियो में आधुनिक युग का पदार्पण हुआ। रीति-कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ समाप्त हुई और कविता ने एक नवीन मार्ग का अनुसरण किया। वह आधुनिक युग के प्रथम प्रभात भारतेन्दु-युग द्विवेदी-प्रवर्तित सस्कार-युग और छायावाद तथा रहस्यवाद की परिधि से होती हुई, प्रगतिवाद तथा साम्यवाद की ओर अग्रसर हुई। खडी वोली का पद्य मे भी समावेश हुआ और कविता भूत और भविष्य का ध्यान रखते हुए मानव के वर्तमान जीवन की अभिव्यजना की ओर मुडी।

पर आधुनिक काल की प्रारम्भिक अवस्था मे रीति काल द्वारा प्रभावित व्रजभापा-काव्य-परम्परा ही चलती रही और रीति तथा भक्ति से प्रभावित होकर कवियो ने व्रजभापा मे कविता की। इनमें सेवक, महाराज रघुराजसिंह, सरदार, ललितकिशोरी तथा नवनीत चौबे के नाम उल्लेखनीय है। हिन्दी-गद्य के प्रसिद्ध प्रवर्तक राजा लक्ष्मणसिंह ने मिठासयुक्त व्रज-भापा के पद्यों से युक्त खडी वोली मे 'शकुन्तला' तथा 'मेघदूत' आदि के अनुवाद लिखे। इनके अतिरिक्त खडी वोली मे कविता के आविर्भावक श्रीधर पाठक ने भी व्रजभापा मे ही अधिक सरस, मर्मस्पर्शी तथा हृदय-

गौरव-गाथा, वर्तमान अधोगति तथा भविष्य की चिन्ता इत्यादि का मनोरम पुट है। अत. यह हिन्दी-कविता के प्रथम उत्थान के नायक थे। पर इसका यह तात्पर्य बिलकुल ही नही कि इन्होने पुरानी परिपाटी को छोड ही दिया था। एक ओर तो हिन्दी-कविता को इन्होने नवीन गति प्रदान की और दूसरी ओर कविता की पुरानी परिपाटी 'व्रजभाषा-काव्य-परम्परा' के साथ भी इनका अटूट सम्बन्ध रहा। काव्य की व्रजभाषा का भी उचित परिष्कार इन्होने किया तथा सर्वत्र बोल-चाल की व्रजभाषा को ही यह व्यवहार मे लाये। शृगार-रस से ओत-प्रोत तथा राधा-कृष्ण के प्रेम से अनुप्राणित इनके कवित्त तथा सवैया वडे ही सरस और मर्मस्पर्शी हैं। इन्होंने कई रसिक समाजो की स्थापना भी की थी। इन्ही की तरह **पण्डित प्रतापनारायण मिश्र उपाध्याय, बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास** तथा **रामकृष्ण वर्मा** आदि थे, जिन्होने समस्या-पूर्ति, पुराने ढग की शृगारी कविता, सर्वसाधारण मे प्रचलित कजली तथा होली इत्यादि के गेय पद कवित्त और सवैये लिखे। इन्ही के अनुकरण पर **लाला सीताराम** तथा **पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय** आदि ने प्रारम्भ मे व्रजभापा को ही अपनाया था। पर पुरानी परिपाटी से अटूट सम्बन्ध रखते हुए भी भारतेन्दु-मण्डली के ये लेखक हिन्दी-कविता की नवीन धारा के प्रथम उत्थान मे आये। विषयो की अनेकरूपता के साथ-साथ इन्होने उनके विधान मे भी परिवर्तन किये। प्रतापनारायण मिश्र ने पद्यात्मक निबन्धो की रचना की और कुछ इतिवृत्तात्मक पद्य भी लिखे। 'प्रेमघन' ने विशेष अवसरो को अपनाकर अपने पदो की रचना की। ठाकुर जगमोहनसिंह ने सस्कृत के प्राचीन कवियो की प्रणाली को अपनाकर, प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण से परिपूर्ण काव्य हिन्दी को प्रदान किया। इस तरह हम देखते हैं कि भारतेन्दु-काल मे हिन्दी-कविता एक नई दिशा की ओर मुड़ी।

भारतेन्दुजी के पश्चात् लोगो मे कविता की भाषा के सम्बन्ध मे अनेक तरह के विचार उठने लगे। गद्य खड़ी बोली मे लिखा जाए और

कविता ब्रजभाषा में, यह बात लोगो को खटकने लगी। खडी वोली की गद्य-रचना कोई नवीन वस्तु नही थी, और नाभदेव तथा कबीर की रचनाओ मे भी इसका स्वरूप विद्यमान था। इशा ने भी कुछ पद खडी वोली मे लिखे थे। इनके पश्चात् खडी वोली मे पद्य-रचना के लिए एक आन्दोलन ही खड़ा हो गया और बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री इसके अगुआ बनकर आये। यह तो इतना बढे कि ब्रजभापा की कविता को हिन्दी भाषा की कविता मानने को भी तैयार नही होते थे। ऐसे ही समय मे पण्डित श्रीधर पाठक समाज-सुधार, विधवाओ की वेदना तथा स्वच्छन्दतावाद को लेकर खड़ी वोली के कविता-क्षेत्र में आये और खडी वोली को हिन्दी के प्रचलित छन्द मे इन्होने ढाला। अपनी रुचि के अनुसार इन्होने कई नवीन छन्दो की रचना भी की। ऐसी ही परिस्थितियों मे द्विवेदी-प्रवर्तित सस्कार-युग ने हिन्दी-प्रागण मे प्रवेश किया और खड़ी वोली ने कविता को भी अपने झण्डे के नीचे किया। आचार्य द्विवेदी गद्य की भाँति पद्य-रचना की भी एक नवीन प्रणाली के प्रवर्त्तक हुए।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के पद्य-क्षेत्र मे अवतरण से हिन्दी-कविता में एक नई प्रेरणा तथा चेतना का अभ्युदय हुआ। इनके पहले कवियों की जो ब्रजभाषा अव्यवस्थित थी, वह परिष्कृत हो गई। 'सरस्वती' मे छपने के लिए आयी हुई कविताओ को काट-छाँटकर खड़ी वोली को कविता के योग्य इन्होने वना दिया, साथ ही व्रज तथा अवधी के मेल को दूर करके शुद्ध खड़ी वोली को कविता के उपयुक्त वनाया। मराठी-साहित्य का प्रभाव होने से हिन्दी-कविता मे सस्कृत-वृत्तो का व्यवहार तथा गद्य के सदृश पद-विन्यास इन्होने उपस्थित किये। परन्तु वँगला की कोमल-कान्त पदावली इनकी कविता मे न आ पाई और मराठी की कर्कशता का ही प्रवेश रहा। प्रारम्भ मे इन्होने व्रजभाषा मे भी कविता लिखी थी। इनका ध्यान सर्वदा इसी ओर रहता था कि कविता की भापा कठिन न होकर व्यावहारिक हो। अतः इनकी भाषा गद्यवत् हो गई और कविता केवल इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) ही रह गई, तथा उसमे कवित्व

ग्राहिणी कविता की, यूरोप मे जिस स्वच्छन्दतावाद की लहर वही थी, उसे हिन्दी-साहित्य मे लेकर पाठकजी ही अवतरित हुए। इन्होने खड़ी बोली मे लावनी की लय पर 'एकान्तवासी योगी' लिखा। इनकी दूसरी पुस्तक 'श्रान्त पथिक' है। 'ऊजड़ ग्राम' व्रजभापा मे ही लिखी गई है। ये पुस्तके अग्रेजी से अनूदित हैं। इनका प्रकृति-वर्णन असाधारण और स्वानुभूत है। यह एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, और अग्रेजी तथा सस्कृत-साहित्य का इन्हे अच्छा परिचय था। अत पद-विन्यास, वाक्य-विन्यास आदि सभी परिष्कृत और सुन्दर हैं। इस युग मे वावू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने शुद्ध व्रजभापा की पुरानी परिपाटी को ही अपनाया और व्रजभापा के पुराने कवियो की टक्कर की कविता को प्रस्तुत किया।

जगन्नाथदास रत्नाकर—इनका जन्म सम्वत् १९२३ मे काशी मे हुआ तथा सम्वत् १९८९ मे हरिद्वार मे यह परलोक सिधारे। इनके पिता वावू पुरुषोत्तमदासजी अग्रवाल विद्या-विनोदी तथा काव्य-रसिक थे और उनके यहाँ विद्वानो और कवियो का आना-जाना हुआ करता था। वही यह भारतेन्दुजी की गोष्ठी के सम्पर्क मे आये। काशी से बी० ए० की उपाधि प्राप्त करने के वाद इन्होने अवागढ राज्य मे नौकरी कर ली, पर वाद मे हिन्दी के अनन्य भक्त अयोध्या-नरेश सर प्रतापनारायणसिंह के प्राइवेट सेक्रेटरी हुए। महाराज की मृत्यु के वाद महारानी ने भी इन्हे इसी पद पर रखा।

रत्नाकरजी प्राचीनता के उपासक और अग्रेजी की ऊँची शिक्षा मिलने पर भी भारतीय सस्कृति के भक्त थे। यह स्वभाव के कोमल और हृदय के सरल थे। स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि प्राचीन कवियो के अनेक पद समय-समय पर कहा करते थे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सस्थापको मे इनका भी स्थान है। 'सरस्वती' के प्रकाशन के समय सम्पादको मे इनका भी नाम आया था। 'उद्धवशतक' और 'गगावतरण' इन प्रसिद्ध ग्रन्थो के अतिरिक्त इन्होने 'हिण्डोला', 'हरिश्चन्द्र', 'समालोचनादर्श', 'साहित्य-रत्नाकर', 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर', 'अष्ट-रत्नाकर' तथा

'शृङ्गार-लहरी' आदि की रचना की। साथ ही 'विहारी-सतसई', 'हित-तरगिणी' आदि प्राचीन ग्रथों का सम्पादन करके उनकी टीकाएँ भी प्रस्तुत की। 'सूरसागर' का महत्त्वपूर्ण सम्पादन भी प्रारम्भ किया था, पर वह अधूरा ही रह गया।

विशुद्ध व्रज इनकी कविता की भाषा है। भाषा का स्वाभाविक प्रवाह और शब्दो की रोचक ध्वनि, इनकी भाषा की विशेषताएँ है। इनकी रचनाएँ स्वाभाविक, प्रसाद गुणपूर्ण, श्रुतिमधुर और मार्मिक है। इन्हे वास्तविक कवि-हृदय मिला था। कवित्व के चमत्कार के साथ-साथ साहित्य-शास्त्र के नियमो का भी निर्वाह इन्होने पूरी तरह किया है। इनकी कविता मे लालित्य, ओज तथा माधुर्य गुण प्रचुर मात्रा मे विद्यमान हैं। शृङ्गार रस के वर्णन मे ये निपुण थे और 'उद्धवशतक' का उपालम्भ और व्यंग्य सूर-काव्य की कोटि मे जा वैठा है। खड़ी वोली के उन्नति के युग मे व्रजभाषा की श्रेष्ठता को रत्नाकर ने सिद्ध कर दिया। प्रकृति-वर्णन मे भी इन्होने अनेक मनोरम स्थलो की सृष्टि की है। 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' ने इन्हें सभापति के पद से विभूषित किया था।

व्रजभाषा की इस अखण्ड परम्परा मे रसिक परिपाटी के समर्थक तथा ललित पदावली वाले राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' आये, जिन्होने 'रसिक-वाटिका' नामक पत्रिका निकाली। व्रजभाषा और व्रजपति के अनन्य उपासक तथा 'प्रेम-शतक', 'प्रेम-पथिक' और 'वीर-सतसई' के रचयिता एव राजनीतिक आन्दोलन मे अभिरुचि रखने वाले श्री वियोगी हरि ने भी इसी धारा को अपनाया। आगे चलकर श्री दुलारेलाल भार्गव ने विहारी के अनुकरण पर अपनी 'दुलारे दोहावली' लिखी। व्रजभाषा की यह परम्परा अभी भी अखण्डित ही है और कवि सम्मेलनो में इसके दर्शन हो जाते है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने गद्य-धारा की भाँति कविता को भी एक नये मार्ग पर चलाया। यह अटूट धारा पुरानी लकीर पर न चलकर देश-भक्ति, लोक-हित, समाज-सुधार तथा मातृभाषा आदि के उद्धार की भावना से अनुप्राणित होकर ही चली। इसमे देश-दशा की मार्मिक व्यंजना, अतीत-

गौरव-गाथा, वर्तमान अधोगति तथा भविष्य की चिन्ता इत्यादि का मनोरम पुट है। अत यह हिन्दी-कविता के प्रथम उत्थान के नायक थे। पर इसका यह तात्पर्य बिलकुल ही नही कि इन्होने पुरानी परिपाटी को छोड ही दिया था। एक ओर तो हिन्दी-कविता को इन्होने नवीन गति प्रदान की और दूसरी ओर कविता की पुरानी परिपाटी 'व्रजभाषा-काव्य-परम्परा' के साथ भी इनका अटूट सम्बन्ध रहा। काव्य की व्रजभाषा का भी उचित परिष्कार इन्होने किया तथा सर्वत्र बोल-चाल की व्रजभाषा को ही यह व्यवहार मे लाये। शृगार-रस से ओत-प्रोत तथा राधा-कृष्ण के प्रेम से अनुप्राणित इनके कवित्त तथा सवैया बडे ही सरस और मर्मस्पर्शी हैं। इन्होने कई रसिक समाजो की स्थापना भी की थी। इन्ही की तरह **पण्डित प्रतापनारायण मिश्र उपाध्याय, बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास** तथा **रामकृष्ण वर्मा** आदि थे, जिन्होने समस्या-पूर्ति, पुराने ढग की शृगारी कविता, सर्वसाधारण मे प्रचलित कजली तथा होली इत्यादि के गेय पद कवित्त और सवैये लिखे। इन्ही के अनुकरण पर **लाला सीताराम** तथा **पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय** आदि ने प्रारम्भ मे व्रजभापा को ही अपनाया था। पर पुरानी परिपाटी से अटूट सम्बन्ध रखते हुए भी भारतेन्दु-मण्डली के ये लेखक हिन्दी-कविता की नवीन धारा के प्रथम उत्थान मे आये। विषयो की अनेकरूपता के साथ-साथ इन्होने उनके विधान मे भी परिवर्तन किये। प्रतापनारायण मिश्र ने पद्यात्मक निबन्धो की रचना की और कुछ इतिवृत्तात्मक पद्य भी लिखे। 'प्रेमघन' ने विशेप अवसरों को अपनाकर अपने पदो की रचना की। ठाकुर जगमोहनसिंह ने सस्कृत के प्राचीन कवियो की प्रणाली को अपनाकर, प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण से परिपूर्ण काव्य हिन्दी को प्रदान किया। इस तरह हम देखते हैं कि भारतेन्दु-काल मे हिन्दी-कविता एक नई दिशा की ओर मुडी।

भारतेन्दुजी के पश्चात् लोगो मे कविता की भापा के सम्बन्ध मे अनेक तरह के विचार उठने लगे। गद्य खड़ी बोली मे लिखा जाए और

कविता व्रजभाषा में, यह वात लोगों को खटकने लगी। खडी वोली की गद्य-रचना कोई नवीन वस्तु नही थी, और नाभदेव तथा कवीर की रचनाओ मे भी इसका स्वरूप विद्यमान था। इशा ने भी कुछ पद खडी वोली मे लिखे थे। इनके पश्चात् खड़ी वोली मे पद्य-रचना के लिए एक आन्दोलन ही खड़ा हो गया और वाबू अयोध्याप्रसाद खत्री इसके अगुआ वनकर आये। यह तो इतना वढे कि व्रजभाषा की कविता को हिन्दी भाषा की कविता मानने को भी तैयार नही होते थे। ऐसे ही समय मे पण्डित श्रीधर पाठक समाज-सुधार, विधवाओं की वेदना तथा स्वच्छन्दतावाद को लेकर खड़ी वोली के कविता-क्षेत्र मे आये और खड़ी वोली को हिन्दी के प्रचलित छन्द मे इन्होने ढाला। अपनी रुचि के अनुसार इन्होने कई नवीन छन्दो की रचना भी की। ऐसी ही परिस्थितियो मे द्विवेदी-प्रवर्तित सस्कार-युग ने हिन्दी-प्रांगण में प्रवेश किया और खड़ी वोली ने कविता को भी अपने झण्डे के नीचे किया। आचार्य द्विवेदी गद्य की भाँति पद्य-रचना की भी एक नवीन प्रणाली के प्रवर्त्तक हुए।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के पद्य-क्षेत्र में अवतरण से हिन्दी-कविता में एक नई प्रेरणा तथा चेतना का अभ्युदय हुआ। इनके पहले कवियो की जो व्रजभाषा अव्यवस्थित थी, वह परिष्कृत हो गई। 'सरस्वती' मे छपने के लिए आयी हुई कविताओ को काट-छाँटकर खडी वोली को कविता के योग्य इन्होने वना दिया, साथ ही व्रज तथा अवधी के मेल को दूर करके शुद्ध खड़ी वोली को कविता के उपयुक्त वनाया। मराठी-साहित्य का प्रभाव होने से हिन्दी-कविता मे सस्कृत-वृत्तो का व्यवहार तथा गद्य के सदृश पद-विन्यास इन्होने उपस्थित किये। परन्तु वँगला की कोमल-कान्त पदावली इनकी कविता मे न आ पाई और मराठी की कर्कशता का ही प्रवेश रहा। प्रारम्भ मे इन्होंने व्रजभाषा मे भी कविता लिखी थी। इनका ध्यान सर्वदा इसी ओर रहता था कि कविता की भाषा कठिन न होकर व्यावहारिक हो। अत. इनकी भाषा गद्यवत् हो गई और कविता केवल इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) ही रह गई, तथा उसमे कवित्व

की वास्तविक रमणीयता का उचित समावेश नहीं हो पाया। कल्पना तथा साकेतिकता, जो कविता के प्राण है, दोनो का लोप हो गया। यही इतिवृत्तात्मकता आगे चलकर प्रतिक्रियास्वरूप 'छायावाद' को जन्म देने वाली हुई। इस युग के प्रारम्भिक वर्षो मे कविता प्रधानतया वर्णनात्मक तथा कथा-प्रधान ही रही। द्विवेदीजी के अनुयायियो मे आगे चलकर अनेक कवि हुए, जिनमे बाबू मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा पं० रामचरित उपाध्याय आदि के नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। द्विवेदीजी की कविता का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

सुरम्यरूपे, रसराशिरंजिते, विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई?
अलौकिकानन्दविधायिनी महा, कवीन्द्रकान्ते, कविते अहो कहाँ॥

× × ×

आरोग्ययुक्त बलयुक्त सुपुष्ट गात,
ऐसा जहाँ युवक एक न दृष्टि आता॥

× × ×

सारी प्रजा निपट दीन दुखी जहाँ है,
कर्तव्य क्या न तुझको कुछ भी वहाँ है?

बाबू मैथिलीशरण गुप्त—आधुनिक खड़ी बोली के सर्वोत्कृष्ट और प्रतिनिधि कविवर मैथिलीशरण गुप्त का जन्म चिरगाँव, झाँसी मे सवत् १९४३ मे हुआ था। इनके पिता सेठ रामचरण, वैष्णव-भक्त, 'कनकलता' उपनाम से भक्ति की कविताएँ किया करते थे। इस प्रकार गुप्तजी को पैतृक सस्कार के रूप मे कविता की प्रेरणा मिली। गुप्तजी अग्रेजी पढने के लिए स्कूल भेजे गए, पर वहाँ इनका जी न लगा। इनकी मौलिकता का आकर्पण तो दूसरी ही दिशा मे था। काव्य की मोहक अनुभूतियाँ इनके हृदय को भाव और भापा के अपूर्व सम्मिलन की ओर खीच रही थी। अत. इन्होने साहित्य के अगो का अध्ययन प्रारम्भ किया तथा आप साहित्य-महारथी प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क मे आये। बुन्देलखण्ड के 'आल्हा' के श्रवण से भारत की अतीत गौरव-गाथा की ओर यह झुके

और द्विवेदीजी का वरद हस्त इन्हे प्राप्त हुआ। प्रारम्भ मे 'सरस्वती' में इन्होने कविता लिखना शुरू किया और निरन्तर अभ्यास से इनकी भाषा तथा वर्णन-शैली उत्तरोत्तर सुसस्कृत होती गई। साथ ही राष्ट्र की सोई हुई चेतना को जागृत करने की अपूर्व झकार भी इसमे मिलती है। अतः इनका काव्य आदर को प्राप्त हुआ।

गुप्तजी 'श्री' सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक वैष्णव है। पर इन्होने 'राम' का दर्शन लोक मे प्रतिष्ठित रूप मे ही किया है, साथ-ही-साथ सन्देह-वादयुक्त इस युग मे इनकी यह राम-भक्ति अटल भी है। 'साकेत' के प्रारम्भ के भाग मे राम के प्रति जो भक्ति-भावना आपने प्रदर्शित की है, उससे यही प्रतीत होता है कि राम-भक्त कवियों मे गोस्वामीजी के पश्चात् इन्ही का स्थान है—

राम तुम मानव हो, ईश्वर नही हो क्या,
विश्व में रमे हुए नही सभी कहीं हो क्या।
तो मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे॥

आप सरल, उदार तथा निरभिमान प्रकृति के पुरुष है तथा पर्याप्त सहिष्णु भी हैं।

इनकी रचनाओ मे अनूदित काव्य तथा नाटक भी है। अनूदित काव्यों में 'मेघनाद-वध', 'वीरागना', 'पलासी का युद्ध' तथा 'विरहिणी व्रजागना' आदि हैं, तथा नाटको मे 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' और 'अनघ' इत्यादि प्रसिद्ध है। इनके काव्यो मे 'साकेत', 'द्वापर', 'यशोधरा', 'मगलघट', 'जयद्रथ-वध', 'भारत-भारती', 'रंग मे भंग', 'शकुन्तला', 'किसान', 'स्वदेश सगीत', 'पचवटी', 'त्रिपथगा', 'सिद्धराज', 'विकट भट', 'झकार' तथा 'नहुष' इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

गुप्तजी ने 'भारत-भारती' द्वारा राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित होकर साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया था। इनकी गुजार एक युग तक हिन्दी-जगत् में रही। इसने देश के अतीत, वर्तमान और भविष्य का सफल

चित्रण करके, जन-समाज को जागरण का सन्देश प्रदान किया गया। इसी से इन्हे लोकप्रियता प्राप्त हुई, जिसमे निरन्तर वृद्धि होती चली गई। 'जयद्रथ-वध' तथा 'रग मे भग' इनके करुण भावनाओ से युक्त वीर रस-प्रधान काव्य हैं। 'साकेत', 'द्वापर' और 'यशोधरा' मे इनके आध्यात्मिक तत्त्वो का विकास हुआ है। इनका ध्यान काव्य में उपेक्षित नारियों और दलित-वर्ग की ओर भी गया, और उर्मिला के प्रति सहानुभूति की भावना कवीन्द्र रवीन्द्र से प्राप्त करके, उसके विरह की विविध मनोवृत्तियो का विशद विवेचन इन्होने 'साकेत' मे किया। इसी काव्य मे हमे इनकी प्रतिभा के पूर्ण दर्शन होते है और कवि ने अपनी कल्पना के सहारे परम्परागत कथा-वस्तु मे कई वाछनीय परिवर्तन भी किये हैं। 'यशोधरा' मे उपेक्षिता यशोधरा का वर्णन करके, नारी-गौरव तथा स्वाभिमान का अमूल्य चित्राकन करते हुए, कवि-समाज के कलक का गुप्तजी ने परिहार किया है। 'अनघ' मे महात्मा गांधी की प्रतिच्छाया है। विश्ववन्द्य राष्ट्रपिता गाधी ने 'साकेत' की बडी प्रशसा की थी। इनकी कविता बराबर विकासोन्मुख रही है तथा उसका विकास सर्वदा स्वाभाविक और सयत रहा है। गुप्तजी सामंजस्यवादी कवि हैं। इनके हृदय मे महत्त्व के प्रति श्रद्धा, प्राचीन के प्रति विश्वास और नवीन के प्रति उत्साह है। अपने इष्टदेव की उपासना के पश्चात् इन्होने अपने को बराबर सरस्वती की उपासना मे प्रयुक्त किया है। अनूदित काव्य-ग्रन्थों मे भी हमे पूर्ण मौलिकता का ही आभास मिलता है। प्रबन्ध तथा मुक्तक दोनो प्रकार के काव्य-ग्रन्थ इन्होने लिखे हैं। इनके प्रकृति-वर्णन में बाह्य प्रकृति और अन्त.प्रकृति का सुन्दर सामजस्य, सश्लिष्ट योजना तथा मानवीकरण भी हम पाते हैं—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल-थल मे,
स्वच्छन्द चाँदनी बिछी हुई है, अवनि और अम्बर तल मे।
पुलक प्रकट करती है धरती, हरित तृणों की नोकों से,
मानो झूम रहे हैं तरु भी, मन्द पवन के झोंकों से॥

गुप्तजी ने प्रबन्ध काव्य मे ही राजनीतिक और सामाजिक विचारों का

समावेश किया है, तथा 'साकेत' मे स्थान-स्थान पर गांधीवाद के सरल जीवन की स्पष्ट छाप है। इनकी 'झकार' नाम की छोटी पुस्तक मे हम वर्तमान रहस्यवादी कवियो की अनुरूपता भी पाते है।

इनकी रचनाएँ स्वाभाविक, मनोरम तथा हृदयग्राहिणी हैं। गोसाईं जी की भाँति इनकी जातीय सस्कृति भी विवेकमूलक है। कोरी भावुकता का आश्रय न लेकर विवेक और बौद्धिक विभूति को इन्होने अपने काव्य का आधार बनाया है। यह केवल कलात्मक ही नही है, प्रत्युत् लोक-संग्रह की मगल कामना को लेकर चला है, और 'बहुजनहिताय' तथा 'बहुजन-सुखाय' की भावना से ओत-प्रोत है। चरित्र-चित्रण, रोचक सवाद तथा नूतन प्रसगो की कल्पना इनकी शैली की विशेषताएँ है। हिन्दी-काव्य की प्रगति के साथ यह बराबर आगे बढते गए हैं। इनकी असाधारण कवित्व-शक्ति मे अभी तक शिथिलता नही आ पाई है और वह अभी भी नूतन ही है। प्राचीन चरित्रो द्वारा गुप्तजी ने आधुनिक समस्याओं का सकेत और समाधान भी दिया है। खडी बोली को उसके गौरवासन पर बिठाने का श्रेय गुप्तजी को है। ये उसके सफल प्रचारको मे से है और संस्कृत-तत्समता के प्रबल पक्षपाती होते हुए भी भाषा को इन्होने सस्कृतबहुला नही बनाया है। शब्द-चयन भावानुरूप है तथा बोल-चाल के ही शब्दो को अधिक अपनाया गया है। लोकोक्तियो का भी व्यवहार इन्होने किया है, पर इसमे यह अधिक सफल नही हुए हैं। गुप्तजी ने प्राय. हिन्दी के छन्दो मे ही कविता लिखी है, और कुछ अतुकान्त छन्दो को भी अपनाया है। शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास, कथोपकथन, समासपूर्ण शैली तथा ओज, प्रसाद और माधुर्य आदि गुण आपकी भाषा की विशेषताएँ हैं। इनके 'साकेत' पर 'मगलाप्रसाद' पारितोषिक और हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग से एक और पारितोषिक प्राप्त हुआ है। पिछले दिनो हिन्दी-जगत् ने आपकी हीरक-जयन्ती मनाकर आपको एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भी अर्पित किया है।

हम यह नि सकोच कह सकते है कि 'यदि रवीन्द्रनाथ ठाकुर विश्व-कवि हैं तो गुप्तजी राष्ट्र-कवि; और राष्ट्र ने इन्हे अपने प्रतिनिधि कवि

के पद पर प्रतिष्ठित करके अपना कर्तव्य-पालन ही किया है, क्योंकि इनमे भारत की ही आत्मा प्रमुख रूप से प्रतिविम्बित हो रही है।'

गुप्तजी की ही भाँति आपके अनुज श्री सियारामशरण गुप्त ने भी 'मृणमयी', 'अन्तिम आकाक्षा', 'गोद', 'नारी' और 'वापू' तथा 'आत्मोत्सर्ग' द्वारा लोक-सग्रह को अपनाया है, पर इनकी रचना मे ग्रामीण जीवन का हम सरस चित्र ही पाते है। इनकी कविता प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त, परिपक्व, रस से ओत-प्रोत, प्राणो को तुष्ट और मन को मुग्ध करने वाली, मृदुलता, मुग्वता और अल्हड़पन को लिये हुए चली है। इन्होने कविता, उपन्यास, कहानियाँ और 'गद्य लेख', सभी को अपनी अभिव्यंजना का आधार वनाया है।

अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध'—इनका जन्म सवत् १६२२ में और देहान्त सवत् २००४ मे आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश) मे निजामावाद गाँव मे हुआ। ये सस्कृत, अग्रेजी तथा फारसी इत्यादि के अच्छे जानकार थे। सरकारी नौकरी से पेन्शन लेकर हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में अध्यापन-कार्य भी इन्होने किया। पहले इन्होने व्रजभापा मे भी कविता की और ये पद 'रस कलश' मे सग्रहीत है, पर वाद मे आप खडी वोली की ओर झुके। इसके लिए आरम्भ मे इन्होने उर्दू के छन्द और ठेठ वोली को अपनाया तथा इसी ढग पर अपनी कविता की। अतः कविता के क्षेत्र मे द्विवेदीजी के पहले ही यह पदार्पण कर चुके थे। पर अव आचार्य द्विवेदी ने खड़ी वोली मे संस्कृत छन्दों और पदावली का आश्रय ग्रहण किया, तो उपाध्याय जी, जो गद्य मे अपनी प्रतिभा का परिचय प्रदान कर चुके थे, इस शैली की ओर भी वढे और 'प्रियप्रवास' नामक अपना महाकाव्य लिखा। सिख-सम्प्रदाय मे नजीमावाद के महन्त वावा सुमेरसिह से, जिन्होंने 'रसिक समाज' की स्थापना की थी, 'हरिऔवजी' काफी प्रभावित हुए थे।

इनकी रचनाओ मे कविता के क्षेत्र में 'प्रियप्रवास', 'वैदेही वनवास', 'पारिजात', 'पद्य-प्रसून', मुहावरेदार ठेठ तथा सरल हिन्दी मे 'चुभते चौपदे' तथा 'चोखे चौपदे' इत्यादि, सरल कविताओं का संग्रह 'काव्यो-

पवन', 'प्रेम-प्रपंच', 'ऋतुमुकुर' तथा ब्रजभाषा की कविताओं का संग्रह 'रस कलश' हैं। पद्य के समान ही गद्य मे भी इन्होंने दोनों प्रकार की रचनाएँ लिखी। 'वेनिस का बाँका' नामक नाटक तथा अनूदित उपन्यास संस्कृत-निष्ठ भाषा मे हैं और 'अधखिला फूल' तथा 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' नामक उपन्यास अपने नाम को ही भाषा-पक्ष में सार्थक कर रहे है। इस तरह काव्य तथा पुरानी परिपाटी की ब्रजभाषा, संस्कृत-गर्भित कोमलकान्त पदावली वाली खडी वोली तथा साधारण बोल-चाल की भाषा, तीनो को अपनाकर अपनी विशिष्ट कला का परिचय इन्होने दिया है। 'प्रिय-प्रवास' की रचना कर लेने के पश्चात् इनका ध्यान मुहावरो की ओर अधिक गया है—

क्यों पले पीसकर किसी को तू ? है बहुत पालिसी बुरी तेरी।
हम रहे चाहते पटाना ही, पेट तुझसे पटी नहीं मेरी॥

'हरिऔधजी' ने सस्कृत-वृत्तों एव भिन्नतुकान्त पदो को लेकर अपनी लेखनी चलाई, पर अनुप्रास तथा उपमा आदि अलङ्कारो को महत्त्व देते हुए भी आपने इनकी वेदी पर भावों की नैसर्गिकता और शैली की वोधगम्यता की वलि नही दी।

'प्रियप्रवास' मे हम लोक-सग्रह की भावना का उचित समावेश पाते हैं। इसमें श्रीकृष्ण को व्रज के नेता के रूप में स्वीकार किया गया है। खड़ी वोली का यह एक विशिष्ट महाकाव्य है। यह सम्पूर्ण महाकाव्य संस्कृत-वृत्तो मे ही लिखा गया है। 'द्विवेदीजी' की शैली से इनकी यह सस्कृत-निष्ठ शैली भिन्न ही है, क्योंकि इनका पद-विन्यास कोमलकान्त पदावली से युक्त तथा शब्द उपसर्गों से युक्त होकर काव्य को कुछ जटिल वना देता है। इसमे भावो की अनुपम व्यञ्जना तथा रमणीय वर्णन उपस्थित किये गए हैं। 'विरह' का तो अपूर्व चित्रण है। इस महाकाव्य मे राधा और कृष्ण-सम्वन्धी परम्परा का, जो भक्तिकाल और रीतियुग से चली आ रही थी, अनुसरण नही किया गया, और राधा तथा कृष्ण केवल प्रेमिका और प्रेमी के रूप मे ही नही चित्रित किये गए, वरन वे देश के महान् नेता एवं

रक्षक के रूप मे भी हमारे सामने उपस्थित होते है। 'वैदेही-वनवास' मे भी सीता को पतिपरायण पत्नी ही नही, प्रत्युत राष्ट्र-हितैषिणी आदर्श महिला के रूप में अकित किया गया है, तथा यह काव्य विप्रलम्भ शृङ्गार से परिपूर्ण कारुण्य-प्रधान है। शैली तथा भाषा की विविधता गद्य और पद्य में समान गति के कारण यह सर्वप्रतिभा-सम्पन्न लेखक तथा एक विशिष्ट कवि, दोनो ही थे। पर इनकी कुछ कविताओं से कृत्रिमता टपकती है और इन कविताओ के कारण इनमे हमें कवि-हृदय की वास्तविक अनुभूति के दर्शन नही होते। इसका कारण यही है कि यह एक कवि तथा लेखक न होकर आगे चलकर समाज-सुधारक, उपदेशक और मुहावरो के सग्रह-कर्त्ता बन गए। 'कबीर वचनावली' तथा 'हिन्दी भाषा व साहित्य का विकास' आपकी समालोचनात्मक रचनाएँ है। 'प्रियप्रवास' पर आपको 'मगलाप्रसाद पारितोषिक' भी प्राप्त हुआ है। हिन्दी प्रचारिणी सभा शाहाबाद (विहार) ने आपको एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भी भेट किया और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति के पद को भी आपने सुशोभित किया था। इनके कुछ पद उदाहरण-स्वरूप नीचे दिये जाते है --

कुञ्जें वही थल वही, यमुना वही है,
बेलें वही बन वही, विटपी वही है।
हैं पुष्प-पल्लव वही, ब्रज भी वही है,
ए किन्तु श्याम बिन हैं न वही जनाते॥

× × ×

धीरे-धीरे दिनगत हुआ, पद्मिनीनाथ डूबे,
आई दोषा, फिर गत हुई, दूसरा वार आया।
योंही बीती विपुल घड़ियाँ औ' कई बार बीते,
आया कोई न मधुपुर से औ' न गोपाल आये।

प० रामचरित उपाध्याय सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। पहले ये पुरानी परिपाटी का अवलम्बन लेकर चले थे, पर बाद मे खडी बोली के क्षेत्र मे आये। द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से 'राष्ट्र-भारती', 'देवदूत', 'देवी द्रौपदी',

'भारत-भक्ति' इत्यादि कविताएँ इन्होने विदग्ध भाषण से युक्त लिखी। बाद मे 'रामचरित-चिन्तामणि' नामक एक प्रबन्ध-काव्य की भी रचना की, जिसके कई प्रसंग अत्यन्त सुन्दर है। इनकी भाषा अत्यन्त साफ है।

संस्कृत के विद्वान् गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' तथा प० लोचनप्रसाद पांडे भी द्विवेदी जी के सम्पर्क में आये थे। शर्माजी ने ब्रजभाषा मे ही पद्य-रचना अधिक की है और संस्कृत के काव्यों का अनुवाद तथा रवीन्द बाबू की 'गीताजलि' का अनुवाद प्रस्तुत किया है। खड़ी बोली की इनकी कविताएँ उल्लेखनीय हैं। पांडेजी ने अपनी कविता कथा-प्रवन्ध तथा फुटकल दोनों रूपों में लिखी है और आपकी भाषा पर द्विवेदीजी की स्पष्ट छाप है।

द्विवेदी-युग में कुछ ऐसे कवि भी हुए, जो इस युग से विशेष प्रभावित नही थे, जिनका अपना अलग रग-ढग था और जो अपनी व्यक्तिगत पद्धति का अनुसरण करते हुए चलते थे। इन कवियों मे सत्यनारायण 'कविरत्न', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० नाथूराम शर्मा 'शकर', पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', लाला भगवानदीन, पं० रूपनारायण पांडेय तथा प० रामनरेश त्रिपाठी के नाम लिये जा सकते हैं। इन कवियो मे अधिक कवि ऐसे थे, जो ब्रजभाषा तथा खडी बोली दोनो का आश्रय लेकर अपनी काव्य-रचना करते थे। ये कवि रीतिकालीन तथा भक्तियुगीन कवियों के साहित्य एवं उसकी परम्परा से प्रभावित थे और इनका दृष्टिकोण समाज-सुधार, राष्ट्रीय प्रेम तथा आदर्शवाद की ओर न होकर जीवन के एक दूसरे ही पक्ष की ओर था। इन्होने अपनी कविताओं मे सामाजिक जीवन के प्रचलित कथानको को न लेकर काल्पनिक कथानकों का आश्रय लिया, परन्तु कल्पना का अवलम्बन करके भी कवि-जीवन की अन्तरात्मा को ये पूर्णतया व्यक्त नही कर सके।

पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' (जन्म—संवत् १६३६, मृत्यु—स० १६७५) ने ब्रजभापा मे उत्तम कविता की। यह ब्रजराज तथा ब्रजभापा के अनन्य उपासक थे और कृष्ण-प्रेम मे इनकी आँखें झूमती रहती थी। रीतिकालीन परम्परा का अनुसरण न करके कृष्ण-भक्ति-शाखा का सहारा लेकर ब्रज-

भाषा में इन्होंने अपनी अनुभूतियो को अभिव्यक्त किया, जिसके प्रत्येक अक्षर मे अपूर्व तन्मयता परिलक्षित होती है। रसखान और मीरा की भाँति कवि की आत्मा की वास्तविक अनुभूति ही हम इनकी कविता मे पाते है। सरल तथा उदार प्रकृति के पुरुष होने के कारण इनकी अधिकाश रचनाएँ सामयिक ही हो पाई। इनकी बड़ी कविताओं में 'प्रेमकली' और 'भ्रमर-दूत' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'उत्तररामचरित' तथा 'मालती-माधव' नामक भवभूति के नाटको का भी मधुर तथा सरस अनुवाद खडी-बोली मे इन्होंने किया है। इन्होने 'भ्रमर-दूत' की रचना जिस ढग से की है, वह अनूठी तथा प्रभावोत्पादिनी है। साथ ही इन्होने व्रजभाषा का भी जीता-जागता रूप अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। अत. आपकी कविता मर्मस्पर्शी है। नाथूरामजी ने व्रजभाषा तथा खडी-बोली दोनो मे, सुन्दर कवित्त तथा सवैये कहे हैं। इनकी पदावली मे कुछ उद्दण्डता भी पाई जाती है। 'सनेहीजी' ने पहले उर्दू मे कविता लिखी और बाद मे व्रजभाषा तथा खडी बोली को अपनाया। इनकी भाषा मुहावरेदार और चलती है। 'दीनजी' भी पहले पुरानी परिपाटी के अनुसार व्रजभाषा मे लिखते थे, पर 'लक्ष्मी' के सम्पादन-काल मे इन्होने खडी बोली को अपनाया और वीरों के चरित्र को लेकर, उर्दू की प्रणाली पर बोलचाल की भाषा मे फडकती हुई वीर रस-पूर्ण रचना की। रूपनारायण पाण्डेय ने कविता के उपयुक्त अनेक सरस विषयो का चयन किया है और इस तरह अपनी रचना मे आपने अपूर्व सरसता का समावेश किया है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी का जन्म सवत् १८४७ मे हुआ था। इनका दृष्टिकोण अन्य कवियो की अपेक्षा अधिक व्यापक था। इनकी कविता देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत तथा मानव-हृदय मे सद्वृत्तियों को जागृत करने वाली है। श्रीधर पाठक की स्वच्छन्दतावाद की धारा मे यह भी बहे तथा प्रकृति के वास्तविक चित्रण, स्वदेशानुराग और उदात्त भावनाओं से अनुप्राणित होकर, इन्होने अपने तीन खण्ड-काव्य 'स्वप्न', 'पथिक' और 'मिलन' लिखे, जिनमे कही-कही छायावाद की भी झलक मिलती है।

कथानकों के लिए ऐतिहासिक अथवा पौराणिक आधार न लेकर कल्पना का ही पूर्ण आश्रय लिया गया है। इन्होने भाषा की सफाई पर विशेष ध्यान दिया है। 'कविता-कौमुदी' नामक एक बृहत् काव्य-संग्रह भी सात भागो में प्रकाशित किया है तथा ग्राम-गीतों के सकलन का भी सम्पादन किया है। इनकी रचनाएँ बहुत ही अधिक है, जिनमे 'मानसी', 'स्वप्न-चित्र', 'हिन्दुस्तानी कोष', 'रामचरितमानस की टीका', 'तुलसीदास और उनकी कविता', 'सुदामाचरित', 'पार्वती-मगल', 'चिन्तामणि', 'हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास' तथा 'सुकवि विनोद' आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके प्रकृति-वर्णन मे स्थानगत विशेषताएँ पाई जाती है। इनकी कल्पना मानव-मस्तिष्क से दूर न जाकर मर्मस्पर्शी होती हुई सामान्य पथ पर ही चली है। ठा० गोपालशरण सिंह ने मुक्तक रचनाएँ की है और खडी वोली मे बडे ही रोचक कवित्त लिखे हैं। द्विवेदी-युग के अन्य कवियो मे व्यंग्य-चित्र-लेखक पं० बद्रीनाथ भट्ट खड़ी वोली तथा व्रजभाषा के भावुक कवि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अनूप शर्मा तथा 'नूरजहाँ' के सुप्रसिद्ध लेखक गुरु भक्तसिंह 'भक्त' हैं। इस तरह इस युग मे रीतिकालीन परम्परा तथा आधुनिक खडी वोली की नव-काव्य-प्रणाली का अपूर्व समन्वय हुआ है। आगे चलकर द्विवेदी-युग के पश्चात भी, जब आधुनिक कविता ने छायावाद, रहस्यवाद तथा प्रगतिवाद इत्यादि की परिधि मे प्रवेश किया, तो द्विवेदी-प्रवर्तित यह खडी वोली की काव्य-परम्परा कायम रही और 'त्रेता के दो वीर' तथा 'हल्दी घाटी' और 'जौहर' जैसे भुजदण्डो को फडकाने वाली वीर रस-प्रधान रचना करने वाले कवि श्री श्यामनारायण पाण्डेय तथा खडी वोली के कवित्त-सवैयों मे व्रजभाषा की-सी मधुरता लाने वाले जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी' और पुरोहित प्रतापनारायण इत्यादि इसी परम्परा से प्रभावित रहे। इसके पश्चात हिन्दी-कविता ने छायावाद के क्षेत्र मे पदार्पण किया। सभी प्रकार के वर्णनों मे रहस्यात्मकता एव कला का रग चढाया जाने लगा। यद्यपि प्रसादजी इत्यादि ने अपनी रचनाएँ द्विवेदी-युग मे ही प्रारम्भ कर दी थी पर भाषा, विषय और शैली सभी

दृष्टियो से हिन्दी-साहित्य के पद्य-क्षेत्र मे यह एक नवीन मार्ग के प्रवर्तक हुए ।

द्विवेदी-युग मे खडी बोली काव्य की कसौटी पर सच्ची उतरी तथा उसका एक अपना रूप भी स्थिर हो गया, पर ब्रजभाषा की-सी कोमल-कान्त पदावली उसमे अभी नही आ पाई थी। साथ ही विषय-क्षेत्र मे उप-देशात्मकता तथा इतिवृत्तात्मकता अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँच चुकी थी। पर छायावादी कवियो ने भाषा मे लालित्य तथा सौकुमार्य को प्रतिष्ठित किया और हृदय की सच्ची वेदनाओ का उसमे समावेश किया। द्विवेदी-युग मे ही **श्री मैथलीशरण गुप्त** तथा **मुकुटधर पाण्डे** आदि ने खडी बोली की कविता को कल्पना, चित्रमयता तथा हृदयता की आन्तरिक अनुभूति से युक्त करके, एक भिन्न मार्ग की ओर इगित किया था तथा ये एक स्वच्छन्द और नूतन प्रवाह के समर्थक हुए । ठीक इसी समय बँगला मे कवीन्द्र रवीन्द्र द्वारा आध्यात्मिक रहस्यवाद पश्चिमी पुट लिये हुए प्रकट हुआ। राष्ट्र की विचारधारा भी अब सामाजिक तथा राजनीतिक रूप से कुछ परिवर्तित हो चुकी थी और 'गाधीवाद' का विशाल वृक्ष पल्लवित हो चुका था। अतः द्विवेदी-युग की यथातथ्य-वर्णन की रूखी शैली अर्थात इति-वृत्तात्मकता (Matter of fact) के विरुद्ध साहित्यिक क्षेत्र मे जो प्रति-क्रिया आयी वह 'छायावाद' के नाम से प्रतिष्ठित हुई। इसकी एक शाखा गुह्य से युक्त आधुनिकता का पुट लिये हुए रहस्यवाद की थी। सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न 'प्रसादजी' इसके सफल नेता हुए और यही से एक नवीन काव्यधारा का प्रचलन हुआ।

छायावाद और रहस्यवाद

सबसे पहले बंगाल के 'ब्रह्म-समाज' ने रूपात्मक आभास को प्रकट करने वाली यूरोप की 'छाया' (Phanrasmata) का अनुगमन करके ऐसे भजनो की रचना की, जिनमे आध्यात्मिकता का उचित सन्निवेश था। इन भजनों की सज्ञा 'छायावाद' हुई। धीरे-धीरे धार्मिक क्षेत्र से इसका अवतरण

साहित्यिक क्षेत्र मे भी हुआ और रवि बाबू के प्रभाव से इसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर भी हुआ। यहाँ भी 'छायावाद' की धूम मची और लोग एकबारगी इसी ओर झुक पड़े। बँगला और अंग्रेजी की पदावली का ऐसा अनुकरण हुआ कि कवि लोग अपनी स्वतन्त्र उद्‌भावना का परित्याग करके अनुवाद-मात्र ही उपस्थित करने लगे। कविता मे भावो की अप्रसादकता का समावेश हुआ। प्रारम्भ मे इसकी तीव्र आलोचना हुई और कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कह डाला कि जो समझ मे न आएँ वे ही रचनाएँ 'छायावादी' है।

विज्ञान ने आधुनिक युग की इन्द्रिय-गोचरता को ही वास्तविक ठहराकर सम्पूर्ण विश्व मे 'उपयोगितावाद' की धूम मचा दी। कोई वस्तु जिस तरह बाहर से दिखाई पडती है, वही उसकी वास्तविकता मानी जाती है। परन्तु मानव-हृदय विशालता से भी युक्त है। वह अपनी दृष्टि को बाह्य जगत् तक ही सीमित नही रख सकता। प्रकृति के हास-विलास ने उसे विशेष रूप से आकृष्ट किया है। अतः कवि प्रकृति तथा मनुष्य के इस सम्बन्ध को प्रकट करके, चराचर-मात्र मे एक अव्यक्त आत्म-तत्त्व को अन्तर्हित पाता है तथा किसी भी वस्तु मे केवल उपयोगिता-मात्र को ही न खोजकर उसमे भावुकता के भी दर्शन करता है। इसी प्रवृत्ति का नाम 'छायावाद' है। साधारण मनुष्य का हृदय सदा सकुचित ही होता है। उसे प्रकृति मे सर्वत्र आत्म-तत्त्व के दर्शन नही होते। अनेक भेद-उपभेद उसे एक क्षुद्र परिधि मे घेरे रहते है। वह खिले हुए फूल की केवल प्रशसा ही कर सकता है, पर यह विचार उसके मस्तिष्क मे नही आता कि यह फूल भी आत्मा से युक्त है तथा दु ख-सुख इत्यादि का अनुभव इसे भी है। पर एक कवि के अन्दर यह अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए। वह पदार्थ-मात्र मे अपनी सत्ता की स्थापना करके, उनके सुख-दु खो मे ही अपने को लीन करता है तथा इस आत्म-लीनता की अनुपम एव अलौकिक अवस्था को प्राप्त करके, अपने हृदय के वास्तविक उद्‌गारो को प्रकट करता है। यही 'छायावादी' कविता है तथा इसके अनुकूल वास्तविक ससार एक छाया-मात्र रह जाता है। अतः

ाद्ध समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसकी उत्पत्ति 'छायाभास' ानते है। कविवर जयशकर प्रसाद ने 'छायावाद' को मोती की आव से न्वित वतलाया है, जो वस्तुओ के मूल्य को वढाती है।

'छायावाद' दो अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। एक तो वहाँ जहाँ यह रहस्या- पुट लिये काव्य मे विद्यमान होता है और कवि अपने उस अनन्त, म तथा लौकिक सौन्दर्य एव ज्ञान-तत्व को चित्रमयी भापा तथा व्यं- द्वारा वाह्य ससार के पदार्थों मे देखता है। दूसरा प्रयोग शैली अथवा त-विशेष को लेकर है, जिसमे प्रस्तुत के स्थान पर अधिकतर अप्रस्तुत गो की योजना, मूर्त्त का अमूर्त्त से सम्बन्ध, लाक्षणिक प्रयोगो की प्रचु- , छन्द की स्वच्छन्दता इत्यादि को विशेष स्थान प्रदान किया गया है। त का चित्रण समवेदनात्मक दृष्टि से ही हुआ है और प्राचीन कविता ो प्राण रस तथा अलकार आदि थे वे इस शैली मे ध्वनि एव व्यजना प मे ही परिणत हो गए है। अतः उपर्युक्त दोनो अर्थो को लेकर यो ने अपनी रचना की है। मूल स्रोत को लेकर चलने वाली महादेवी है तथा प्रतीक-पद्धति को विशेष रूप से अपनाने वाले पन्त, प्रसाद 'निराला' है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रकृति पर जहाँ मानवीय ो का आरोप किया जाता है आर जड-चेतन का अद्भुत समीकरण ाया जाता है वही छायवाद है। इसमे सभी वस्तुओ का मानवीकरण न होता है और बुद्धिवाद का स्थान भावुकता ग्रहण कर लेती है।

वास्तव मे छायावाद तथा रहस्यवाद मे कोई तात्त्विक भेद नहीं है। · प्रकार हम छायावाद मे इतिवृत्तात्मक तथा दृश्यमान भौतिकता थान पर एक अदृश्यमान भावुकता को विद्यमान पाते है, उसी प्रकार यवाद मे किसी अलौकिक सत्ता की ओर सकेत किया जाता है। कवि क पदार्थ मे आत्न-तत्त्व का दर्शन पाकर, उसमे अनन्त सौन्दर्य की मूर्ति, ा प्रियतम के साक्षात्कार के आभास का भी अनुभव करता है। फूलों ाखुडियो तथा नदियो की लहरो आदि मे, अपने प्रियतम के अनेक रूपो ाह उपस्थित पाता है। इसी अलख, अगोचर सत्ता के प्रत्यक्ष चित्र को

उपस्थित करने वाली कविता को रहस्यवादी कहा जाता है। इस प्रकार छायावाद तथा रहस्यवाद मे कोई विशेष विभिन्नता नही है। ये एक ही विचारधारा की दो स्थितियाँ हैं। जब तक मानव और प्रकृति के बारे मे वर्णन रहेगा, तब तक तो उसकी सज्ञा 'छायावाद' की ही रहेगी, पर जहाँ किसी अज्ञात, अलौकिक तथा अगोचर सत्ता की ओर इशारा किया जाएगा, वह कविता 'रहस्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध होगी। इस तरह 'रहस्यवाद' मनुष्य तथा सम्पूर्ण जगत् का सम्बन्ध उसको प्रचलित करने वाली श्रेष्ठ सत्ता के साथ करता है, तथा भावुकता से ऊपर उठकर नश्वर और शाश्वत के अपूर्व सामजस्य को उपस्थित करता है।

रहस्यवाद हिन्दी-साहित्य मे नवीन नही है। गीता मे भी ईश्वर तथा मनुष्य के सम्बन्ध को 'रहस्य' अथवा 'गुह्य' कहा गया है—'इद हि ते गुह्यतम प्रवक्ष्यमनुसूयवे', इत्यादि। उपनिषदो मे भी इस प्रकार के कथन हैं तथा कबीर, जायसी आदि निर्गुण सन्तों की बानियों मे भी इसके दर्शन होते हैं—

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फुटा कुंभ जल जलहि समाना यह तथ कथे गियानी।।

अनुभव की तीव्रता के कारण मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध मे दाम्पत्य-भाव की प्रधानता होने से रहस्यवाद में शृगारिक भाषा का ही अधिक प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। कबीर ने भी अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है, तथा रवि बाबू लिखते हैं—

ऐकला आसि बाहिर होलेम तोमार अभिसारे।

प्राचीन रहस्यवाद मे हम प्रधानतया उपदेशात्मक प्रवृत्ति ही पाते हैं पर आधुनिक रहस्यवाद साहित्यिक सौन्दर्य से सम्बन्धित है। इसमे मिलन के सुख और वियोग के दुःख दोनों की अपूर्व अभिव्यंजना है—

युग युगान्तर की पथिक मैं छू कभी लूँ छांह तेरी।
ले फिरूँ सुधि दीप-सी फिर राह मे अपनी अँधेरी।।

आजकल का रहस्यवाद कल्पना-प्रधान है। विरह की वेदना के जो

वर्णन है, वे कल्पना की सृष्टि ही है। पर छायावाद तथा रहस्यवाद का आधुनिक कविता मे कुछ दुरुपयोग भी हुआ है। लोगो ने इसे कविता का एक विपय-सा वना लिया है और पृथ्वी की वातो का पूर्ण परित्याग करके सभी हवाई उडान उडना चाहते है। इससे काव्य कुछ सकुचित-सा हो गया है। पर अव 'छायावादी' कवि जीवन की ओर भी झुक रहे हैं। 'इस तरह छायावाद भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक दर्शन की नव प्रतिष्ठा का वर्तमान, अनिश्चित परिस्थितियो मे एक सक्रिय प्रयत्न है।'

'छायावादी' कवियो मे **जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, 'बच्चन'** आदि है। इस युग के कवियो ने परम्परा से चले आये हुए छन्दो के वन्धनो को भी समाप्त कर दिया है, और कविता एक सरिता की जल-राशि के समान विना किसी पथ-वाधा के स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित हुई है। साथ ही उसमे देश-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम एव समाज-सुधार का भी गहरा पुट विद्यमान है।

श्री जयशंकर प्रसाद—कविवर प्रसाद का जन्म स० १९४६ मे काशी के प्रतिष्ठित तथा धनी वैश्य-परिवार मे हुआ था। इनके पिता का नाम देवीप्रसाद जी था। इनकी शिक्षा अभी अँग्रेजी मिडल तक ही हो पाई थी कि इनके पिता का देहान्त हो गया और स्कूल छोडकर घर ही पर अध्यापक रखकर इन्हे अपने अध्ययन को जारी रखना पडा। काशी मे इनका परिवार भी शास्त्र-चर्चा के लिए विख्यात था और इसका प्रभाव प्रसादजी पर भी पडा। सत्रह वर्ष की ही अवस्था मे आपके वडे भाई की भी मृत्यु हो गई और परिवार तथा व्यवसाय का पूरा भार इन पर आ पडा, जिसे इन्होने सावधानी और लगन के साथ सँभाला। परिवार की पूर्व-प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए वह अपना विद्या-व्यसन भी वढाते गए।

प्रसादजी अध्ययनशील थे और स्वतन्त्र रूप से विचार करने मे अधिक समय देते थे। आपने संस्कृत, फारसी, अग्रेजी और उर्दू का अच्छा अध्ययन किया था। भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व पर इनके कई स्वतन्त्र लेख

हैं, जिनमें इनके गम्भीर अध्ययन और मौलिक विवेचन का स्पष्ट परिचय मिलता है। साहित्य के विभिन्न अगों की ओर इनकी रुचि बचपन से ही थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काशी में साहित्य का जो वातावरण तैयार किया था, 'प्रसाद' के विकास मे वह पर्याप्त सहायक हुआ। इनका स्वभाव सरल और आकर्षक था। इनके यहाँ साहित्यकारो की गोष्ठी प्रतिदिन देखी जाती थी। हिन्दी-साहित्य की आशा पर तुषार-पात करते हुए ईश्वर ने हमारे 'साहित्य-निर्माता' को छीन लिया और अडतालीस वर्ष की आयु मे इनका देहान्त हो गया।

इनके गद्य-साहित्य का गद्य के विवेचन मे उल्लेख हो चुका है कि किस तरह भारत के अतीत का चित्रण करने वाले नाटक तथा समाज के प्रति-बिम्ब को उपस्थित करते हुए उपन्यास एव कहानियाँ लिखकर आपने गद्य-मार्ग का पथ-प्रदर्शन किया। कविता मे 'कामायनी', 'आँसू', 'लहर', 'कानन-कुसुम', 'महाराणा का महत्त्व', 'प्रेम-पथिक', 'चित्राधार', 'झरना' और 'करुणालय' इनकी रचनाएँ है। आपने सस्कृत-साहित्य की ध्वन्यात्मक शैली को अपनाया है, अत· रचनाएँ कही-कही दुरूह हो उठी हैं। काव्य मे भी नाटकत्व के गुण विद्यमान है। भाषा प्रारम्भ मे इनकी व्रज थी। 'चित्राधार' और उस समय के नाटकों के पदो मे इन्होने इसी भाषा का व्यवहार किया था। बाद को खडी बोली की प्रगति के साथ यह अग्रसर होते गए और छायावाद के प्रवर्त्तक बने। इनकी 'कामायनी' पर 'मगला-प्रसाद पारितोषिक' भी प्राप्त हुआ है।

भावों की गम्भीरता, दार्शनिक विचार और भावुकता इनकी रचनाओ मे अधिक हैं। इनके भावावेश मे गुप्तजी की विवेकप्रियता नही है। चरित्र-चित्रण भी यह स्वाभाविक नही कर सके है, और इनके काव्य में वर्णित मानव-जीवन की अनुभूति अतिरंजित और अधिक अशो मे असत्य है। इनकी दार्शनिकता पाठकों को कोई निश्चित विचारधारा न प्रदान करके बुद्धि में भ्रम पैदा कर सकती है। साथ ही इनकी रचनाओ मे निराशा, अवसाद और तन्द्रा की ही अवस्थाएँ अधिक हैं, और प्राकृतिक विवेक,

सजग और सचेत जीवन का अभाव है। पर यह ही मनीषी थे, जिन्होने हिन्दी-साहित्य मे नवीन विपयो की अवतारणा की और भाव-जगत् का सस्कार किया। नवीन भावनाओं के साथ काव्य को नवीन कल्पनाएँ भी प्रदान की। आन्तरिक तथा बाह्य दोनो सौन्दर्यो पर इन्होने उचित प्रकाश डाला है। प्रकृति के प्रति सच्चे प्रेम के यह प्रथम परिचायक और प्रेरक है। इन्हे यौवन और प्रेम का कवि भी कहा जाता है। यह हिन्दी-साहित्य की 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' की शैली के प्रवर्त्तक है और प्रेम तथा वासना को अपने वास्तविक तथा पृथक्-पृथक् रूप मे चित्रित करने वाले प्रथम कवि है। अधिकतर प्रियतम की सयोग से तथा वियोग से युक्त रहस्यमयी भावना को ही इन्होने उपस्थित किया है—

अवकाश असीम सुखो से
आकाश तरंग बनाता
हँसता सा छाया पथ में
नक्षत्र-समाज दिखाता।

'लहर' मे आपने मानव-जीवन मे सरसता का सचार करने वाली 'लहर'-विशेप का ही समावेश किया है। इसमे रहस्यवादी गान भी भरे पड़े है। प्रकृति के सुन्दर रूप को लेकर कही-कहीं रूपक भी बाँधे गए हैं—

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही, तारा घट ऊषा नागरी॥

इसमे इतिहास के भी दर्शन होते हैं और अतीत मे कल्पना का सुन्दर प्रवेश परिलक्षित होता है। 'अशोक की चिन्ता', 'शेरसिंह का आत्म-समर्पण' आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। 'कामायनी' मे भारतीय इतिहास के अरुणोदय को प्रदर्शित करते हुए, दार्शनिकता के पुट के साथ, कवि ने अपने 'आनन्दवाद' की स्थापना की है। इसमे मानव का इतिहास सुन्दर रूप से उपस्थित किया गया है। यह काव्य शैव-दर्शन से प्रभावित है। 'श्रद्धा' को इसमे श्रेष्ठता प्रदान की गई है और 'चिन्ता', 'बुद्धि' या 'विवेक' आदि को नीचा स्थान दिया गया है—

मनु ! तुम श्रद्धा को गये भूल।
तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में, कुछ सत्ता है नारी की ।।
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की ।।

इन्होंने अन्य पूर्ववर्ती कवियो का अनुकरण न करके नारी को साधना-मार्ग मे भी साधक माना है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष-स्रोत सी-बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में ।।

इसमे भारतीय मानवता का दिव्य सन्देश ही सुनाई पडता है। प्रलय का भी इसमें सजीव वर्णन है। इस प्रकार प्रसादजी मे हमे वास्तविकता, आध्यात्मिकता, अभिव्यंजनात्मकता तथा लाक्षणिकता इत्यादि से दर्शन होते हैं। 'प्रवन्ध' तथा 'मुक्तक' दोनो शैलियो मे आप सफल हुए हैं। सच्ची देश-भक्ति का भी इनकी रचनाओ में सुन्दर योग है। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण ही ये एक युग-प्रवर्त्तक कवि तथा लेखक कहे जाते हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त—इनका जन्म सवत् १९५८ मे जिला अल्मोडा (उत्तर प्रदेश) के कौसानी नामक गाँव मे हुआ था। इनके पिता का नाम पं० गगादत्त पन्त था। इन्होने एफ० ए० तक शिक्षा पाई है, पर अन्य साहित्यिको की भाँति इनका अधिकतर अध्ययन घर पर ही हुआ है। इन्होने सस्कृत, बँगला तथा अगेजी-साहित्य का गम्भीरता से अध्ययन किया है और बँगला की तो आप पर स्पष्ट छाप विद्यमान है।

इनकी रचनाओं में 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'उच्छ्वास', 'पल्लव', 'गुञ्जन', 'युगान्त', 'युगवाणी', 'पल्लविनी', 'स्वर्ण किरण' आदि विख्यात है। आप इन दिनो 'गाधीवाद' से विशेप प्रभावित हुए हैं, और 'युगवाणी' तथा 'युगान्त' मे हम इसकी स्पष्ट छाप पाते हैं। अपनी 'ग्राम्या' मे आपने ग्राम्य-जीवन का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—

स्वाभाविक नारी-जन की लज्जा से वेष्टित।
नित कर्मनिष्ठ, अंगो की हृष्ट-पुष्ट सुन्दर ।।

'गाधीजी' के स्वर्गारोहण के पश्चात् उनको श्रद्धाजलि अर्पित करते

हुए 'खादी के फूल' में आपने कुछ कविताएँ लिखी हैं—

प्रथम अहिंसक मानव बनके तुम आये हिंस्र धरा पर।
मनुज-बुद्धि को मनुज-हृदय के स्पर्शों से संस्कृत कर,
मनुज अहं के गत विधान को बदल गये हिंसा हर;
... .

आपने खड़ी बोली के खुरदरेपन को दूर कर उसे कोमलता, स्निग्धता एवं सरसता से युक्त किया, जिससे उसमे नवीन जीवन का संचार हुआ। इन्होने अपनी भाषा को व्याकरण की रूढियो से मुक्त करके इसे उसकी सहचारी वनाया है। प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग भी हम इनमे पाते हैं। इनका एक-एक शब्द अपना एक निश्चित रूप रखता है और एक ही पर्यायवाची शब्द के भिन्न प्रयोग हम इनकी भाषा मे पाते है, यथा प्रहसित, विहसित, स्मित, पुराचीन, प्राचीन आदि। साथ ही हम एक सरल तथा सक्षिप्त सामासिक पदावली का प्रयोग भी इनमें पाते है।

पन्तजी वास्तव मे प्रकृति-चित्रण करने मे अत्यन्त सफल हुए है। इन्होने प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य का वास्तविक रूप अपने हृदय से सामजस्य स्थापित करके उपस्थित किया है, जिससे स्पष्ट यही प्रतीत होता है कि मानो इनके वर्णनों मे प्रकृति, आत्मा और प्राण का प्रत्यक्ष एकीकरण विद्यमान है—

आज पल्लवित हुई है डाल, झुकेगा कल गुञ्जित मधुमास;
मुग्ध होगे मधु से मधु वाल, सुरभि से अस्थिर मरुताकाश।

इनकी कृतियो मे हिन्दी की परम्परागत शैली का ही नही, प्रत्युत एक व्यापक काव्य-कला का समावेश है। 'पल्लव' मे कल्पनामूलक कविताएँ तथा 'गुजन' में विचारात्मक कविताएँ संग्रहीत हैं। यह अपनी उत्कण्ठा तथा जिज्ञासा को लेकर, अज्ञात आत्म-साधना के पथ पर अग्रसर हुए हैं, और जीवन के अन्तरग तथा वहिरग पक्षो पर हम इनका व्यापक दृष्टि-पात पाते है। विश्व-सौन्दर्य से ही इन्होने अपनी भावुकता को ग्रहण किया है—

इस अनुपम सुन्दर छवि से, मैं आज सजा लूँ निज मन।
अपलक अपार चितवन पर, अर्पण कर दूँ नव यौवन॥

'गुंजन' में कवि आन्तरिक जीवन के विषय में कहता है—

आत्मा है सरिता के भी जिससे सरिता है सरिता।
जल-जल है लहर-लहर रे गति-गति, सृति-सृति चिरभरिता॥

जीवन को पन्तजी ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से ही देखा है। आप कहते हैं—

जीवन की लहर-लहर से हँस खेल खेल रे नाविक।
जीवन के अन्तस्तल मे नित बूड़-बूड़ रे नाविक॥

इनका रहस्यवाद प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद है तथा यह साम्प्रदायिक न होकर स्वाभाविक ही है। इस रहस्यमय जगत् के नाना रूपो से प्रभावित होकर ही कवि ने रहस्य तथा चित्रमयी कल्पना की है, जिसमे इस संसरणशील ससार के दृश्य-व्यापारो द्वारा एक छिपी हुई तथा अज्ञात सत्ता के विषय में चिन्तिन हुआ है—

कँप-कँप हिलोर रह जाती, रे मिलता नही किनारा।
बुदबुद विलीन हो चुपके, पा जाता आशय सारा॥

यह स्वच्छन्दतावाद के स्वाभाविक तथा निराले मार्ग पर ही चले हैं। संसार के विषय मे आप लिखते हैं—

न अपना ही न जगत् का ज्ञान नाम गुण रूप अजान।

इनकी रचनाओ मे यूरोप के 'सौन्दर्य' तथा कलावाद की स्पष्ट झलक मिलती है—

धूल की ढेरी मे अनजान छिपे हैं मेरे मधुमय गान॥

इनमे रहस्य-भावना की अपेक्षा दार्शनिकता ही अपने स्वाभाविक रूप में निहित है। आजकल कल्पना के आकाश से उतरकर आपने यथार्थ जगत् का चित्रण प्रारम्भ किया है। 'युगवाणी' मे सामाजिक उत्थान का भी वर्णन उपस्थित है। इनका झुकाव समाजवाद तथा गांधीवाद दोनों की ही ओर है। 'छायवाद' की सकीर्ण परिधि से निकलकर पन्तजी ने संसार

का वास्तविक निरीक्षण किया है, और यही उनकी कृतियो मे स्पष्टरूपेण व्यक्त है। इनका व्यक्तित्व भी पूर्ण संस्कृत तथा शालीन है। आधुनिक युग के क्रान्तिकारी कवियो में प्रसाद और 'निराला' की भाँति इन्हें भी उच्चासन प्राप्त है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—निरालाजी का जन्म सवत् १९५५ में बगाल के मेदनीपुर जिले की महिषादल स्टेट मे हुआ था। आपके पिता उत्तर प्रदेश के बैसवाड़े इलाके के रहने वाले थे। अत. जन्म से ही आप बँगला-साहित्य तथा संस्कारों से प्रभावित हैं। सस्कृत, बँगला तथा संगीत आदि का आपने गम्भीर अध्ययन किया है। निरालाजी हिन्दी के युगान्तकारी तथा स्वच्छन्द मार्ग पर चलने वाले कवि है। यह 'समन्वय' और 'मतवाला' नामक पत्रो के सम्पादक भी रह चुके हैं। सवत् २००३ मे 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा इनकी जयन्ती भी मनाई गई। जीवन की अनेक विषमताओ से जन्म से ही लडते हुए आधुनिक युग का यह स्वच्छन्द कवि अब मानसिक शक्ति से शिथिल हो चुका है, फिर भी अपनी अपूर्व लेखनी द्वारा हिन्दी-साहित्य की गौरव वृद्धि मे सतत उद्योगशील है। आजकल अधिकतर आपका समय प्रयाग मे ही व्यतीत होता है।

कविता के क्षेत्र मे 'अनामिका', 'परिमल', 'गीतिका', 'तुलसीदास', 'कुकुरमुत्ता', 'बेला', 'अणिमा', 'अपरा' और 'नये पत्ते', उपन्यासों मे 'अप्सरा', 'अलका', 'निरुपमा', 'प्रभावती', 'चोटी की पकड', 'काले कारनामे' आदि, तथा कहानियो मे 'लिली', 'सखी', 'चतुरी चमार', 'सुकुल की बीवी' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ है। इनके अतिरिक्त 'कुल्ली भाट', 'बिल्लेसुर बकरीहा' आदि रेखाचित्र, और कई आलोचनात्मक निबन्ध भी आपने लिखे हैं। आपने 'रामकृष्ण रसनामृत', 'स्वामी विवेकानन्द जी के भाषण' इत्यादि ग्रथो का अनुवाद भी किया है। इस तरह यह 'निराला-साहित्य' के कुशल निर्माता हैं।

इनकी भाषा संस्कृतप्राय और सघन है, फिर भी यह सुचारु है और हिन्दी के कलेवर मे उसी की होकर खिली है। कही-कही, बीच-बीच मे

आपने-उर्दू शब्दों का प्रयोग भी किया हैं, जिनसे भाषा में जान आ गई है। आपका वाक्य-विन्यास बँगला से स्पष्ट प्रभावित है। आपके तुकान्त और अतुकान्त तरह के छन्द लिखे है। तुकान्त छन्दों में हम एक स्पष्ट झकार पाते है और अतुकान्त छन्दो मे पढ़ने की विशेष कला (आर्ट ऑफ रीडिंग) के दर्शन होते है। इस तरह अतुकान्त एव मुक्त छन्द के कुशल रचयिता होते हुए, भाषा और छन्द के बन्धन को तोडकर, कविता के अभिनव पथ को इन्होने परिष्कृत किया है। बँगला के अनुकरण पर हम इनकी शैली में पाश्चात्य ढंग की 'प्रगति-पद्धति' का अनुसरण पाते है, जिसमे सगीत-तत्त्व का अधिक समावेश है। इस तरह काव्य तथा संगीत को एक-दूसरे के निकट लाने का अथक प्रयत्न हिन्दी-कविता के क्षेत्र मे 'निरालाजी' ने ही किया है।

श्री रामकृष्ण परमहस तथा स्वामी विवेकानन्दजी के दार्शनिक विचारो ने आपको विशेष रूप से प्रभावित किया है। विवेकानन्दजी की शक्ति, सेवा एवं करुणा की भावना से आप ओत-प्रोत है, यथा—

एक बार बस और नाच तू श्यामा !
कितने ही हैं असुर
चाहिए कितने तुझको हार ?

इन्होने अद्वैतवाद के वेदान्ती स्वरूप को ग्रहण किया है, अतः रहस्यात्मक रचनाओ मे हमे इसकी स्पष्ट झलक मिलती है। इनके रहस्यवाद पर बगाल मे विकसित आध्यात्मिकता का स्पष्ट प्रभाव है—

तुम गन्ध कुसुम कोमल पराग, मैं मृदु गति मलय-समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मै प्रकृति प्रेम-जंजीर॥
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति।

'महाराज शिवाजी का पत्र', 'राम की शक्ति-पूजा', 'दिल्ली' आदि रचनाओ से प्राचीन संस्कृति के प्रति कवि का उत्कट प्रेम प्रकट होता है—

निस्तब्ध मीनार
मौन हैं मकबरे—

भय मे आशा को जहाँ मिलते थे समाचार।
टपक पड़ता था जहाँ आँसुओं मे सच्चा प्यार॥

तथा

जागो फिर एक बार
समर मे अमर कर प्राण
गान गाये महासिन्धु से
सिन्धु नद तीर-वासी
....
सवा-सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्दसिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।

इस तरह उस 'अज्ञात सौन्दर्य' की ओर सकेत करने के साथ-साथ आपने संसार के वास्तविक व्यापारो की भी समीक्षा की है। समाज मे प्रचलित ढोगों तथा मानव-जीवन की विवशताओ के उन्होने सच्चे चित्र खीचे हैं। यह निराशावादी कवि नही हैं, प्रत्युत जीवन की प्रत्येक कठिनाई का एक सच्चे वीर की भाँति इन्होने सामना किया है। आप लिखते हैं—

खण्डित करने को भाग्य अंक, देखा भविष्य के प्रति अशंक।

जीवन के संघर्षो और परिस्थितियों से प्रभावित होकर आप अब यथार्थवाद की ओर जोरो से झुकते जा रहे हैं और पूँजीवादी व्यवस्था आपको अब प्रगतिवाद की ओर ले जा रही है। इसी का अब आप अपनी कविताओं तथा रचनाओ में चित्र उपस्थित कर रहे हैं और 'भिक्षुक', 'दीन', 'विधवा' आदि इसी के उदाहरण हैं—

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक।

× / ×

खुला भेद विजयी कहाये हुए जो, लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं।

इस तरह 'निरालाजी' ने ही जागरण का प्रथम बार शख बजाया है। हमारी राष्ट्रीय चेतना को सजीव वाणी प्रदान करते हुए, हमारे अतीत को गौरव तथा दर्प से चमकाने की इनमे अपूर्व क्षमता है। अतः आप आधुनिक हिन्दी-काव्य के युगान्तकारी प्रवर्त्तक एव युग-स्तम्भ है।

महादेवी वर्मा—इनका जन्म सवत् १९६४ मे फर्रुखाबाद में हुआ था। इनके पिता श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा थे और इनकी प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर मे हुई थी। इसके पश्चात् आपने एम० ए० तक अध्ययन किया। कुछ समय तक आप 'चाँद' की सम्पादिका भी रही और फिर 'प्रयाग महिला विद्यापीठ' के आचार्य पद को स्वीकार किया तथा आज तक आप इसी पद पर प्रतिष्ठित है। आपने हिन्दी-लेखक तथा कवियों की सहायता-हेतु 'साहित्यकार-संसद' नामक संस्था की स्थापना की है। आपको 'नीरजा' पर 'सेकसरिया पुरस्कार' तथा 'यामा' पर 'मगलाप्रसाद पारितोषिक' प्राप्त हुआ है।

इनकी रचनाओ मे 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्य-गीत' और 'दीप-शिखा' प्रसिद्ध हैं। 'यामा' मे 'नीहार', 'रश्मि' और 'नीरजा' की ही कविताएँ सग्रहीत है। इनके अतिरिक्त 'अतीत के चलचित्र' और 'शृङ्खला की कडियाँ' निबन्धो का सग्रह तथा 'हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य' नामक एक आलोचनात्मक पुस्तक भी आपने लिखी है। गीत लिखने मे इन्हे अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। इनकी शैली हृदय की भावभंगी से ओत-प्रोत है और इसमे भाषा का स्निग्ध एवं प्रांजल प्रवाह है। छायावाद की अभिव्यंजनात्मक शैली को अपनाकर आपने प्रकृति के मार्मिक चित्रो को अंकित किया है।

यह मीरा की अवतार कही जाती है और इनके पदों मे मीरा के माधुर्य तथा अनन्त विरह की वेदना के दर्शन होते है। इन्ही की कविताओं मे हमे वास्तविक रहस्यवाद मिलता है। इनका यह रहस्यवाद वेदना-प्रधान है, जो उस अज्ञात तथा अनन्त प्रियतम के प्रति प्रकट है जिसके मिलन के

लिए प्रत्येक प्राणी लालायित रहता है। पर 'मिलन' की अपेक्षा आपने 'विरह' को ही प्रधानता प्रदान दी है—

मिलन का मत नाम ले मै विरह में चिर हूँ।

इनकी कविताओ मे हम प्रियतम की उत्सुकतापूर्ण प्रतीक्षा पाते है। इनके अलौकिक विरह, मिलन आदि मे वासना इत्यादि के चिह्न नही है और शृङ्गार-वर्णन भी पवित्र है। सयोग और वियोग दोनो पक्षो का सुन्दर चित्रण हम इनमे पाते है तथा इनकी वेदना मे हृदय की वास्तविक अनुभूतियो के दर्शन करते है। इनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति काल्पनिक छाया के रूप मे हुई है। इन्होने सर्वत्र अपनी कविताओं मे उस अस्पृश्य तथा अदृश्य प्रियतम परमात्मा के प्रति आत्म-निवेदन किया है। प्रकृति की प्रत्येक दशा मे, यह उसी आत्म-रूप प्रियतम के आनन्द तथा उल्लास का दर्शन करती हैं—

मेघों में विद्युत्-सी छवि, उनकी बनकर मिट जाती,
आँखो की चित्रपटी मे जिसमें मै आँक न पाऊँ।
वे तारक-बालाओ की अपलक चितवन बन आते,
जिसमें उनकी छाया भी मै छू न सकूँ, अकुलाऊँ।
सोते सागर की धड़कन बन लहरो की थपकी से,
अपनी यह करुण कहानी जिसमें उनको न सुनाऊँ।

इन्होने इस नश्वर जगत् से ऊँचा उठकर अनन्त तथा असीम का गान भी गाया है—

दूर उन्हीं नीलम कूलो पर था पीड़ा का झीना तार।
उच्छ्वासो की गूँथी माला मैने पाई थी उपहार॥

इन्हे इस नाशवान् जीवन का भी मोह नही है—

चिन्ता क्या है हे निर्मम बुझ जाये दीपक मेरा।
हो जायेगा तेरा ही पीड़ा का राज्य अँधेरा॥

भक्तिकाल के सन्त कवियो मे आत्मा तथा परमात्मा के प्रति जिस विकलता का समावेश है, उसे हम महादेवी मे भी पाते है। उनकी कवि-

ताओ मे रूप-चित्रण की अपेक्षा भाव-चित्रण की ही प्रधानता है। साथ ही इनका झुकाव करुणा और भक्ति-भाव की ओर ही अधिक रहा है। इनकी रचनाएँ कल्पना, कला और प्रतिभा-सम्पन्न है। अपने आरम्भिक जीवन मे आपने सामाजिक तथा राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित होकर कविता की थी, पर वाद मे आपकी रचनाएँ कल्पना-प्रधान होने लगी। आपने स्वयं अपने एक भापण मे कहा था—

"कवि के पास एक व्यवहारिक बाह्य संसार है, दूसरा कल्पना-निर्मित आन्तरिक। परन्तु वे दोनों परस्पर-विरोधी न होकर एक-दूसरे की पूर्ति करते रहते है।"

रहस्यवादी कवियो मे महादेवीजी को उच्च स्थान प्राप्त है और आपने प्रेम तथा सौन्दर्य-सम्वन्धी रहस्यवाद को अपनाकर उसका सम्वन्ध काव्य-वस्तु से जोडते हुए, उसे अपने वास्तविक रूप मे प्रकट किया है।

माखनलाल चतुर्वेदी—इनका जन्म मध्यप्रान्त के होशगावाद जिले मे सवत् १९४५ हुआ था। इन्होने प्रारम्भ मे 'कर्मवीर' का सम्पादन किया था और वाद मे 'प्रताप' तथा 'प्रभा' के भी सम्पादक रहे। आजकल आप फिर 'कर्मवीर' का सम्पादन कर रहे हैं। इनकी वाणी मे कड़क तथा जोश भरा हुआ है और क्रान्तिकारी विचारो का भी उचित समावेश है। अपने हरिद्वार-अधिवेशन मे 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन' ने सभापति के पद से इन्हे विभूषित किया था। अल्प होने पर भी इनकी साहित्यिक कृतियाँ उच्च कोटि की है। 'हिम-किरीटिनी' पर इन्हे 'देव-पुरस्कार' प्राप्त हुआ। इनकी रचनाओ मे 'हिम-किरीटिनी', 'हिम-तरगिनी' (कविता-सग्रह), 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (नाटक), 'साहित्य-देवता' (गद्य-काव्य) तथा 'वनवासी' (कहानी-सग्रह) इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

इनकी भापा, शैली, विपय आदि सभी मौलिक हैं। शुद्ध भापा के साथ उसमे उर्दू शब्दो का प्रयोग भी हम पाते है। 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से इन्होने कविता की है। देशव्यापी विराट् आन्दोलन तथा राष्ट्रीयता की अपूर्व झलक हम इनकी कविताओ मे पाते है। जनता की मानसिक

धारा ओजस्वी शब्दों मे व्यक्त है। इनमें हमें राष्ट्रीय जीवन की झाँकी, कसक, हूक, टीस एव सुख-दु.ख की प्रतिध्वनि के दर्शन होते हैं। 'कैदी और कोकिला' में कितना मर्मस्पर्शी एव सजीव चित्र खीचा गया है—

तुझे मिली हरियाली डाली, मुझे नसीब कोठरी काली।
तेरा नभ-भर मे संचार, मेरा दस फुट का संसार।
तेरी गाते उठती आह, रोना भी है मुझे गुनाह।

आपकी रचनाओ मे बलिदान की ज्वाला, मर मिटने की चाह तथा अपने को एक बड़े लक्ष्य के लिए सर्वदा धूल मे मिलाने को प्रस्तुत रहने की भावना विद्यमान है। 'सिपाही' शीर्षक कविता मे हमे इन्ही विशेषताओ के दर्शन होते हैं—

क्या वीणा की सुर लहरी का सुनूं मधुरतर नाद,
छिः मेरी प्रयंत्चा भूले अपना यह उन्माद।
झंकारों का कभी सुना है, भीषण वाद-विवाद,
क्या तुमको है कुरुक्षेत्र, हल्दीघाटी की याद।
सिर में प्रलय, नेत्र मे मस्ती, मुट्ठी मे मनचाही,
लक्ष्य-मात्र मेरा प्रियतम है मैं हूँ एक सिपाही।

इनकी कविताओ मे जीवन के भावाख्यान की समष्टि ही उपस्थित रहती है। राष्ट्रीय कविताओं के अतिरिक्त प्रेम तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी रहस्यवाद का पुट देते हुए भी आपने कुछ कविताएँ लिखी है। कबीर की शैली पर मृत्यु के सम्बन्ध मे आपकी ये पक्तियाँ कितनी सुन्दर हैं—

अरी ओ, दो जीवन की मेल,
सखि, तेरा आगम, उनसे मुक्त प्रणय का खेल!
अरमानों की फटी चदरिया, क्यो बिगड़े सिलने मे?
दो बिछुड़ी पलकों के, श्यामा, दु ख क्यों हो मिलने मे?

इस कविता मे प्रियतम (परमात्मा) से मिलने का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। इनकी कविताओं की भाव-भूमि पर प्राचीन हिन्दी-कवियो का प्रचुर प्रभाव परिलक्षित होता है तथा इनमे विश्व-चेतना के

कलरव का हम आभास पाते हैं। निरालाजी ने एक लेख मे इनके विषय मे लिखा है—

कविता के वर्तमान उपासको में एक गौरव-पद पं० माखनलाल चतुर्वेदी को प्राप्त है।

डॉ० रामकुमार वर्मा की प्रारम्भिक रचनाएं इतिवृत्तात्मक ही है, पर बाद की रचनाओ में अनुभूति की ही प्रधानता है। इनके गीत भावपूर्ण और संगीत के नाद से समन्वित हैं तथा इनकी रचनाएं कबीर एवं पाश्चात्य रहस्यवाद से प्रभावित है। कवि के साथ-साथ यह एक श्रेष्ठ नाटककार तथा समालोचक भी हैं। इनकी रचनाओ मे 'चित्ररेखा', 'चन्द्रकिरण' तथा 'निशीथ' आदि अत्यन्त प्रसिद्ध है।

भगवतीचरण वर्मा की कविताएँ दु.ख तथा निराशापूर्ण है। परन्तु आप इनसे भागते नही। साम्यवाद से प्रभावित होकर आपका प्रगतिवाद की ओर झुकाव हो गया था और 'मानव' नामक काव्य-सग्रह इसी का द्योतक है। 'भैसा-गाड़ी' मे भी समाज के वैषम्य का वड़ा सजीव चित्र उपस्थित किया गया है।

हरिवंशराय 'बच्चन' ने उमर-खैयाम की रूवाइयो से प्रभावित होकर 'हालावाद' को लेकर हिन्दी-कविता के क्षेत्र मे प्रवेश किया, जिसमे जीवन का माधुर्य अपने वास्तविक रूप में पाया जाता है। पर इसके साथ-ही-साथ 'निराशा' और वेदना का उचित समावेश भी आपकी कविताओं मे है। प्रगतिवाद से आप भी प्रभावित है। आपकी रचनाओं मे 'मधुशाला', 'सतरगिनी' तथा 'हलाहल' आदि अत्यन्त उत्कृष्ट है। छायावादी कवियों मे 'निर्माल्य', 'एकतारा', 'कल्पना' एव भुजदण्डों को फडकाने वाली 'आर्यावर्त' के लेखक मोहनलाल महतो 'वियोगी', तथा 'कलापी' के सग्रहकर्ता आरसीप्रसादजी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इस युग के दूसरे प्रसिद्ध कवियो मे पं० उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' एव हरिकृष्ण 'प्रेमी' आदि हैं। कुछ कवि ऐसे भी हुए है, जिनकी छायावादी रचनाएँ कम हैं, और जिन्होने एक स्वच्छन्द धारा

कविता के क्षेत्र मे बहाई है। ऐसे कवियो मे पं० केशवप्रसाद पाठक, ठाकुर गुरु भक्त सिंह 'भक्त' तथा सुभद्राकुमारी चौहान आदि है। सुभद्राजी हिन्दी की प्रमुख कवयित्रियों मे से थी, जिनमे 'प्रणय का मधु' तथा दुखी देश के आँसू' दोनो विद्यमान थे। इनकी कविताएँ अत्यन्त सरल हैं तथा इनमे भावों की जटिलता का सर्वथा अभाव है। भाषा भी सरल तथा स्वाभाविक ही है। साधारण पाठक पर भी इन कविताओ का शीघ्र ही प्रभाव पडता है। इनकी कृतियो मे 'मुकुल', 'बिखरे मोती', 'उन्मादिनी', 'त्रिधारा' इत्यादि मुख्य है, तथा ये प्रेम, देश-भक्त एव वात्सल्य से ओत-प्रोत है। शृगार भी सयत रूप से ही सर्वत्र विद्यमान है—

मुझे बता दो मानिनि राधे! प्रीति रीति वह न्यारी।
क्योंकर थी उस मनमोहन पर, अविचल भक्ति तुम्हारी॥

'झाँसी की रानी', 'वीरो का कैसा हो वसन्त' शीर्षक कविताओ ने जनसाधारण को वीर-भावना से युक्त करके, उनके हृदय को नव जागरण के सन्देश से भर दिया, जिससे आक्रान्त जनता जागृति मे परिपूर्ण हुई। इस तरह इनकी रचनाओ मे सर्वत्र ही राष्ट्रीय चेतना का समावेश है, इनकी कविताएँ दुरूह नही है, अपितु उनमे सरल भाषा तथा शैली मे मानव का स्वाभाविक चित्र अंकित किया गया है।

प्रगतिवाद

सम्वत् १९९७ मे श्री प्रेमचन्दजी ने प्रगतिशील लेखक-सघ की स्थापना की थी। साधारणत. साहित्य सदा ही प्रगतिशील रहा है और दलित समाज की भावनाएँ सर्वदा साहित्य द्वारा व्यक्त होती रही है, अतः किसी युग-विशेष को प्रगतिकाल कहना यथार्थ नही है। पर हिन्दी-साहित्य मे इस शब्द का प्रयोग बहुत ही अधिक हो गया है। इस युग मे ससार मे अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई, जिनसे भयकर मन्दी और बेकारी उपस्थित हुई तथा सर्वत्र शोषण, चोरबाजारी इत्यादि की धूम हुई। देश के साहित्य पर 'साम्यवाद' तथा 'गाधीवाद' का प्रचुर प्रभाव पड़ा।

प्रगतिवाद मूलत राजनीतिक धरातल पर ही स्थित है। इस युग की रचनाओं मे गम्भीर भावनाओ का अभाव है तथा केवल क्षणिक आवेगो को ही प्रधानता प्रदान की गई है। इसकी भाषा काफी ओजपूर्ण है तथा रचनाओ के पढने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि पूँजीपति के शोषण तथा दुर्व्यवहारो की निन्दा एव मजदूरों की दीन दशा का वर्णन प्रत्यक्ष ही कर रहा है। कवि के सामने इस युग का मानव-समाज आर्थिक कठिनाइयो से त्रस्त तथा राजनीतिक शोषणो से क्षुब्ध ही था। अत. कवियो मे मानवतावाद की भावना प्रधान हुई और मानव-कल्याण की ही भावना काव्य-रचना का मुख्य विषय हुई। छायावादी कवि अपने दु.ख-सुख मे रोये-गाए हैं, पर वे समाज के शोक के प्रवाह मे नही बहे है। लेकिन प्रगतिवादी कवि समाज के सुख-दुःख में भी अपने को रँग लेता है। यह सुधार मे ही नही, अपितु नव-निर्माण मे भी विश्वास करता है। अत· छायावादी युग के करुणा, मौन, छाया तथा लज्जा आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय परिवर्तित होकर इस युग में विधवा, किसान, मजदूर, भिखारी, भूख आदि दैनिक जीवन-सम्बन्धी विषय हो गए। इस युग मे कविता आन्तरिक हृदय की वस्तु न होकर तार्किक अथवा बौद्धिक हो गई। कविताओं में 'सिपाही' अथवा 'भिखारी' के वर्णन के साथ-ही-साथ 'कार्ल मार्क्स' तथा लेनिन के सिद्धान्तो का प्रतिपादन होने लगा, समाज के बन्धनों के साथ भाषा, भाव, छन्द इत्यादि के भी बन्धन ढीले पडने लगे, पुरानी उपमाओ के स्थान पर 'मशाल', 'तांडव', 'प्रलय' इत्यादि का प्रयोग होने लगा। इनकी भाषा सरल तथा सुबोध है जिसमे एक धारावाहिकता तथा स्वच्छन्द गति के दर्शन होते है।

पर जहाँ सच्चे प्रगतिवादी कवियो ने मानवतावाद को अपनाकर उसी के चित्रण मे अपने काव्य का सृजन किया है, वहाँ पर उनके अनुकरण करने वाले अनेक कवियो ने जन-हित के उपयोगी तत्त्वों को ठुकराया भी है। इन्होने प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा प्रकट की है और समाज के हेय तथा कुत्सित अंशो के वर्णन मे भी गौरव माना है। वर्ग-विद्वेष के बीज भी इन कवियो द्वारा बोये गए है। पर कुछ भी हो, यह शोषित जन

का कल्याण चाहते हुए समाज में क्रान्ति उपस्थित करना चाहता है। सन् बयालीस के आन्दोलन तथा बंगाल के अकाल आदि से भी यह साहित्य विशेष रूप से प्रभावित हुआ। पन्त तथा 'निराला' आदि ही सर्वप्रथम इस क्षेत्र मे अवतरित हुए। इस युग के अन्य कवियों मे सर्वश्री उदयशंकर भट्ट, गोपालसिंह 'नेपाली', प्रभाकर माचवे, नागार्जुन, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' हंसकुमार तिवारी, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', जानकीवल्लभ शास्त्री, विद्यावती 'कोकिल', सुमित्राकुमारी सिनहा तथा रामधारीसिंह 'दिनकर' आदि मुख्य है। उपन्यास एवं कहानी-क्षेत्र मे भी इस युग में अधिक उन्नति हुई। उपन्यासों तथा कहानीकारो मे यशपाल, अमृतलाल नागर, 'पहाड़ी' आदि मुख्य हैं। इस युग मे बडे उत्कृष्ट आलोचक भी हिन्दी साहित्य को मिले, जिनमे डॉ० रामविलास शर्मा, श्री अमृतराय, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान आदि उल्लेखनीय है। इस युग में पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र द्वारा 'कृष्णायन' तथा पं० बलदेव प्रसाद मिश्र द्वारा 'साकेत सन्त' नामक दो महाकाव्यों की भी रचना हुई।

प्रगतिवादी कवियों में 'दिनकर' का उत्कृष्ट स्थान है। 'रेणुका' 'सरस्वती', 'द्वंद्वगीत', 'हुंकार', 'धूप-छाँह', 'सामधेनी' और 'बापू' इनके काव्य-संग्रह है तथा 'कुरुक्षेत्र' इनका महाकाव्य है। इनकी कविताओ मे वीरोचित लालसा, जीवन के संघर्ष का सफल चित्रण तथा भावना की तीव्रता अपने वास्तविक रूप मे उपस्थित है। इनका हृदय विद्रोह की चिनगारियों से झुलसा हुआ है, साथ ही यह इतिहास का दर्प जगाने वाले, अतीत के गौरव का चित्रांकन करने वाले और वीरों के भुजदण्डों को फड़काने वाले है। इन्होने प्रगतिवाद को एक सम्प्रदाय के स्वरूप में नही अपनाया है अपितु यह इनके हृदय की वास्तविक अनुभूति है। इनका काव्य जीवनोत्थान का साधन है। मार्क्सवाद पर भी आपकी उत्तम कविताएँ हैं—

उठ 'भूषण' की भावरागिणी, रूसो के दिल की चिनगारी ॥
लेनिन के जीवन की ज्वाला, जाग जाग री क्रान्ति कुमारी ॥

लाखों क्रौंच कराह रहे है, जाग आदि कवि की कल्याणी।
फूट-फूट तू कवि कण्ठों से, बन व्यापक निज युग की वाणी ॥

आप राष्ट्रीय गौरव और स्वाधीनता-सग्राम की परम्परा के अनुयायी बनकर ही साहित्य-क्षेत्र मे अवतरित हुए। इनकी वाणी मे कितना ओज है—

गरजकर बता सबको, मारे किसी के मरेगा नहीं हिन्द देश।

आपने भाग्यवाद के प्रति अविश्वास प्रकट किया है। इस तरह इनमें राष्ट्र-जागरण तथा विश्ववन्धुता की भावनाओ का प्रचुर समावेश है और प्रगतिवादी धारा के आप एक उदीयमान कवि हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविताएँ देशानुराग एवं राष्ट्रीय भावना से भरी हुई होती थीं। इन्होने राष्ट्रीय जागरण की लडाई मे सक्रिय भाग लिया था और यही कारण है कि उनकी कविताओं मे क्रान्ति का स्वर सुनाई पड़ता था। 'कुकुम', 'रश्मि रेखा', 'अपलक' तथा 'क्वासि' नामक आपकी स्फुट रचनाओ के सग्रह है। आपका 'उर्मिला' नामक एक महाकाव्य भी प्रकाशित हो चुका है। इनकी प्रगतिवादी विचारधारा का परिचय इनके 'विप्लव गान' नामक प्रसिद्ध गीत से होता है। कवि को उद्वोधन के स्वरो मे कहा गया है कि तुम क्रान्ति का स्वर छेडो—

नियम और उपनियमों के बन्धन टूक-टूक हो जाएँ।
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ ॥
नाश नाश हो महानाश की प्रलयंकरी आँख खुल जाए।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए ॥

अंचल का काव्य वर्ण्य विषय की की दृष्टि से प्रेम प्रधान है। उसमे यौवन की मादकता का ही चित्रण कवि का इष्ट रहा; जैसा कि उनकी 'अपराजिता' और 'मधूलिका' की कविताओ से ज्ञात होता है। फिर भी कवि का जीवन सामयिक विचारधारा से अनुप्राणित हुए विना नही रहा है और वह सर्वहारा का वर्णन करते हुए कहता है—

आततताइयों की हिंसा से कँपता अम्बर धरती रोती।
युग युग की जीवन प्रतिमा तुम आज पड़ी खेतों में सोती॥
देखो मुट्ठी भर दाने को तड़प रही कृषकों की काया।
कब से सुप्त पड़ी खेतों में जागो इन्कलाब घिर आया॥

नरेन्द्र शर्मा—की कविताओ के सकलन 'शूल-फूल', 'कर्णफूल', 'प्रभात फेरी' आदि शीर्षको से प्रकाशित है। 'प्रभात फेरी' की कविताएँ प्रगतिवादी विचार-धारा का पूर्ण रूप से परिवहन करती है। नरेन्द्र शर्मा की प्रगतिवादी काव्य-धारा की विशेषता यह है कि समाज मे जो नाना प्रकार की कुरीतियाँ है उनका श्रेय मनुष्य को ही है, वैसा वे मानते है। वेश्या-जीवन जो सामाजिक प्रक्रिया का फल हैं यद्यपि घृणित रूप प्राप्त किये हुए है वरन उसे हमारी सवेदना की उपेक्षा है—

गृहसुख से निर्वासित कर दी हाय मानवी बनी सर्पिणी,
यह निष्ठुर अन्याय आओ बहन !
अरी सर्पिणी आ तेरे मणिमय मस्तक पर मैं
अंकित कर दूँ निर्धन चुम्बन आ सर्पिणी
ले भाई का निर्मल आलिगन।

सामाजिक अव्यवस्था का मूल कारण समाज ही है। अस्तु, सामाजिक उत्क्रान्ति की अपेक्षा से ही उसका निदान सम्भव है।

केदारनाथ अग्रवाल जनवादी कवि हैं और इनकी कविताओ के सकलन 'युग की गंगा' मे इनका प्रगतिवादी स्वर सकलित है। विचारतः साम्यवादी होने के कारण क्रान्ति के विविध पहलुओ पर विचार करते हुए ईश्वर और रूढियो पर व्यग्य करते हैं। धरती और उसके वेटे किसान को लेकर साहित्य मे साम्यवाद के तथ्य को प्रस्तुत करने वाली कविताओ की रचना की है—

साम्राज्यवाद के गुरगे
साम्राज्यवाद के कुत्ते
भू-कर उगाहने वाले

दल्लाल दुष्ट धरती के
आना धेला के जमींदार
धरती माता के कुलांगार
थाने का चौकीदार नीच
जो वफादार है द्वारपाल
इस चरमर करते शासन का।

स्पष्ट ही कवि शोषक-वर्ग का विरोध करता हुआ उबल पड़ा है। इसकी क्रान्ति मे अधिक तीव्रता है।

हाथ जो चट्टान को
तोड़े नहीं
वह टूट जाए।

भारतीय कृषक-वर्ग कवि की दृष्टि में सबसे अधिक शोषित है। वह धरती का लाल होकर भी तंगहाल है। अत. वह उन्हें जागरूक करता है—

हल हंसिया का और हथौड़ा
का परचम लहराये जा।
जनता की सरकार सभी की
कायम कर मुस्काये जा।
जल्दी जल्दी हांक किसनवा
बैलों को हुरिकाये जा।

कवि-लेखकों से उद्बोधन के स्वरो मे लेखनी मे नया आलोक लाने का निवेदन करता है—

लाल सोने का सवेरा चमचमाओ।
लेखनी के लोक में आलोक लाओ।

नागार्जुन अपनी काव्य-रचना की दृष्टि मे साम्यवाद को स्पष्ट महत्त्व प्रदान करते है। वे भारतीय मध्यम वर्ग से सम्बद्ध है, जिसे वे शोषित मानते हैं और इस शोषण को भी काव्य का रूप प्रदान करते हैं। आत्म-कथ्य प्रस्तुत

करते हुए कवि कहता है—

पैदा हुआ था मैं,
दीन हीन अपठित किसी कृषक कुल में
आ रहा हूँ पीता अभाव का आसव
ठेठ बचपन से
कवि मैं रूपक हूँ दबी हुई दूब का
जीवन गुजरता प्रतिपल संघर्ष में।
मेरा क्षुद्र व्यक्तित्व
रुद्ध है, सीमित है
आटा, दाल, नमक व लकड़ी के जुगाड़ में

कुण्ठा-ग्रस्त कवि की साम्यवादी रूस की लाल सवेरा वाली व्यवस्था पर आस्था है। वह क्रान्ति के स्वर मे उद्बोधन करता है। भारतीय भूमि पर लाल सवेरा और लाल भवानी को प्रकट होने की आकाक्षा उसके हृदय-प्रदेश मे विराजमान है—

होशियार कुछ देर नहीं है
लाल सवेरा आने में।
लाल भवानी प्रकट हुई हैं
सुना है तेलंगाने में।

शिवमंगल सिंह 'सुमन' प्राय. प्रेम-गीतो के ही लेखक-रूप मे ख्यात है। लेकिन युग स्वर के अनुसार साम्यवादी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर उनकी भी कुछ रचनाएँ हुई जिनमे 'सोवियत रूस के प्रति', 'मास्को अब भी दूर है', 'स्तालिनग्राद', 'लाल सेना' आदि रचनाएँ काव्य से बढकर प्रोपेगण्डा की कोटि मे आती है—

बोलो बच्चो आओ मिलकर
फिर वह गाना गाओ।
दुनिया भर के मजलूमों अब
आज एक हो जाओ।

हम मेहनतकश हमें कौनसी
ताकत रोक सकेगी ?
अच्छा हुआ रहे सब खण्डहर
दुनिया नई वसेगी।
लाल निशान लाल सैनिक
आंखो में लाल सरुर है।
दस हफ्ते दस साल बन गये
मास्को अब भी दूर है।

प्रगतिवाद के अन्य प्रसिद्ध कवियों मे डा० रामविलास शर्मा, नेमिचन्द जैन, भारत भूषण अग्रवाल, गजानन माधव मुक्तिवोध और त्रिलोचन शास्त्री का नाम आता है। नेमिचन्द, भारत भूषण एव मुक्तिवोध ने 'तार सप्तक' की भूमिका मे अपने को कम्यूनिस्ट घोषित किया है। भारत भूषण आधुनिक समाज के लिए मार्क्सवाद को 'राम वाण' मानते है। कही-कही अपनी रचनाओ मे वे नारेवाजी पर उतर आते हैं। 'लाल सेना का गीत', 'लाल निशान', 'खोलो सेकिंड फ्रन्ट' 'वढ़े चलो वहादुरो' शीर्षक रचनाएँ इसी कोटि मे आती है। नेमिचन्द्र की रचनाओं मे शोषित के प्रति संवेदना है अत. उसकी रचनाएँ अच्छी वन पड़ी हें—

कहीं चीख उठा
भोंपू किसी मिल का
चले मजदूर
कूड़े की वदवू भरी गलियों में
गंदी तंग चालों में
पशुओ की मांदों में
और पक्षियो के कोटरों से वदतर
घिनौने
उन घरो से निकसे।

निष्कर्पतः हिन्दी-प्रगतिवाद का काव्य मार्क्स के साम्यवाद का प्रचा-

सुख-दुःख, आशा-निराशा के घात-प्रतिघातों में बढ़ती हुई युग-जीवन के आँधी-तूफानो का सामना कर सके। नई कविता विश्व वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण करके तथा आज के प्रत्येक पल बदलते हुए युग-पट को अपने मुक्त छन्दो के संकेतो की तीव-मन्द गति-लय मे अभिव्यक्त कर युग-मानव के लिए नवीन भावभूमि प्रस्तुत कर रही है।"

प्रयोगवाद नाम आज की कविता के लिए सम्पूर्ण सार्थकता उपस्थित नही करता। अस्तु, इस धारा के कवियो ने स्वतः अपने काव्य को नई कविता कहना अधिक उपयुक्त समझ रखा है। इस धारा के प्रतिनिधि कवि 'अज्ञेय' है। 'अज्ञेय'के अतिरिक्त इस धारा से सम्बद्ध कवियो मे सर्वश्री कुँवरनारायण, केदारनाथ सिंह, मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, जगदीश गुप्त, जानकीवल्लभ शास्त्री, दुष्यन्त कुमार, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, बालकृष्ण राव, भवानीप्रसाद मिश्र, प्रयागनारायण त्रिपाठी, भारत भूषण अग्रवाल, मदन वात्स्यायन, महेन्द्र भटनागर, रघुवीर सहाय, राजेन्द्र किशोर, प्रभाकर माचवे, विजयदेव नारायण साही, रवीन्द्र भ्रमर, शम्भूनाथ-सिंह, शमशेर बहादुर सिंह, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है। इनमें कुछ के तो स्वतन्त्र काव्य-संकलन भी प्रकाशित है। परन्तु अधिकांश रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित हैं। 'नयी कविता', 'निकष', 'युगचेतना', 'कृति', 'आधार', 'दृष्टिकोण', 'पाटल', 'अपरम्परा', 'तार सप्तक' (तीन भाग) ने नई कविता को प्रकाशित करके उसके लिए अध्ययन-क्षेत्र प्रस्तुत किया।

नई कविता परम्परागत होते हुए भी नवीन आग्रहो से परिपूरित है। इस काव्य-धारा मे व्यष्टि, समष्टि, बुद्धि और कल्पना एव विश्व-व्यापक पद पर विचार-विश्लेपण की क्षमता दिखाई देती है। इस काव्य-धारा मे व्यक्तिवाद के अतिरिक्त समष्टि की भावना का भी निरन्तर ध्यान है। कुछ आलोचको ने इस काव्य-धारा को अभारतीय घोषित किया है क्योकि उन्हे इसमे अह के प्रकाशन की कुण्ठाजन्य मनोवृत्ति या मनःस्थिति मिलती है। स्पष्ट है कि आज मानव-समुदाय का प्रश्न हमारे सामने है न कि

व्यक्ति-विशेष की किसी एक इकाई का। इन कवियो पर फ्रायड के मनो-विश्लेषण का निश्चित रूप से प्रभाव है और वे चेतन-उपचेतन और अचेतन की गुत्थियो को समझने या सुलझाने मे मग्न है। फ्रायड के अनुसार ही सारे प्रकार के साहित्य और कला अमुक्त काम के परिणाम है। इन कवियो के मन मे जो कुण्ठा आई है उसीसे इनकी कविता ओत-प्रोत है,ऐसा कहा जा सकता है। लेकिन वस्तुत. यह वास्तविक स्थिति नही है। नया कवि बौद्धिक है उसके आग्रहो मे सामाजिक ईमानदारी का अभाव नहीं है। वह लघु मानव को प्रश्रय देता है। वह क्षण-परिवेश पर बल देकर जीवन के विभिन्न आयामों को काव्य-रूप देना चाहता है। यह उसकी काव्यगत सार्थकता है। वह समग्र मानवता के लिए सजग एव सवेदनशील है। नई कविता ने सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से भी एक नई दिशा का निर्देश दिया है। भाषा, शैली, छन्द, रस, अलकार सभी दृष्टियो से इन कवियो की अभिनव गतिविधि है। आज के कवि ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीनता के पिष्टपेषण में प्रेषणीयता नही है और न उनके रूढ प्रयोग से किसी प्रकार का रसास्वादन ही सम्भव है। अस्तु,अब कवि मुक्त है और उसे काव्य-भाषा शैली विषयक रूढि से चिपकने की कोई जरूरत नही है। कवियो ने भाषा-शैली विषयक बहुविधि नये प्रयोग किये हैं—

हम कुंज कुंज जमुना तीरे।

—'अज्ञेय'

गुनाहो से कभी मैली हुई बेदाग तरुनाई।
सितारों की जलन से बादलों पर आंच कब आई॥

काव्य मे रूढ उपमानो का परित्याग कर नया कवि नवीन उपमा एव उत्प्रेक्षा का आयोजन करता है—

चांदनी उस रुपये-सी है कि जिसमें
चमक है पर खनक गायब है।

नई कविता में गीत-रचना नही होती। इसका तात्पर्य यह नही कि नई कविता मे गीति के तत्व नही हैं। नई कविता मे नाद, बिम्ब और लय का

अभाव नहीं है। रस या साधारणीकरण की जगह पर नये कवि का आग्रह प्रेषणीयता और प्रभाव पर आ टिका है। छन्दो का वन्धन यहाँ भी नही है और निर्मुक्त रीति से अपनी भावनाओं के प्रतिपादन के लिए कवि का हृदय खुला हुआ है।

'अज्ञेय'ने तीन तार सप्तको का सम्पादन करके नई कविता के लेखको को हिन्दी-काव्य-जगत् के सामने उपस्थित किया है। इनकी कविताओं के कई संकलन भी प्रकाशित हो चुके है—'इत्यलम्', 'वावरा अहेरी', 'हरी घास पर क्षण भर' इत्यादि। वहुत से आलोचको ने 'अज्ञेय' के काव्य को वुद्धिग्रस्त माना है और उसमे भावात्मकता एव रागात्मकता का अभाव पाया है। 'अज्ञेय' की कुछ कविताएँ नि.संदिग्ध रूप से वडी ही अनूठी वन पड़ी है—

ये फूल कचनार के।
प्रतीक तेरे प्यार के।

'मै वहाँ हूँ' शीर्षक कविता मे 'अज्ञेय' ने श्रमजीवी की पीड़ा या व्यथा को काव्य रूप दिया है।

यह जो मिट्टी तोड़ता है
कोदई खाता है और गेहूँ खिलाता है
उसकी मैं साधना हूँ।
यह जो मिट्टी फोड़ता है
मत्तिया में रहता है और महलों को बनाता है।
उसकी मैं आस्था हूँ।
यह जो कज्जल पुता खानों में उतरता है
पर चमाचम विमानों को आकाश में उड़ाता है।
यह जो नंगे बदन दम साध पानी में उतरता है
और बाजार के लिए पानीदार मोती निकाल लाता है।
यह जो कलम घिसता है

घाकरी करता है पर सरकार को चलाता है
उसकी मैं व्यथा हूं ।

इस पर सांकेतिक दर्द को उभारने वाली कविताएँ संवेदना का सृजन करती है। 'अज्ञेय' की अधिकांश रचनाओं में बौद्धिकता के कारण सहज भावाभिव्यक्ति का अभाव है। यद्यपि उनमे काव्यात्मकता निश्चित रूप से है।

धर्मवीर भारती नई कविता की समुज्वल प्रतिभा है। भारती की प्रकाशित काव्य-रचनाएँ 'ठंडा लोहा' 'सात गीतवर्ष' एवं 'कनुप्रिया' हैं। भारती की प्रारम्भिक कविताओ से उनकी प्रेम की रूमानी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

ये शरद के चांद से उजले धुले से पांव
मेरी गोद में।
ये लहर पर नाचत कमल की छांव
मेरी गोद में।

× × ×

तुम्हारे स्पर्श की बादल धुली कचनार नरमाई
तुम्हारे वक्ष की जादूभरी मदहोश गरमाई
तुम्हारी चितवनो में नरगिसों की पांत शरमाई
किसी भी मोल पर मैं आज अपने को लुटा सकता।

'ठंडा लोहा' की प्रेम-प्रधान कविताओ को छोडकर जो नितान्त नई दृष्टि की कविताएँ हैं उनमे चिन्तन का प्राधान्य है। भारती एक निष्ठावान कवि है उनमें भावना, विश्वास और कल्पना की अद्भुत आयोजना हुई है। भारती का चिन्तन दार्शनिक नही, रूपात्मक एव प्रेमपरक है।

डा० जगदीश गुप्त 'नयी कविता' के सम्पादक हैं। डा० गुप्त की दो रचना-पुस्तके प्रकाशित है 'नाव के पांव' और 'शब्द दश'। कवि के अतिरिक्त डा० गुप्त एक सफल चित्रकार है। चित्रो को लिए जो प्रतीक या विम्ब डॉक्टर गुप्त ग्रहण करते हैं उन्हे काव्य-रूप भी देते है। उनकी प्रारम्भिक

कविताओं मे सौन्दर्य के प्रति आकर्षण दीख पडता है—

तरुनाई सी खिली जुन्हाई
घुले पुलक से प्रान ।
किसने चूमा चांद कि
मुख से मिटते नहीं निशान ।

जगदीशजी की बाद की कविताएँ भी चिन्तन प्रधान होती गई हैं । ब्रजभाषा-काव्य की-सी रीति मे काव्य-तत्व को अब तक पोषण प्रदान करने वाले कवियों में जगदीशजी का नाम सदा उल्लिखित होता है ।

शमशेर बहादुर सिंह की नई कविताओं में एक ओर प्रेम की अभिव्यंजना हुई है तो दूसरी ओर सामाजिक प्रतिक्रिया के प्रति जागरूक विद्रोह की । शमशेर की सक्षिप्त कविताओं में जो प्रतीकात्मता समाविष्ट होती है उसका महत्व अनुपम है ।

शम्भूनाथ सिंह नई कविता के एक प्रमुख कवि है । इनकी एक काव्य-रचना 'माध्यम मैं' प्रकाश में आई है । ये एक सिद्धहस्त गीतकार भी है यद्यपि इनके गीत का समस्त वातावरण नवीन अभिव्यंजना लिये हुए है—

मेरे मनका आकाश
उड़ा जा रहा
पुरवैया धीरे बहो ।

× × ×

टेर रही पिया तू कहाँ
किसके ये काँटे हैं
किसके ये पात रे
बौरी की काँटे है
केले के पात रे ।
विरम रहा पिया तू कहाँ ?

हिन्दी-नई कविता की उपलब्धियो और सम्भावनाओ पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि यह समस्त कविता समाजिक संदर्भ

मे लिखी हुई, उसके दर्द को उभारने वाली है। मानव-मूल्यो को प्रत्यावर्तन और क्षण-परिवेश की सार्थक आकलन की दृष्टि से इस काव्य-धारा का निश्चित महत्व है।

इधर हाल मे जनपदीय बोलियो का कई दृष्टियो से अध्ययन समारम्भ हुआ है। इससे निश्चित रूप से लोकगीतों, लोककथाओ, लोकोक्तियो, लोकगाथाओ और प्रदेशिकाओ का अध्ययन ललित साहित्य के दृष्टिकाण से उपादेय सिद्ध हुआ है। लोकसाहित्य के अध्ययन से एक ओर तो भाषा की समृद्ध परम्परा का अध्ययन होता है दूसरी ओर सास्कृतिक संस्कारों की ओर भी हमारी दृष्टि आकृष्ट हुई है। इधर हाल में लोकसाहित्य की उपयोगी थाती से अनुप्राणित हो विविध वोलियों के कवियो ने लोकगीत शैली मे चित्ताकर्षक काव्य-रचना प्रारम्भ की है जिसका भविष्य समुज्ज्वल है।

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकृत है इसके द्वारा उपयोगी साहित्य की सम्वर्द्धता अपेक्षित है। वहुत सी संस्थाओं एवं व्यक्तियों ने इतिहास, भूगोल, रसायन, ज्यामिति, ज्योतिष, दर्शन, राजनीति, अर्थनीति इत्यादि पर हिन्दी-साहित्य के माध्यम से कार्य किया है। साहित्य अकादमी की ओर से भी अनुवाद-कार्य की परम्परा पर वल दिया जा रहा है। विभिन्न समृद्ध भापाओ से अनुवाद-कार्य कर अपने हिन्दी-वाङ्मय का सम्पन्नीकरण अपेक्षित है। एतिहासिक दृष्टि से उन कार्यो का आकलन भी वाङ्मय की अभिवृद्धि मे श्रेयस्कर होगा।